वेदान्त केसरी कार्यालयके लिये मुद्रक, प्रकाशक—
पण्डित रामस्वरूप,
केसरी प्रेस, बेलनगंज—आगरा।

प्रस्तावना ।

मणिरत्नमाला अथवा प्रश्नोत्तरी का भारतवर्ष में सामान्यता से अधिक प्रचार है। इसके पद्य रोचक, हृदय में जाकर असर पैदा करने वाले और सब के लिये ही हितकर हैं। चमकते हुए मणि और रत्नों की माला के समान ये वचन ग्रथित किये होने से इसको मणिरत्नमाला कहते हैं, प्रत्येक पद्य में प्रश्न और उत्तर साथ में होने से प्रश्नोत्तरी भी कहते हैं। यह श्रीमत् शंकराचार्य का बनाया हुआ है इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध है।

यह पुस्तक भाषा अर्थ वाली और विवेचन वाली भी कई स्थान पर छपी है परन्तु सब से इसकी विलक्षणता प्रत्यक्ष मालूम होगी। मुमुक्षुओं को अत्यंत उपयोगी हो इस प्रकार से विवेचन दृष्टांत सहित लिखा गया है; इसके विचार से अन्तःकरण शुद्ध होकर जल्दी ज्ञान प्राप्त होगा।

पटने वाले रामगोपाल लक्ष्मीनारायण के फरम वाले स्वर्गस्थ लक्ष्मीनारायणजी की धर्म पत्नी ने इस पुस्तक के छापने में आर्थिक सहायता दी है। इसलिये हम आपका आभार मानते हैं। योग्य मनुष्यों को योग्य धार्मिक कार्य ही प्रिय होते हैं।

—ब्रह्मचारी विष्णु।

अनुक्रमणिका।

पद्यांक · पृष्ठ

॥ ॐ ॥

मणि रत्न माला ।

अपार संसार समुद्र मध्ये,
निमज्जतो मे शरणं किमस्ति ।
गुरो कृपालो कृपया वदैत-
द्विश्वेश पादांबुज दीर्घ नौका ॥१॥

अर्थः—शिष्य पूछता है कि, हे कृपालु गुरु ! यह संसार जो समुद्र के समान अपार है, इस संसार समुद्र में मैं डूब रहा हूँ, आप कृपा करके बताइये कि कौनसा उपाय करके मैं इसके पार जाऊँ ? तब गुरु कहते हैं कि विश्वेश के पद कमल रूप जो बड़ी नाव (जहाज़) है, उसमें बैठ जाने से तू पार हो जायगा ॥१॥

छप्पय ।

जगत समुद्र अपार, पार जिसका नहिं पाया ।
डूबत हुआ निराश, आश टूटी घबराया ॥
क्या क्या करूं प्रयत्न, यत्न कोई नहिं सूझत ।
शरण कौन की जाउ, पांउ लागत गुरु ! बूझत ॥
बोले गुरु करुणा निधी, शिष्य नहीं घबराइये ।
चरण कमल जगदीश के करि जहाज़ चढ़ जाइये ॥१॥

विवेचन ।

जैसे समुद्र का पार नहीं है, समुद्र के पार जाना कठिन है इसी प्रकार संसार भी समुद्र रूप है। संसार का पार भी दिखाई नहीं देता इसलिये वह भी अपार है। जैसे समुद्र में मच्छ, कच्छ, ग्राह, नक्र आदिक हिंसक जंतु हैं इसी प्रकार संसार में भी पंच विषय आदिक विक्राल जंतु हैं और शरीर रूप समुद्र में काम, क्रोध, मोह, लोभ आदिक भयंकर जंतु हैं जो रात दिन दुःख देते ही रहते हैं।

शंकाः—समुद्र का पार क्यों नहीं है? जहाज़ में बैठ कर दूसरे किनारे पर पहुंच जाते हैं। यदि एक ही दिशा में जहाज़ चलाया जाय तो कई मास में जिस स्थान से जहाज़ रवाना हुआ था वहां आजाता है इसलिये समुद्र की हद भी है इसलिये संसार से समुद्र की उपमा देना युक्त नहीं है। समुद्र में जल ही जल है ऐसा जल संसार में कहां है?

समाधानः—ऐसा न कहना चाहिये, समुद्र का पार नहीं है पृथ्वी की सब दिशायें समुद्र से घिरी हुई हैं; जो जो टापू (पृथ्वी) दीखते हैं वे समुद्र में ही हैं, समुद्र से बाहर नहीं हैं, उन टापुओं में जाना समुद्र से पार जाना नहीं हुआ। जो टापू समुद्र से घिरे हुए हैं उनको छोड़कर समुद्र की हद के बाहर जाया जाय तब समुद्र का पार होना कह सकते हैं, ऐसा हो नहीं सकता, इसलिये समुद्र अपार है। समुद्र की हद भी नहीं है क्योंकि उसका आदि, मध्य और अन्त देखने में नहीं आता। जो चक्राकार होता है

उसका आदि; मध्य और अन्त नहीं होता। समुद्र में इतने ही वजन का जल है ऐसा कोई माप नहीं सकता इसलिये समुद्र अमाप है। सामान्य बुद्धि से जहाज में बैठ कर समुद्र के पार जाना देखा और कहा जाता है, ऐसे सामान्य बुद्धि वाले को संसार समुद्र से पार जाने को विश्वेश पद कमल रूप दीर्घ नौका का कथन करेंगे। समुद्र में जैसे जल ही जल है इसी प्रकार संसार में माया रूपी जल ही जल है।

जब समुद्र में से किनारे पर जाते हैं तब जल से भिन्न प्रकार के, जल से वजन में हलके, ऐसे जहाज में बैठ कर पार जाते हैं तब संसार से पार होने के लिये संसार से भिन्न-संसार से हलका ऐसा कोई पदार्थ होना चाहिये। संसारी पदार्थों की बनाई हुई नाव में बैठ कर संसार से पार नहीं हो सकते। जप तप यज्ञादि शुभ कर्मों का भाव संसारी स्थूल पदार्थों से हलका है, उनके सहारे स्वर्गादिक लोकों में जा सकते हैं, परन्तु स्वर्गादिक भी संसार से बाहर नहीं हैं संसार से पार होने को एक ही पदार्थ के जहाज की आवश्यकता है। वह पदार्थ ऐसा होना चाहिये जो संसारी न हो।

सामान्य बुद्धि से जाना जाता है कि समुद्र से पार होने के लिये जहाज की आवश्यकता है। यदि जहाज न हो तो समुद्र में पड़ा हुआ मनुष्य किनारे पर नहीं जा सकता किन्तु समुद्र की प्रचंड तरंगों के झपेटे में फंस कर गोते खाता रहता है; इसी प्रकार संसार में पड़े हुए जीव भी प्रापंचिक सुख दुःख के अनेक चक्रों

में फंस रहे हैं उनको संसार से पार जाने के लिये समुद्र के समान जहाज़ चाहिये। जब तक जहाज़ न मिले, जब तक उसमें न बैठे तब तक जन्म मरणादि दुःखों का अनुभव होता रहता है। जहाज़ भी हो परन्तु उसका चलाने वाला मल्लाह न हो तो भी समुद्र से पार नहीं उतर सकते। इसी प्रकार संसार समुद्र में से पार उतारने का जहाज़ विश्वेश के पद कमल बतलाये हैं परन्तु वहां भी मल्लाह रूप सद्गुरु की आवश्यकता है। विश्वेश के पद कमल रूपी जहाज़में बैठा कर पार उतारने वाला एक सद्गुरु ही होता है, प्रथम तो वह जहाज़ किस प्रकार का है इसकी खबर ही नहीं पड़ती और उस जहाज़के चलाने की चाबी भी उन सद्गुरुके हाथ में ही होती है। समुद्र में भारी २ तरंगें होती हैं उसमें चलने वाला जहाज़ भी भारी होता है और उसमें बैठा कर पार ले जाना सामान्य मनुष्य का काम नहीं है जो जहाज़ के कल पुरज़ों को अच्छी प्रकार जानता है ऐसा चतुर नाविक ही तारने वाला होता है। वह ही संसार समुद्र से पार करने वाला मल्लाह सद्गुरु है।

जीव महा मोह रूप प्रबल माया से घिरा हुआ है। जब कई जन्मों में शुभ संस्कार बलिष्ट हो जाते हैं तब उसे अपने कल्याण की इच्छा होती है। वारंवार संसार का भोग भोगते हुए जब तृप्ति नहीं होती तब वैराग्य होना संभव है और जब जीव संसार से पार होना चाहता है तब अनेक प्रकारकी क्रियाएं मंत्र जाप, देव देवियों के अनुष्ठान करते हुए भी वह संसार समुद्र से पार होने में अशक्त होता है। उसके किये हुए शुभ कर्मों से

उसका अंतःकरण कुछ शुद्ध होता है इसलिये वह अपनी बुद्धि॰ का भरोसा छोड़कर अन्य की शरण में जाना चाहता है। इस प्रकार पूर्ण श्रद्धा से ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना उसका शिष्य भाव है। ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु परब्रह्म से अभिन्न भाव वाला होता है, वह ही सदुपदेश देकर योग्य शिष्य को संसार से निवृत्त करा सकता है। जो संसार से बाहर खड़ा हुआ है वह ही दूसरों को संसार से बाहर कर सकता है। सद्‌गुरु का भौतिक शरीर और चेष्टा संसार में दीखती है परन्तु आंतरिक बोधसे वह संसार के बाहर खड़ा होता है। वह कहने मात्र ही ब्रह्मनिष्ठ है वास्तविक परब्रह्म ही है।

शंका:—ऐसा क्यों ? वह भी तो हमारे ही समान है ! खाना पीना भोगादिक हमारे ही समान करता है तब वह परब्रह्म किस प्रकार है ? परब्रह्म को तो व्यापक सुना है और सद्‌गुरु जिस को तुम परब्रह्म कहते हो वह तो परिच्छिन्न है।

समाधान:—सब जगत् संकल्प से है। जो संकल्प दृढ़ीभूत हुआ है, उसका ही सब संसार चित्र है। जब उस संकल्प का भाव नहीं रहता और स्वस्वरूप को जानता है तब कल्पित जगत् के भाव से निवृत्त हो जाता है। जैसे परब्रह्म सामान्य सत्ता है ऐसे वह भी सामान्य सत्ता को प्राप्त हुआ होता है। संकल्पित पदार्थों के भासने से जैसे परब्रह्म का विरोध नहीं है वैसे ही वह भी दृश्य जगत् की वस्तुओं के अभाव की अपेक्षा वाला नहीं है। पूर्व कर्म अर्थात अज्ञानियों को भुलानेवाली

ज़ो वस्तुयें मालूम होती हैं वे उसको वैसी नहीं मालूम होतीं। ऐसी अवस्था में वह जीवन्मुक्त कहलाता है। दूसरेके भावसहित देखने में आता हुआ उसका प्रारब्ध अज्ञान रूप मूल के नाश होने से नाश को प्राप्त होगया है इसलिये वह परब्रह्म ही है। अज्ञानियोंकी दृष्टि मात्र शरीरके ऊपर होती है, उसके भाव-स्थिति के ऊपर नहीं होती। अज्ञानी मात्र पंच भौतिक शरीर को देखता है इसलिये उसे परिच्छिन्न मानता है परन्तु वास्तविक वह परिच्छिन्न नहीं है किन्तु अपने स्वरूप से व्यापक ही है।

शंकाः—विश्वेश पद कमल ऐसा जो संसार समुद्र में से पार ले जाने वाला जहाज बताया है, वह क्या है? विश्व जगत् को कहते हैं और जगत् का जो ईश है उसके पद कमल कहे हैं। विश्व का ईश-पति जिसको विश्वेश कहते हैं वह विश्व से भिन्न नहीं हो सकता किंतु विश्व से सम्बन्ध वाला ही होता है जो उसको परब्रह्म माने तो परब्रह्म के पैर कहां हैं, जो पद रूप कमल की उपमा दी जाय? इसलिये विश्वेश कोई ऐसा होगा जो हमारे समान शरीरधारी हो और विशेष ऐश्वर्य सम्पन्न होने से संसार का राज करता हो, अमुक स्थान का निवासी हो, वह कौन है? उसको किस प्रकार जानना चाहिये? क्या उसका पैर इतना बड़ा है कि जहाज के समान हम उसमें बैठ सकें? वह पैर रूप जहाज किस स्थान से किस स्थान पर ले जायगा?

समाधानः—विश्व ही जिसकी ऐश्वर्यता है वह विश्वेश है। विश्व का जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण है वह विश्वेश है।

जिस अधिष्ठान में दृश्य ब्रह्मांड अध्यस्त है वह विश्वेश है। जो जगत् को चैतन्य भाव से बनाने वाला है वह निमित्त और जिस मायिक विशेष अंशसे जगत् बना है, वह उपादान है। इस प्रकार दोनों कारण जिस एक में हैं वह विश्वेश है। अधिकारी के भेद से समझाने के लिये कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म दो प्रकार का ब्रह्म कहा है; इन्हीं को निर्गुण और सगुण ब्रह्म भी कहते हैं। विश्वेश पद का अर्थ दो प्रकार के अधिकारी भेद होते हुए भी ब्रह्म ही करना चाहिये। कमल सूर्योदय में विकसित होता है और सूर्यास्त में मुँद जाता है इसलिये विश्वेश के पद को कमल की उपमा देकर यह सिद्ध किया है कि उसमें सृष्टि का दृश्य और लय दोनों होते हैं, दृश्य और लय विश्वेश के पाद हैं। पाद कहने से मात्र पैरों का ही अर्थ नहीं है। जैसे शरीर का एक किंचित् अंश पैर होते हैं इसी प्रकार विश्वेश के किंचित् अंश में जगत् की स्थिति और लय हैं। अंश अंशी भाव ब्रह्म में नहीं है। मायिक तुच्छता समझाने के लिये अंश अंशी भाव कहा है। कारण ब्रह्म जगत् से सम्बन्ध वाला नहीं है और कार्य ब्रह्म माया सहित समझाने के लिये कहा है, वह भी सम्बन्ध वाला नहीं है। जैसे स्फटिक के ऊपर रक्खे हुए गुडहर के पुष्पों से लाल दीखने लगता है ऐसा दीखने वाला कार्य ब्रह्म है। परब्रह्म के पैर आदिक अंश नहीं हैं परन्तु तू पैर वाला होकर पूछ रहा है इसलिये पैर वाला कह कर तुझे समझाया जाता है, वह तेरे समान शरीर वाला नहीं है। शरीरधारी को देहाध्यास तीव्र होता है, उस जैसों को सब ब्रह्मांड ईश्वर का शरीर है—वैराट् शरीर है, उपासना के

निमित्त ऐसा कहा गया है। जो ब्रह्मांड ही उसका शरीर है तो ब्रह्मांड में कोई अमुक स्थान ही उसके रहने का है ऐसा कहा नहीं जा सकता। विश्वेश से संसार कार्य होता है तो भी विश्वेश को संसार नहीं है और संसार विश्वेश का भी नहीं है। उसको जानने के लिये सद्गुरु की शरण होना चाहिये। जो जैसा अधिकारी है, उसको उसके अधिकार के अनुसार उपदेश करके गुरुदेव ही ठीक २ समझा सकता है। उसका पैर वहुत ही बड़ा है। उसमें सब ब्रह्मांड है, उसमें होती हुई संसार की स्थिति और लय रहित होजाना ही, उसमें बैठना है। वह ऐसा विलक्षण जहाज़ है कि उसमें बैठते ही तत्क्षण पार होजाता है, जहाज़ को चलना भी नहीं पड़ता और न एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने को उस जहाज़ के लिये स्थान है।

संसार संसरण—चलने को कहते हैं। चलना दोनों पैरों से होता है। वे दोनों पैर जीव के राग और द्वेष हैं। जब तक राग और द्वेष हैं तब तक ही चला जाता है। जब जहाज़ में बैठते हैं तब दोनों पैर पृथ्वी पर से उठाकर जहाज़ में रख देते हैं इसी प्रकार राग और द्वेष दोनों भाव अपने में से निकाल कर जो कुछ है, होता है और होगा वह सब ही परब्रह्म का पाद रूप है इस प्रकार का भाव अन्तःकरण में ठीक २ आजाना और अपना क्षुद्र व्यक्ति भाव छोड़ देना ही जहाज़ में बैठना है।

उपाधि चलती है, तत्त्व अचल है, उपाधि को तत्त्व समझने वाला अज्ञानी जीव है, अज्ञान का ही चलना फिरना है। जहाज़

में बैठना ज्ञान है, उसमें बैठ कर फिर चलना नहीं होता इसी प्रकार परब्रह्म के पाद रूप जहाज में बैठने के पश्चात् हमको स्वयं कुछ कर्तव्य नहीं रहता। जो कुछ कर्तव्य है वह जहाज का और मल्लाह का ही है। वह कर्तव्य भी अज्ञान की दृष्टि में ही है। ब्रह्म रूपी जहाज व्यापक होने से परमानन्द स्वरूप है, कर्तव्य शून्य है।

ऊपर दर्शाई हुई सूक्ष्मता को समझना चाहिये कि जैसे जहाज समुद्र से पार नहीं जाता इसी प्रकार विश्वेश का पाद रूप जहाज भी संसार से पार नहीं जाता। विश्वेश का पाद संसारी लक्ष्य में है किन्तु उसमें इतनी विशेषता है कि उसका संसारी भाव निवृत्त होकर तत्त्व ही रह जाता है वह ही तत्त्व रूप स्थिति वास्तविक पार होना है जो गुरु कृपा से प्राप्त होता है।

मंद अधिकारियों के निमित्त पुराणोक्त उपासना आदिक अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु होता है। जो सकाम किये जांयगे तो शुभ कर्मों का फल भौतिक सुख की प्राप्ति होगी और वे ही कर्म निष्काम करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। निषिद्ध कर्म से विहित सकाम कर्म भी अच्छा है और निष्काम कर्म उससे भी अच्छा है। उपासना का दूसरा नाम भक्ति है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास भाव, सखा भाव और आत्म समर्पण ये नवधा भक्ति कही जाती है। यह सगुण की होती है। किसी भी सगुण-साकार ईश्वर में, प्रतिमा में, अथवा गुरु में उसका उपयोग होता है। वह भी फल

दायक होती है और निश्चय सहित की हुई ज्ञान प्राप्ति का हेतु भी हो सकती है।

जिसकी जितनी दृढ़ श्रद्धा होती है उसका अधिकार उतना ही उच्च होता है। जिसका जितना अंतःकरण शुद्ध होता है उतनी ही उसकी श्रद्धा होती है। श्रद्धा वाला ही शिष्य हो सकता है। जिसमें श्रद्धा नहीं है, वह शिष्य नहीं है और उपदेश का अधिकारी भी नहीं है। प्रत्येक कार्य में श्रद्धा की आवश्यकता है तब संसार से निवृत्त होने रूप महान् कार्य में वैसी ही महान् श्रद्धा होनी चाहिये। जो जैसी श्रद्धा वाला है वह वैसा ही पुरुष होता है, यहां तक कि मुक्ति की श्रद्धा वाले को मुक्ति और बंधन की श्रद्धा वाले को बंधन होना संभव है। आत्म प्राप्ति के निमित्त इस प्रकार दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये।

धर्मदत्त नाम का एक पंडित था। वह विद्वान् था, व्यवहार में भी कुशल था और अध्यात्म विद्या का ज्ञाता था। उसके पास बहुत से मनुष्य आत्म बोध के निमित्त आया करते थे। वह अधिकार के समान शिष्य भाव वाले को उपदेश देकर अध्यात्म मार्ग में ले जाता था। समय की बलिहारी! यथार्थ शिष्य भाव वाला कोई भी उसके पास न आने पाया! उसकी स्त्री का नाम सरला था जो नाम के समान अत्यंत सरल और पति भक्ति में पूर्ण थी। पति को ही ईश्वर समझ कर उसकी इच्छानुसार सब व्यवहार यथा योग्य किया करती थी। एक दिन पंडित को विचार हुआ कि अपनी स्त्री की परीक्षा लेकर देखना चाहिये। संभव है

कि यह पूर्ण शिष्य भाव वाली निकल आवे। एक दिन सरला देवी दोपहर के बारह बजे के समय घर के नित्य कार्य से निश्चिंत होकर एक कपड़ा सीने को बैठी थी, धर्मदत्त पंडित भी पास ही बैठा हुआ था। जिस स्थान पर वे दोनों बैठे थे वहां बहुत प्रकाश था। सीते सीते सुई का धागा समाप्त हो गया तब सरला सुई को एक तरफ पृथ्वी में रख कर धागा निकालने लगी। जिस समय उसकी दृष्टि धागा निकालने में थी उसी समय पंडित ने चुपके से सुई उठा ली। सरला देवी ने जहां सुई रक्खी थी वहां देखी तो सुई न दीखी। वह इधर उधर सुई ढूंढने लगी, उसे ढूंढती देख कर पंडित ने कहा "क्या ढूंढ रही है ?" सरला ने कहा "सुई ढूंढ रही हूँ, यहां रक्खी थी, मिलती नहीं है !" पंडित ने कहा "मूर्ख ! अँधेरे में सुई कैसे मिलेगी ? बत्ती जला कर देख।" सरला देवी दोपहरी में ही किसी प्रकार विचार न करके उठी, तेल का दिया जला लाई और सुई ढूंढने लगी। थोड़ी ही देर पीछे पंडित ने कहा "तुझमें बुद्धि नहीं है। घर में सुई कहां से मिलेगी ? आंगन में जाकर ढूंढ।" सरला ने कुछ न कहा और दीपक लेकर, घर के बाहर आंगन में जाकर सुई ढूंढने लगी। थोड़ी देर में पंडित भी उसके पीछे गया, सुई पृथ्वी में पटक कर बोला "तू अँधी ही है, बत्ती लेकर सुई ढूंढ रही है तब भी तुझे सुई नहीं मिलती। (सुई को दिखला कर) देख, यह क्या पड़ी है।" सरला देवी ने सुई उठा ली और बत्ती रख कर कपड़ा सीने लगी। उसने पति से यह भी नहीं पूछा कि मैंने सुई इस स्थान पर रक्खी थी, यहां कैसे आ गई। जब पति ने अँधेरा

बताया तो उसने न कहा कि अँधेरा कहां है, उजाला है। पति की आज्ञानुसार विना विचार किये दीपक जला कर देखने लगी। जब पति ने कहा बाहर ढूंढ, तब भी यह न कहा कि मैं यहां बैठ कर सीती थी, मैंने यहां ही सुई रक्खी थी, बाहर आंगन में कैसे मिलेगी। बाहर ढूंढने से जब मिल गई तब भी यह न कहा कि सुई बाहर किस प्रकार आ गई। इस बात को दो दिन हो गये परन्तु उसने पति से कुछ भी न पूछा। पंडित समझ गया कि आज्ञांकित-शिष्य भाव की यह सचमुच एक नमूना है।

गुरु के प्रति इस प्रकार का जिसका दृढ़ शिष्य भाव होता है और जिसको गुरु की आज्ञा और कथन में किंचित् मात्र सन्देह-शक नहीं होता, जो गुरु कहता है वह ही सत्य है ऐसा मानने वाला ही शुद्ध अंतःकरण वाला शिष्य होता है। ऐसे शिष्य को उपदेश मात्र से ही आत्मबोध हो जाता है। वही सब से उत्तम अधिकारी है।

गुरु भी शास्त्र का ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। वह ही शास्त्र ज्ञान से जगत् के दुःखों की अत्यंत निवृत्ति और ब्रह्म निष्ठता से परमानन्द की प्राप्ति कराता है। गुरु अहेतुक करुणा करने वाला होता है। उसकी करुणा सब में सामान्य होती है। जो जैसा अधिकारी होता है इतना ही वह उसकी करुणा का अधिकारी होता है। गुरु की करुणा समान ही होती है विषमता अधिकार की है। ईश्वर से भी गुरु की विशेषता है क्योंकि ईश्वर तो मात्र सुनने में आता है और गुरु प्रत्यक्ष विद्यमान्

होता है। ईश्वर स्वयं आकर कुछ उपदेश नहीं देता, जब किसी को उपदेश देना होता है तब गुरु के सहारे से ही दिलवाता है। गुरु उपदेश देने वाला है इसलिये गुरु की ईश्वर से विशेषता है। वस्तुतः दोनों अभेद हैं।

गुरु साक्षात् विश्वेश्वर हैं, निश्चित् ब्रह्म में स्थापित करने वाला है। गुरु के चरणारविंद का जल चन्दन युक्त करके अपने मस्तक पर धारण करे, ऐसा करने से अक्षयता को प्राप्त होता है। अज्ञान रूप अंधेरे का नाश करके प्रकाश करने वाला सद्-गुरु ही है, जो इस प्रकार नहीं करता वह गुरु नहीं है। जिसने यथार्थ गुरु की शरण ली है, वह ही संसार समुद्र से पार होता है। विश्वेश का पद कमल उसका पद कमल ही है। सब की गुरु से ही गति हुई है। गुरु चाहे पूर्ण उपदेश देनेवाला हो, चाहे सहज संकेत (इशारे) रूप हो।

गुरु उपदेश के अनुसार गृहस्थ मनुष्य को भी ब्रह्मनिष्ठ और तत्त्व ज्ञान परायण होना चाहिये। जो जो कर्म करने में आवें वे सब ब्रह्मार्पण करने चाहिये।

कोई एक योग्य शिष्य योग्य गुरु के समक्ष आत्म ज्ञान के हेतु कई प्रश्न पूछता है। उसके अत्यंत सार गर्भित और सूक्ष्म उत्तर दयालु गुरुदेव देते हैं। प्रश्नोत्तर रूप से इस सद्ग्रन्थ की योजना है। ज्ञान के अधिकारियों को जानने योग्य ग्रन्थ के चतुष्ट अनुबंध भी इस प्रथम छन्द में हैं। अनुबंध चार हैं:-अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। संसार ताप से तपा हुआ जिसने

अंतःकरण शुद्ध कर लिया है, जिसको परम पद की प्राप्ति की दृढ़ इच्छा है ऐसा शिष्य अधिकारी है। शिष्य गुरु और जीव ईश्वर की एकता रूप विषय है। गुरु कृपा जो अज्ञान को निवृत्त कराने वाली और ज्ञान को प्राप्त कराने वाली है वह संबंध है। परम पद-परम शांति इस ग्रन्थ का सर्वोच्च फल-प्रयोजन है ॥१॥

बद्धो हि को यो विषयानुरागी,
को वा विमुक्तो विषये विरक्तः।
को वाऽस्ति घोरो नरकः स्वदेह-
स्तृष्णाक्षयः स्वर्ग पदं किमस्ति ॥२॥

अर्थः-प्रश्नः-बद्ध कौन है? उत्तरः-जो विषयों में अनुराग वाला है। प्रश्नः-विशेष मुक्त कौन है? उत्तरः-जो विषयों से विरक्त है वह। प्रश्नः-घोर नरक कौनसा है?. उत्तरः-अपना देह। प्रश्नः-स्वर्ग पद कौनसा है। उत्तरः-तृष्णा का नाश ॥२॥

छप्पय।

बद्ध कौन कहलाय, भोग विषयन अनुरागी।
कौन जानिये मुक्त, युक्त विषयन का त्यागी॥
कौन नरक है घोर, छोर दुःख का नहिं जिसमें।
घोर नरक निज देह, दुःख दारुण है तिसमें॥
स्वर्ग कौन कहलाय है, जाय जहां सुख पाय नर।
होय चित्त तृष्णा रहित, कहत स्वर्ग सो विज्ञवर॥२॥

विवेचन ।

विषयों में प्रेम करने से बंधन को प्राप्त होते हैं। विषय क्या हैं? उनमें प्रेम किस प्रकार होता है? और उनसे होने वाला बंधन किस प्रकार का है? ब्रह्मांड भर में पांच प्रकार के विषय हैं, उन्हीं पांच विषयों में सबको प्रेम होता है। जगत् पंच महाभूतों का बना हुआ है, उन्हीं पंच महाभूतों में से एक एक की विशेषता से पांचों विषय उत्पन्न हुए हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पंच महाभूत हैं, जिनसे गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पांच विषय क्रम से उत्पन्न हुए हैं। जीवात्मा इन पांचों विषयों को पंच महाभूतों से उत्पन्न हुई पांच इन्द्रियों से ग्रहण करता है। नासिका से गंध को, जिह्वा से रस को नेत्र से रूप को, चमड़ी से स्पर्श को और कान से शब्द को आसक्त होकर ग्रहण करता है। यह आसक्ति आसक्ति करने वाले को बंधन में डालती है। आसक्ति प्रेम को कहते हैं; विषयों को पकड़ने में भीतर जो चिकनाई है, वह ही आसक्ति है। आसक्ति जीवात्मा को विषयों के साथ दृढ़ता से जोड़ती है। वह आसक्ति अहंभाव-अहंकार से होती है। मैं देह हूं, मैं स्थूल हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं गोरा हूं, यह शरीर मेरा है, मैं काना हूं, मैं बहरा हूं, मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, इत्यादि प्रकार का देह में अहं और मम भाव बंधन कहलाता है। ऐसे बंधन के भाव से अनेक प्रकार की योनियों में अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार जन्म धारण करना पड़ता है, जन्म धारण करके मरण

पर्यंत अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। जहां अनेक कष्ट भोगे जांय ऐसे स्थान को बंधन कहते हैं, कोई रस्सी का बंधन नहीं है। अपने भाव का ही भारी रस्सा बन जाता है और उस रस्से से संबंध होने से संबंध वाले को बंधन होता है। संसार ही बंधन स्वरूप है।

शंका:—संसार बंधन है और संसार से रहित और कोई स्थान दिखाई नहीं देता तो संसार को बंधन किस प्रकार कहते हैं? संसार में सब स्वतंत्र वर्तते हैं। जो अपने ही अनुराग से विषयों के प्रेम से बंधन होता हो तो जीव ऐसा क्यों करता है? यदि विषयों के अनुराग से बंधन होता है तो ऐसे विषयों को ईश्वर ने क्यों रचा है, विषयों से निवृत्त कराने के लिये ईश्वर अपना भजन कराता हो तो क्या ईश्वर लालची है?

समाधान:—आसक्ति सहित विषयों की तरफ संसरना-चलना संसार है। बाहर का संसार जो देखने में आता है वह भीतर के संसार की छाया है। स्वरूप के अज्ञान से विषयों की तरफ संसरना-चलना होता है, वह संसरना आंतर में है। जो अंतःकरण आसक्ति रहित है और जहां केवल भोग होता है वह मुक्त स्थान है। संसार इसलिये बंधन रूप है कि कर्मों का भाव दृढ़ भूत है इस भाव से न चाहते हुए भी जीव को दुःख भोगना पड़ता है। इस प्रकार की परतंत्रता बंधन रूप है इसलिये अज्ञानी जीव को आसक्ति-अनुराग वाला संसरना-संसार बंधन है। पूर्व कर्म के भोग में प्रत्येक परतंत्र है परन्तु जो जीव उस

भोग की परतंत्रता को अपनी मानता है वह ही बंधन में है और ज्ञानी यह समझता है कि अज्ञान के कर्मों का भोग अज्ञान वाले को ही हो सकता है। कूटस्थ प्रत्येक अवस्थामें निर्विकार है इस-लिये मुक्त है, बंधन में दीखता हुआ भी बंधन से मुक्त है। ईश्वर ने जो विषयों को सृजा है सो अपनी महत्त्वता दिखलाने अथवा अज्ञानियों से खुशामद कराने के लिये नहीं सृजा है किंतु ईश्वर का सृष्टि कर्तापना और सृष्टि में विषयों को उत्पन्न करना समग्र जीवों के कर्म के भोग निमित्त है। सब जीवों के कर्म फल के भोग निमित्त से ही ईश्वर सृष्टि रचने वाला है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांच विषयों में ही जीवों का भोग है और भोग के साथ अनुराग-आसक्ति रखने से वे ही विषय विष के समान दुःख देने वाले, वारंवार मारने वाले हो जाते हैं यह ही बंधन है। पंचभूत के विषयों को पंचभूत की पंच ज्ञानेन्द्रियां भोगती हैं। आकाश के शब्द को आकाश का करण श्रोत्र, वायु के स्पर्श को वायु का करण त्वचा, अग्नि के रूप को अग्नि का करण नेत्र, जल के रस को जल का करण जिह्वा और पृथ्वी के गंध को पृथ्वी का करण नासिका ग्रहण करता है तब जीव का उनके साथ अनुराग करना वृथा है। वह दूसरे की वस्तु को ग्रहण करता है और झूंठ मूंठ के बने हुए जीव के अभिमान से उन्मत्त की समान फूल कर अपना भोग मानता है, यह ही उसका बंधन है। जैसे बैल भरी हुई गाड़ी को खींचता है और गाड़ी के पीछे बंधा हुआ कुत्ता इतनी भरी हुई

गाड़ी को मैं ही खेंचता हूं ऐसा अभिमान करे ऐसा ही जीव का हाल है। जब तक जीव को अपना और मायिक कार्यों का बोध नहीं होता तब तक वह अनुराग किया करता है और अनुराग के फल बंधन को सहता रहता है।

शंका:—विषय प्रत्येक में समान है, विषयों से जगत् है, तब जगत् में रहते हुए विषयों का अनुराग किस प्रकार छूट सकता है? यदि विषय छोड़ दिये जांय तो फिर जीव का कोई अव-लम्बन ही नहीं रहता। विषय छोड़ देने से विषय निरर्थक हो जांयगे और व्यवहार की व्यवस्था भी नहीं रहेगी।

समाधान:—विषय प्रत्येक में समान हैं परन्तु प्रत्येक में एक ही प्रकार का अनुराग नहीं है। एक विषय में एक की प्रीति होती है, उसीमें अन्य की अरुचि और द्वेष होता है। इतना ही नहीं किंतु एक विषय में आज प्रीति होती है, कल उसी विषय में अप्रीति हो जाती है इसलिये विषय समान होते हुए भी अनुराग समान नहीं है। अनुराग बदलने वाली वस्तु है, उसी को बदलने की आवश्यकता है, विषयों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। विषयों को भोग रूप से सेवन करना चाहिये आसक्ति रूप से नहीं। अनुराग छोड़ देने से विषयों की निरर्थकता नहीं होती और व्यवहार की हानि भी नहीं होती। जीव को विषय छोड़ने पर दूसरा अवलम्बन चाहिये यह तेरा कहना आरम्भ में ठीक है। अष्टावक्रजी ने अपनी गीता में आरम्भ में ही यह कहा है:—हे तात! जो तुझे मुक्त होने की अभिलाषा हो तो तू पांचों

विषयों के अनुराग को विष समान समझकर छोड़ दे क्योंकि वे ही पांच बंधन के रस्से हैं। कैदखाने में जाने वाले सामान्य कैदी को एक ही रस्सी से बांधा जाता है, पंच भौतिक भाव वाला जीव पांच रस्सों से बंधा है। इन पांच विषयों के अनुराग के बदले क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत समझकर अनुराग सहित सेवन कर। वह अनुराग बंधन करने वाला नहीं है। जो बंधन को तोड़ने निमित्त किया जाता है वह बंधन तोड़ने रूप अपना कार्य कर आप समाप्त हो जाता है।

शंकाः—शरीर पंच भूतों का बना हुआ है। पांचों विषयों में से एक एक की एक एक भूतों से उत्पत्ति है। इसलिये जो पंच भूत हैं वे ही विषय हैं और जो विषय हैं वे ही पंच भूत हैं; इसलिये विषय छोड़ने से शरीर छूट जायगा और जब शरीर छूट जायगा तब ही विषय छूटेंगे। जब शरीर ही छूट गया तब फल किसको होगा?

समाधानः—जो तत्त्वज्ञ पुरुष है, वह विषयों में राग द्वेष छोड़कर प्रवृत्त होता है। अज्ञानी मनुष्य राग द्वेष नहीं छोड़ सकता। राग द्वेष छोड़कर विषयों में प्रवृत्त होने से विषयों का स्वरूप नष्ट नहीं होता परन्तु मरे हुए के समान होने से वे विषय ज्ञानी को हानि नहीं पहुँचा सकते। और जब तक ज्ञानी का प्रारब्ध शेष है तब तक उसका शरीर भी सर्प की केंचुली के समान दूसरों को क्रिया करता दीखता है परन्तु वह शरीर ज्ञानी की आसक्ति के हेतु रूप भाव से नहीं होता। पंचभूत के विषय

और शरीर है परन्तु विषयासक्ति छोड़ने में तू शरीर छूटने की शंका क्यों करता है? शरीरासक्ति ही तुझको विषय नहीं छोड़ने देती। तू शरीर को आत्मा मानता हो तो तेरा ऐसा मानना मिथ्या है। विषयासक्ति छोड़ने का फल शरीर को नहीं होता, फल भोक्ता जीव है। विषयों की आसक्ति मात्र छोड़नी है, उसमें शरीर छूटने का संभव नहीं है और प्रारब्धानुसार भोग समाप्ति से शरीर छूटेगा तो भी ज्ञानी को शरीरासक्ति न होने से कभी दुःख नहीं है।

विषयासक्ति के कारण से मृग, गज, पतंग, मछली और भ्रमर नाश को प्राप्त होते हैं यह हर एक देखता है। इन पांचोंमें एक एक विषयकी अधिकता है। जिसमें जिस विषयकी अधिकता होती है वह उसीमें बंधकर मरता है। मनुष्य में पांचों विषय की अधिकता है तब विषयासक्ति बंधन में क्यों न डाले?

इसी प्रकार जा विषयों से विरक्त है, विषयों में से जिसका रस चला गया है, जिसका विषयों के सेवन में प्रेम नहीं है वह ही बंधन से मुक्त है, अथवा होता है। जिससे बंधन होता है यदि वह न हो तो बन्धन न हो और जब वन्धन न हो तब बन्धन से मुक्त है। विमुक्त, त्यागी, अतीत, वैरागी आदिक उसके पर्याय हैं।

विषयों में स्वयं आकर्षण शक्ति नहीं है। उनकी तरफ अनु-राग होना ही उनके सेवन में हेतु है। इसलिये विषयासक्ति का त्याग करने वाला ही त्यागी है, सब से परे गया हुआ अतीत है,

वह ही विषयों के बन्धन से मुक्त है। जब आत्मज्ञान में स्थिति होती है तब विषयों का बन्धन छूट जाता है। विषयोंके बंधन से ही शरीर की प्राप्ति है जब विषयों के समूल बंधन से निवृत्त हो जाता है तब भविष्य शरीर धारण का हेतु भी नहीं होता। शुद्ध अंतःकरण वाला मुमुक्षु क्रमशः विषयासक्ति को छोड़कर ज्ञानी होता है।

विषयासक्ति जगत् व्यवहार में भी हानिकारक है। विषयासक्ति से नारद बन्दर मुख बने, रावण का नाश हुआ, कौरवों का निकंदन भी इसीसे हुआ, निर्मलचन्द्र इसी कारण से कलंकित हुआ और नहुष सर्प योनि को प्राप्त हुआ इत्यादिक इतिहास में अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। विषयासक्ति के त्याग से आनन्द होने का एक दृष्टांत इस प्रकार है:—

उजैनी नगरी में भद्रसेन नामक एक वैश्य था, भद्रा नाम की उसकी एक पुत्री थी। जब वह पाठशाला में पढ़ती थी तब एक और वैश्य का पुत्र जिसका नाम रतनचन्द्र था, उससे उसकी मित्रता हो गई। नादान होने के कारण वे दोनों प्रेम रहस्य से अज्ञात थे। नित्य का सहवास होने से दोनों दिल खोल कर बातचीत किया करते थे। वे दोनों पवित्र रहते थे और बड़ों की सम्मति से लग्न संबन्ध चाहते थे। एक दिन दोनों स्नेह गोष्ठि की लपट में थे, उस समय भद्रा ने रतनचन्द्र से बिना विचारे एक वचन कह दिया:—

भद्रा—अपने पिता की आज्ञा मिलते ही मैं तेरे साथ लग्न करूंगी। तू कुलहीन है इसलिये यदि मेरा पिता तेरे साथ विवाह

न करेगा तो भी मैं प्रथम संसार सुख तुझे ही दूंगी पश्चात् पति की शय्या पर जाऊंगी।

प्रसंग ऐसा बना कि भद्रा की इच्छा न होते हुए, उसी शहर के एक साहूकार के पुत्र राजभद्र के साथ भद्रा का विवाह हुआ। भद्रा अपने मन में विचारती थी कि संसार सुख की प्रथम रात्रि रतनचन्द्र को किस प्रकार दूंगी। विवाह के बाद प्रथम रात्रि को राजभद्र ने भद्रा को उदास देखकर उसका कारण पूछा और भद्रा ने वचन देने की यथार्थ बात कह दी यह सुन कर राजभद्र चकित हुआ। भद्रा के सत्य वचन से उसके दिल में क्रोध न उत्पन्न होकर अपूर्व असर उत्पन्न हुआ और उसने भद्रा को वचन पालने जाने के लिये आज्ञा दे दी। उस समय वर्षा हो रही थी। भद्रा दुखी होकर बोली "आपकी उदारता को धन्य है परन्तु शोक यह है कि इस वर्षा में रतनचन्द्र के पास कैसे जाऊँ" राजभद्र ने कहा—"कुछ चिन्ता नहीं है मैं अपने कंधे पर बैठा कर रतनचन्द्र के मकान पर पहुँचा दूंगा, मैं बाहर खड़ा रहूंगा जब तू लौटेगी तब तुझे लेकर लौट आऊंगा" राजभद्र के कंधे पर बैठ कर भद्रा रतनचन्द्र के मकान पर पहुँची। रतनचन्द्र को भद्रा के विवाह की खबर थी। अब भद्रा अपना वचन किस प्रकार पालन करेगी, यह देखने को वह अभी तक जाग रहा था। भद्रा ने किवाड़ खड़ खड़ाये, रतनचन्द्र ने किवाड़ खोल दिये। दोनों भीतर गये भद्रा सब आभूषणों से सजकर आई थी, कहने लगी "मैं अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने को ऐसी भयंकर रात्रि में तेरे पास आगई हूं" रतनचन्द्र आश्चर्य में डूब

गया, थोड़ी देर तक उससे बोला न गया, अन्त में वह बोला "शाबाश भद्रा! शाबाश! तू एक वचनी है। बस तेरा वचन पूर्ण हुआ अब तू जा, तू दूसरे की मिलकत है, मुझे अपराधी न बना!" भद्रा उसका धैर्य और विषय त्याग देख कर प्रसन्न हुई। ये सब बातें नीचे खड़ा हुआ राजभद्र सुन रहा था, अपनी स्त्री की निर्दोषिता और एकवचनीपने से प्रसन्न होकर कह रहा था "मैं भद्रा को उसका वचन पालने को ले आया, यह ठीक ही किया है।" इस बात को एक और मनुष्य भी सुन रहा था, उसे किसी ने देखा नहीं। रतनचन्द्र की दृष्टि भद्रा के चरणों के ऊपर पड़ी, वह आश्चर्य करता हुआ बोला "भद्रे! मार्ग में कीचड़ होते हुए भी तेरे पैर क्यों नहीं भीगे? तू अपने पति से क्या कह कर मेरे पास आई है?" भद्रा प्रसन्न होती हुई बोली "मित्र रतनचन्द्र! मैंने तुम्हें जिस प्रकार का वचन दिया था, ऐसा ही मैंने अपने पति से कह दिया और उसका पालन करने को आई हूं, जलमें मैं किस प्रकार आ सकती थी क्योंकि वह ही मुझे अपने कंधे पर बैठा कर लाये हैं!" रतनचन्द्र आश्चर्ययुक्त हो बोला-"धन्य है तेरे पतिको! वह कहां है?" भद्रा बोली-"बाहर खड़े हैं!" रतनचन्द्र ने दौड़ कर किवाड़ खोले और राजभद्र के पैरों पर गिर कर कहने लगा "शाबाश! महान् पुरुष! शाबाश! जिस प्रकार उदार चित्त, एक वचनी भद्रा है ऐसे ही आप उससे बढ़ कर हैं।" राजभद्र रतनचन्द्र के पैरों में गिर कर बोला "नहीं! महाशय! आपकी उदारता ने हद कर दी! आपके समान नीतिवन्त, उदार आत्मा भूमि पर कहीं ही प्रगट होते हैं!" यह

कह कर और आनन्दपूर्वक भद्रा को लेकर राजभद्र अपने मकान पर आया। दूसरे दिन राजा विक्रमादित्य ने उन तीनों को बुलाया। भद्रा को बहिन मान कर वस्त्राभूषण दिये और राजभद्र और रतनचन्द्र को अपने कारभारी के मान्य पद पर नियत किया। जन्म पर्यन्त वे तीनों मित्र ही रहे। चौथा पुरुष जो इस बात को सुन रहा था वह विक्रमादित्य था जो रात्रिचर्या देखने को घूम रहा था।

ऊपर के लौकिक दृष्टान्त से भी त्याग का महात्म्य जाना जाता है। ग्रहण में दुःख है और त्याग में सुख है। आत्मा नित्य मुक्त है उसे विषयों का बन्धन नहीं है अज्ञान करके बन्धन मान लिया गया है। विषयों में माना हुआ राग बन्धन है और राग छोड़ देना बन्धन रहित होना है। जिस प्रकार जो सुवर्ण कादव युक्त हो, उसमें से कादव निकल जाना सुवर्ण शुद्ध होना है। कादव ने सुवर्ण को ढांक रक्खा था। कादव सुवर्ण से मिला हुआ—एकमेक हुआ नहीं था इसी प्रकार आत्मा अज्ञान करके विषयों में जिस प्रीति-राग करके प्रवृत्त हो रहा है, उस प्रीति-राग को छोड़ देना आत्मा का आत्म रूप होना है। भोगों में आसक्ति वाले भी कितने ही ज्ञान की दो चार बातें सुन लेने से अपने को मुक्त मानने लगते हैं वे मुक्त नहीं हैं किन्तु पशु समान हैं। जो आत्म भाव में स्थिति वाला है शास्त्र रहस्य के अनुसार है वह ही मुक्त है। आत्म स्थिति मुक्त स्वरूप है और देहाध्यास की अहंता, ममता सहित आंतरिक राग बंधन है।

जब शिष्य ने पूछा कि घोर नरक कौन है तब गुरु ने कहा है कि अपना शरीर ही घोर नरक है। नरक में अनेक प्रकार का कष्ट भोगना पड़ता है पृथ्वी में गाड़ा जाता है, जल में डुबोया जाता है, अग्नि में तपाया जाता है वायु में उड़ाया जाता है। शस्त्र से छेदन, बंधन, ताड़न आदिक कष्ट भोग होना पुराणादिक में सुना जाता है। यदि विचार कर देखा जाय तो ये नरक के सभी कष्ट एक शरीर में भरे हुए हैं ऐसा मालूम होता है। जिसको हम पवित्र रखते हैं. समझते हैं यह अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है। ऊपर की चमड़ी ने भीतर के सब दोषों को छुपा रक्खा है। शरीर का धारण करना ही नरक है इसलिये अपने शरीर को ही नरक कहा है। रक्त, मांस, मज्जा, स्नायु, हड्डी, विष्टा, मूत्र, वीर्य ऐसे अपवित्र पदार्थों से भरे हुए शरीर में मूर्ख मोह को प्राप्त होते हैं। शरीर की उत्पत्ति अपवित्र पदार्थों से हुई है। माता के रक्त और पिता के वीर्य से शरीर की उत्पत्ति है, ये दोनों ही मलिन दुर्गंध युक्त हैं और गीली चमड़ी में रहते हैं। इस प्रकार से बने हुए शरीर में बाहर भीतर मलिनता ही भरी है जिसको उत्तम मुख समझते हैं उसमें अँगुली डालने से झूठी थूक वाली हो जाती है, गुदा में अँगुली डालने से विष्टा वाली, उपस्थ में लगने से मूत्र वाली, आंख में डालने से कीचड़ वाली, नाक में डालने से भींट वाली, कान में डालने से मैलवाली हो जाती है। कांख में से दुर्गंध निकलती है, शरीर में जुओं का वास होता है, उदर में कृमि होते हैं, इस प्रकार सब अंग अन्दर

वाहर अपवित्र है। मूर्ख इसका अभिमान करके शरीरकी चेष्टाओं को अपने में मानता है। वह ही घोर नरक है।

कोई एक मनुष्य एक साधु के पास जाया करता था। एक समय वस्तुओं के गुण दोष के ऊपर बात चीत चल रही थी। वह मनुष्य अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की वस्तुओं को मानता था। वह ज्ञानी तो नहीं परन्तु कुछ शुद्ध था। उसके समझाने के लिये साधु ने कहा "हम लोग एकांत वाले हैं विशेष घूमते नहीं हैं हम जंगल का वास ही पसंद करते हैं, शहर के अनेक पदार्थ हमने देखे नहीं हैं तू तो शहर में रहता है, मेरा एक काम कल करके लाना, जो वस्तु तुझको खराव से खराव मालूम हो उसको थोड़ी सी लेता आना!" साधु किस कारण खराव से खराव वस्तु मंगाता है वह मनुष्य उसका कारण समझ न सका परन्तु दूसरे दिन भोजन करके साधु की मांगी हुई वस्तु लेने निकला। मार्ग में विचारने लगा "बुरी वस्तुएं वहुत हैं परन्तु सब से बुरी वस्तु हो वह ही मुझे लेना चाहिये" मार्ग में उसे वहुत से कंकर मिले, संयोग वश जूते का एक तला टूटा, उसमें होकर कंकरकी नोक उसके पैर में लग गई। वह खड़ा होकर देखने लगा कि क्या लगा है देखने से मालूम हुआ कि कंकर लगा है, कंकर को दो चार गाली देकर कहने लगा "हे दुष्ट! तू लोगों को विना कारण सताता है, तेरा जन्म होना व्यर्थ है" ऐसा कहता हुआ आगे चला तो तले के भीतर कंकर इस प्रकार वोलता सा भास हुआ "हे मनुष्य! तू मुझे दोष मत दे, मैं वहुत मूल्यवान् हूँ, मेरी जाति में से ही हीरा, पन्ना, माणिक आदि उत्पन्न होते हैं जो मनुष्य

की समृद्धि कहलाते हैं, मैं इतने उच्च कुल का नहीं हूँ, तो भी मकान बनाने के काम में आता हूँ, कोई पक्षी अथवा बन्दर दुःख दे तब तू मुझे उठा कर दिखलाता है अथवा मारता है, मैं तेरे पैर में लगा यह बिन कारण नहीं है, तेरा जूता टूटा है तू उसे सिलवाले अथवा दूसरा पहन ले, यह कहने को मैं तेरे पैर में लगा था, यदि तू मेरा कहा न मानेगा तो कोई कांटा अथवा कांच तेरे पैर में लग कर लोहू निकाल देगा। बोल ! अब मैं बुरा कैसे हूँ ?" उस पुरुष को अपना वचन झूठा मालूम हुआ। वह आगे चला। एक तिनका देख उठाकर कहने लगा "यह बुरा है, व्यर्थ है, किसी उपयोग में नहीं आता, उड़ कर अच्छे पदार्थ में पड़ जाता है, मार्ग की बुरी वस्तुओं के संग वाला हो कर उत्तम पदार्थ को बिगाड़ देता है, साधु के पास इसे ले जाना चाहिये।" इसी समय उसके मन में तिनका ऐसा कहता हुआ मालूम हुआ "हे मनुष्य तू मुझे दोष क्यों देता है ? मेरे गुणों का भी कुछ विचार कर, तेरे कान में कुछ भर जाता है, जहां तेरी अंगुली जा नहीं सकती तब मेरे सहारे से तू अपना कान साफ करता है, दांत में भरा हुआ मैल मेरे सहारे निकलता है, पक्षियोंका घोंसला बनाने में मैं उपयोगी हूँ, मनुष्य खाने पीने के पदार्थों को देख भाल कर रक्खें—उपयोग में लें, इस सूचना के निमित्त मैं पवन के सहारे उड़ कर उनमें जा पड़ता हूँ, जैसा तू समझता है, ऐसा मैं नहीं हूं" मनुष्य समझ गया कि यह भी बुरा नहीं है, इस प्रकार वह सैकड़ों पदार्थ बुरे समझ कर उठाता गया और उनमें से हर एक में कुछ न कुछ गुण समझ कर सबको छोड़ता गया।

अंत में उसने एक स्थान पर विष्टा पड़ी देखी, उसे देखकर प्रसन्न होकर कहने लगा "इससे बुरी दुर्गंध वाली वस्तु और कोई न मिलेगी।" ऐसा विचार कर नाक सकोड़ते हुए उसमें से थोड़ी एक लकड़ी की नोक पर लगा ली और वह तुरन्त ही वहां से भागा! उसके दिल में ग्लानि आने से उसके गुणों का भास उसके चित्त में न पड़ा वह दौड़ता हुआ साधु के पास पहुँचा और उसे दूर एक तरफ रख कर साधु के पास जा नमन किया और बैठ गया। साधु ने कहा "क्या मेरी कही हुई वस्तु लाया है?" मनुष्य ने कहा "हां (अंगुली से दिखा कर) वह रक्खी है।" साधु ने कहा—"वह क्या वस्तु है?" मनुष्य ने कहा—"सब में खराब से खराब, किसी काम में न आने वाली, (नाक मुंह सकोड़ कर) विष्टा है।" साधु ने कहा—"वाह! यह तो बड़े काम की वस्तु है, तूने सुना होगा कि उसमेंसे नौसादर निकाला जाता है, खेती में उसका खाद सब खादोंसे श्रेष्ठ समझा जाता है।" मनुष्य ने कहा "गुण भले हों, दुर्गन्ध वाली बुरी वस्तु उसके समान जगत् में और कोई नहीं है।" साधु ने कहा "सच है, तेरी बात भी मानने योग्य है, परन्तु विचार तो कर कि उसमें दुर्गन्ध की उत्पत्ति तुझसे ही हुई है!" मनुष्य ने कहा "मुझसे उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है? मैं तो उसे मार्ग से उठा कर लाया हूँ।" साधु ने कहा "मनुष्य उत्तम उत्तम भोजन बनाता है, पवित्र रखता है, केसर, कस्तूरी आदिक की सुगंध से सुगंधित करता है, ऐसे मिष्टान्न पदार्थ का जब शरीर से संयोग होता है तब वह एक दिन के संग से ही विष्टा बन जाता

है। जिसमें से विष्टा बनी है, क्या वह वस्तु बुरी से बुरी न थी। एक समय एक मनुष्य ने विष्टा से कहा कि तू दुर्गंध वाली बुरी वस्तु है तब वह कहने लगी कि महाशय, इसमें मेरा दोष कुछ नहीं है मैं तो उत्तम पदार्थ थी, आपके संग ने मेरी यह दुर्दशा की है। पंचामृत रूप में आपके भोजन करने से विष्टा बनी हूं विचार कीजिये कि जब आपका शरीर मुझे नरक बनाता है तब क्या आपका शरीर नरक का भण्डार रूप नहीं है? विष्टा को विष्टा कहने से किसी को दुःख मालूम नहीं होता क्योंकि उसको विष्टा जानते हैं परन्तु शरीर को विष्टा-नरक कहने से चौंक जाते हैं, क्योंकि देह को तो केसर और कस्तूरी के समान मान रक्खा है। अन्न का देह है अन्न की ही विष्टा है। जो मनुष्य देह के साथ एक भाव किये हुए हैं देह के रोग से अपने को रोगी और देह के बुढ़ापे से अपने को बूढ़ा मानते हैं वे देहाभिमान वाले नरक में ही पड़े हुए हैं। देह में जो अनेक प्रकार की आसक्ति-तृष्णा-एकता है वह ही दुःख का मूल रूप चौरासी लाख योनियों रूप नरक है।

स्वर्ग किसको कहते हैं उसके उत्तर में तृष्णा का क्षय बताया है। स्वर्गमें जो सुख होता है तृष्णा त्याग करने वाले को, उससे विशेष सुख होता है। तृष्णा में दुःख है और तृष्णा के त्याग में सुख रूप स्वर्ग है।

राजा नहुष धर्मात्मा था इसलिये एक वार इन्द्र के अभाव में इन्द्र बनाया गया था। इन्द्र बनने के पश्चात् तृष्णा का उदय

हुआ। नहुष ने इन्द्राणी से जाकर कहा कि अब मैं इन्द्र हो गया हूं इस कारण तू मेरी सेवा कर। इन्द्राणी ने यह बात बृहस्पति से कही। दूसरे दिन जब नहुष ने फिर वह ही बात कही तब इन्द्राणी ने बृहस्पति के कहे अनुसार कहा कि यदि तू ब्राह्मणों की उठाई हुई पालकी में बैठकर मेरे पास आवे तो मैं तेरी सेवा करूंगी-तुझे पति रूप से ग्रहण करूंगी। नहुष ने इसी प्रकार किया। अगस्त्यादि ब्राह्मणों से पालकी उठवा कर, उसमें बैठ कर वह इन्द्राणी के पास चला। मार्ग में धीरे धीरे चलने वाले अगस्ति से चल चल कहकर नहुष ने उनके लात मारी। तब अगस्ति ने श्राप दिया कि तू सर्प होजा। इस श्राप के कारण राजा नहुष स्वर्ग से च्युत होकर अजगर बना। विषय तृष्णा ने उसे उसके पद से गिरा दिया। ऐसी तृष्णा का नाश होना स्वर्ग है। नहुष को स्वर्ग में से गिरना पड़ा था। इसलिये जो कोई तृष्णा करता है वह नहुष से भी अधम है और जो कोई तृष्णा का नाश कर देता है वह इन्द्र से भी अधिक है।

दोहा—तृष्णा बंधन जानिये, तृष्णा क्षय है मोक्ष।
बंध मोक्ष होते नहीं, शुद्धात्मा अपरोक्ष ॥

एक सन्तान रहित गरीब मल्लाह अपनी स्त्री सहित एक नदी के किनारे पर रहता था और मछलियां पकड़ कर अपना निर्वाह किया करता था। एक दिन एक भी मछली उसके जाल में न आई, तब वह वरुणदेव की प्रार्थना करने लगा। वरुणदेव ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि आज से तेरी भोजन

विषय की चिन्ता मिट जायगी। मल्लाह ने घर पर जाकर देखा तो घर अन्न जल से पूर्ण था। मल्लाह ने सब बात अपनी स्त्री से कही। स्त्री बोली कि जब तुम पर वरुणदेव प्रसन्न हुए तब तुम वरदान मांगना भूल गये। अभी किनारे पर जाओ और वरुणदेव से कहो टूटी झोंपड़ी में हमसे रहा नहीं जाता, एक उत्तम घर हमको दो। मल्लाह स्त्री के कहे अनुसार किनारे पर आया और घर के लिये प्रार्थना की। वरुण ने प्रसन्न होकर कहा कि तेरी इच्छानुसार तेरा घर हो जायगा। मल्लाह घर गया और देखा तो झोंपड़ी का उत्तम मकान बन गया है। (स्त्री पुरुष दोनों ने आनन्द पूर्वक रात्रि व्यतीत की) प्रातःकाल होते ही स्त्री ने मलाह को जगाया और कहने लगी कि तुझमें कुछ बुद्धि नहीं है, ईंटों के मकान में रहने से कुछ सुख नहीं है, जब प्रचण्ड वायु चलेगा तब ईंटें अलग अलग होकर गिर जांयगी और हम मर जांयगे। तू जा वरुण से कह कि वह हमको पत्थर का मज़बूत मकान बनादे। मल्लाह विस्मित होता हुआ बोला कि तू क्या बकती है, कल ही वरुण ने हमें सुन्दर मकान दिया है अब मैं किस मुख से फिर मांगने जाऊँ ? स्त्री ने मल्लाह की एक बात न सुनी और जबर-दस्ती उसे वरुण के पास भेजा। मल्लाह ने नदी किनारे जा प्रार्थना की कि हे देव मेरी स्त्री की इच्छा पूर्ण करो। वरुण ने तथास्तु कहा और मल्लाह ने घर पर आकर देखा तो मकान मज़बूत पत्थर का बन गया। मखमल की उत्तम शय्या में भी स्त्री को नींद न आई। तृष्णा उसमें प्रवेश कर गई थी, इतने ऐश्वर्य से भी उसे संतोष न हुआ। मल्लाह की निद्रा का भंगकर,

हाथ पकड़ कर बोली कि तू कब तक मूर्ख बना रहेगा, मजबूत मकान होते हुए भी हम रक्षित नहीं हैं, वरुण के पास जाकर एक सुरक्षित दुर्ग मांग ले। इतना धन, इतना वैभव, इतना खाद्य पदार्थ, इनकी रक्षा कैसे होगी? कोई डाका आकर लूट ले जायगा तो पत्थर के मकान से क्या होगा? मल्लाह बोला कि तू कैसी स्त्री है, वरुणदेव ने हमको सब दिया है उन्हें अधिक कष्ट न देना चाहिये, यदि वे कोप करेंगे तो सब मट्टी में मिल जायगा, तुझे संतोष नहीं आता। स्त्री न मानी विचारे मल्लाह को फिर जाना पड़ा। वरुण की प्रार्थना करके कहा कि हे देव! मेरी स्त्री की इच्छा पूर्ण करो। वरुण ने तथास्तु कहा। मल्लाह ने घर पर आकर अपने मकान को दुर्ग के भीतर देखा। दूसरे दिन स्त्री ने प्रभात ही मल्लाह को जगाया और कहा कि देखो हमको सेना, सामर्थ्य और दुर्ग सब कुछ मिला है परन्तु राज्य बिना ये सब शोभा नहीं देता, जा, जा, वरुणदेव के पास जाकर प्रार्थना करके विशाल राज्य ले आ। मल्लाह विपत्ति में पड़ा, स्त्री को समझाने का यत्न किया किन्तु वह न मानी। मल्लाह नदी किनारे जाकर वरुणदेव की प्रार्थना कर कहने लगा कि हे देव! मेरी स्त्री की इच्छा पूर्ण कर। वरुण ने तथास्तु कहा। मल्लाह ने घर जाकर देखा तो एक बड़े राज्य का राजा बन गया। मल्लाह संतोषी था, स्त्री असंतोषी-तृष्णा वाली थी। उसे रात्रि को नींद न आई, दूसरे दिन मल्लाह को जगा कर कहने लगी कि मुझे ऐसे राज्य से क्या लाभ? चक्रवर्त्ती होना चाहिये, जा वरुण के पास से ले आ। मल्लाह बोला कि मुझे ऐसा राज्य नहीं चाहिये,

में नहीं जाऊंगा। स्त्री बोली कि वाह, तुझे न चाहिये तो न सही, मेरे लिये मांग ला, इसके विना मुझे शांति न होगी। मल्लाह वरुण के पास गया और अपनी प्रार्थना अनुसार वह चक्रवर्त्ती राजा भी होगया। दूसरे दिन फिर मल्लाह की स्त्री ने कहा कि अभी मेरी शांति नहीं हुई है; मैं चन्द्र, सूर्य के ऊपर अपनी सत्ता चलानी चाहती हूँ। मल्लाह बोला कि हे असंतुष्ट स्त्री! यह तू क्या बोल रही है, यह तेरा कहना संपूर्ण असंभव है, उनके ऊपर ईश्वर का ही प्रभुत्व है। स्त्री न मानी, मल्लाह को दुखी होकर जाना पड़ा। ज्यों ही नदी किनारे जाकर उसने प्रार्थना की वरुण ने आकर कहा कि तेरी सब समृद्धि का क्षण में ही नाश हो जायगा। मल्लाह ने जाकर देखा तो सब मकान जल रहा है, मकान अग्नि कुण्ड हो रहा है, तृष्णा वाली स्त्री उस कुण्ड में जल रही है—तृष्णा के कारण जीते जी नरक का अनुभव कर रही है। मल्लाह ने अपना शेष जीवन दुःख भोगते हुए पूर्ण किया। तृष्णा ने अनेक ऐश्वर्य होते हुए भी अशांति और नरक का अनुभव कराया। इसी कारण तृष्णा का क्षय स्वर्ग है।

पूर्वकाल में एक जैगीषव्य नाम का योगी हो गया है। उसने अपने पूर्व संस्कारों का साक्षात्कार किया था, उससे उसे मालूम हुआ कि मैंने दश महा कल्प तक जन्म धारण किये हैं, इसके पश्चात् विवेकख्याति का उदय हुआ है। एक समय एक आवव्य नाम के योगी जो निर्माण शरीर से विचरते थे जैगीषव्य को मिले। आवव्य ने जैगीषव्य से पूछा कि तुमने दश महा कल्प

तक अनेक योनियों में भ्रमण करके क्या देखा ? तब जैगीषव्य ने कहा कि सब जन्मों में दुःख की विशेषता सिवाय और कुछ भी नहीं देखा, उनमें क्षणिक मायिक सुख है परन्तु कैवल्य के सामने वह तुच्छ और दुःख रूप ही है। वे सुख दुःख तृष्णा रूप तन्तु हैं, सुख में भी विशेष तृष्णा की निवृत्ति नहीं होती। तृष्णा से ही अनेक जन्म होते हैं इसलिये तृष्णा का नाश होने से बाधा रहित अनुकूल संतोष रूप सुख स्वर्ग कहा है ॥२॥

संसार हृत्कस्तु निजात्म बोधः ।
को मोक्ष हेतुः प्रथितः स एव ॥
द्वारं किमेकं नरकस्य नारी ।
का स्वर्गदा प्राणभृतामहिंसा ॥३॥

अर्थ—शिष्यः—हे गुरो ! संसार का हर्ता कौन है ? गुरुः—अपने आत्मा का बोध संसार की निवृत्ति करता है। शिष्यः—मोक्ष का हेतु कौन है ? गुरुः—जो प्रसिद्ध आत्म बोध है सो मोक्ष का हेतु है। शिष्यः—नरक जाने का एक द्वार कौन सा है ? गुरुः—स्त्री नरक का द्वार है। शिष्यः—प्राणियों को स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाली कौन है ? गुरुः—अहिंसा।

छप्पय ।

कौन हरत संसार, जन्म मृत्यु भय दाता ।
बोध हरत संसार, परम पद प्राप्त कराता ॥

कौन मोक्ष का हेतु, बोध मुक्ती का वर है।
कौन नरक का द्वार, नारि नरकों का दर है॥
परम धर्म करि कौनसा? स्वर्ग धाम नर पाय है।
धर्म अहिंसा आचरत, सोहि स्वर्ग को जाय है॥३॥

विवेचन।

सामान्यता से जगत् ही संसार कहलाता है परन्तु जो संसरण है—चलना है, वह ही संसार है। संसार अनंत है क्योंकि जिसमें संसरण होता है, वह संसरण चक्राकार है। जैसे चक्र का आदि अंत नहीं होता इसी प्रकार चक्र में पड़ा हुआ जब तक चक्र से बाहर न निकले तब तक संसार की निवृत्ति नहीं होती। संसार अनेक प्रकार के कष्टों से भरा हुआ है। संसारी को बारंबार जन्म मृत्यु का भय लगा हुआ है। जन्म मृत्यु के मध्य में भी अनेक प्रकार के कष्ट हैं। संसारी कोई भी प्राणी दुःख रहित नहीं है। विद्वान् ऐसे दुःख रूप संसार की निवृत्ति और सुख स्वरूप की प्राप्ति करना चाहते हैं। संसार की निवृत्ति से परमपद की प्राप्ति होती है। परमपद सर्व प्रकार के दुःखों से रहित सुख स्वरूप है। संसार जब अनादि और अनंत है तब इसकी निवृत्ति किस प्रकार हो? संसार से बाहर कोई स्थान दिखाई नहीं देता। जब स्थान ही नहीं दीखता तब वहां जाया किस प्रकार जाय? इस प्रकार के शिष्य के प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं कि अपना जो आत्मा है, उसके बोध से संसारकी निवृत्ति होती है। जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसके अभाव में लय हो जाता है। आत्मा के

अबोध-अज्ञान से संसार की उत्पत्ति है जब अबोध निवृत्त हो जाय तब संसार की निवृत्ति हो। अबोध की निवृत्ति बोध स्वरूप है इसलिये आत्मबोध से संसार की निवृत्ति होती है। अब आत्मा और बोध दोनों ही को समझना चाहिये। आत्मा किसे कहें? बहुत स्थानों पर स्थूल शरीर को आत्मा कहा है, कहीं कहीं मन को आत्मा बताया है, कई जीव को और कई कूटस्थ को आत्मा मानते हैं, इनमें से किस आत्मा के बोध से संसार की निवृत्ति होती है? जो स्थूल शरीर के बोध से संसार की निवृत्ति कही जाय तो उसके बोध से संसार की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि शरीर का बोध प्रत्येक को है किन्तु किसी के संसार की निवृत्ति नहीं हुई है, हर एक का संसार चालू है। "मैं काला हूं, गोरा हूं, पतला हूँ, मोटा हूं, इतना भारी हूं, इतनी उमर वाला हूं" यह ही शरीर का बोध है। अथवा शरीर इस प्रकार के इन इन धातुओं से बना हुआ है, यह भी शरीर का बोध है, इस बोध से भी संसार निवृत्त नहीं होता।

दूसरा जो मन रूप आत्मा कहा जाता है, उसको भी समझाते हैं:—'मेरा मन इस प्रकार का है, इस समय पर इस भाव वाला है, ऐसे संकल्प विकल्प करने वाला है' इस प्रकार मन को जानने से भी संसार की निवृत्ति नहीं होती।

तीसरे जीव रूप आत्मा को भी कई अंश में लोग जानते ही हैं। यह जीता है, यह मर गया है, जीता, मरा और फिर जन्म लेने वाला भी जानते हैं। यह जानने से भी संसार की निवृत्ति नहीं होती।

चौथा शुद्ध कूटस्थ स्वरूप आत्मा परब्रह्म से अभिन्न है। वह उपाधि संयुक्त जीव है, उसका उपाधि अंश त्यागने से जो शेष रहता है वह वास्तविक आत्मा है। विकार अंश को छोड़कर उसकी और ईश्वर की एकता करके निश्चय में ठहरना ही बोध है। ऐसे बोध से ही संसार की निवृत्ति होती है।

शंकाः—कर्म उपासना और ईश्वर के ज्ञान से स्वर्ग-मुक्ति सुनी है। क्या उनसे संसार की निवृत्ति नहीं होती ?

समाधानः—कर्म और उपासना से उच्च संसार रूप स्वर्ग की *प्राप्ति होती है, परमपद प्राप्त नहीं होता, परोक्ष ज्ञान से ब्रह्म* लोक की प्राप्ति होना संभव है किन्तु स्वबोध बिना यथार्थ मोक्ष प्राप्त नहीं होता। कर्म, उपासना और ईश्वर का परोक्ष ज्ञान कर्म का क्रम (सिलसिला) है। कर्म उत्पत्ति और नाश वाला है, उससे जो फल उत्पन्न होता है वह भी उत्पत्ति और नाश वाला होने से मोक्ष नहीं है; कर्म फल से अतिरिक्त मोक्ष है। मोक्ष अपना स्वरूप होने से किसी का फल स्वरूप नहीं है इसलिये अखंड है।

स्त्री, पुत्र, पुत्रियां और कुटुम्बी संसार नहीं है। जो कोई उन्हें बाहर से छोड़ना चाहे तो वे सहज ही छूट सकते हैं परन्तु आंतर भाव से उन्हें छोड़ना कठिन है। स्त्री आदिक और सब कुटुम्बी शरीर सहित मरण समय छूट ही जाते हैं परन्तु उनका आंतरिक भाव नहीं छूटता इसलिये संसार भी नहीं छूटता। जब तक मन में से संसार की निवृत्ति नहीं होती तब तक काषाय

वस्त्रादि धारण करने से अथवा वेप वनाने से कुछ नहीं होता। जब तक मन में से संसार निवृत्त होकर मन अमन भाव को प्राप्त नहीं होता–मन का लय आत्मा में नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं होता। वेप ही संसार है, वैरागी वन कर अथवा गोसांई, सेवड़ा आदिक वन कर संप्रदाय को वढ़ाना, यह ही संसार का वढ़ाना है। ऐसे ही संन्यासी होकर संप्रदाय बांधने में और जगत् के प्रपंच कार्य भाव में लग जाना भी संसार ही है। जब आत्म तत्त्व के निमित्त सब ही का त्याग किया तो संप्रदाय वढ़ाने बांधने की क्या आवश्यकता है? ऐसे केवल बाह्य त्यागी प्रसंग प्राप्त होने पर विपय वासना से घिर कर अयोग्य आचरण में भी प्रवृत्त हो जाते हैं। जब तक अंतर से वासना निर्मूल नहीं होती, मन विरक्त नहीं होता तव तक धारण किये वेष से रौरव नरक में पड़ते हैं। वासना संसार है वासना के त्याग से आत्मनिष्ठा होती है, इसके पश्चात् शारीरिक वर्ताव केवल प्रारब्ध का ही होता है, वह ही बोध है।

एक पथिक मार्ग में जा रहा था, गरमी के दिन थे। मध्याह्न समय सूर्य मस्तक के ऊपर आ गया था। पथिक को प्यास लगी। बहुत देर तक खोज करने के पश्चात् उसे जल दिखाई दिया, प्रसन्न होता हुआ जल्दी से जल की तरफ जाने लगा। विचारता जाता था "निर्मल जल पीऊँगा, स्नान भी करूंगा और पसीने से भीगे हुए वस्त्रों को भी साफ़ करूंगा!" उसी समय उसे एक दूसरा मनुष्य मिला और कहने लगा "क्यों भाई! किस विचार

में प्रसन्न होते हुए जा रहे हो ?" पथिकने कहा "भाई ! बहुत देर से मैं जल की खोज में था, अब जल दृष्टि पड़ा है इसलिये मैं प्रसन्न हो रहा हूं !" यह सुन कर दूसरे मनुष्य ने अप्रसन्नता से शिर हिलाया ! पथिक ने कहा "हे सज्जन ! नकार भाव दर्शक शिर क्यों हिलाता है ?" दूसरा मनुष्य बोला "आपकी बुद्धि पर मैंने शिर हिलाया है ! जो जल आप देख रहे हैं, वह जल नहीं है, आप उसके ऊपर अनेक आशायें बांधरहे हैं, वह तो झांझवाका जल है बालू के ऊपर सूर्यकी किरणें पड़ने से जल के समान दीख रहा है ! वहां जल एक बूंद भी नहीं है ! आपको वहां जाने का परिश्रम दुःख देगा, बांधी हुई आशायें निष्फल होंगी। इससे मालूम होता है कि आप मूर्ख हैं। वह जल तो दूर से देखने मात्र ही है। वास्तविक जल नहीं है।" यह सुनकर पथिक को विचारने, मनन करने और निदिध्यासन करने से मालूम हुआ कि उसकी कही हुई बात ठीक है और अपनी भूल है। जब तक सूर्यके किरण बालू पर सीधे पड़ते हैं तब तक ही जल के समान दीखता है।

इसी प्रकार संसारी मनुष्य संसार को सत्य मान रहे हैं। जन्म, मरण, स्त्री, पुत्र, द्रव्य, धान्य, वैभव आदिक अपने और सत्य मानकर उनमें इस प्रकार के अनेक मनोरथ करते रहते हैं। "पुत्र मेरा नाम रक्खेगा, द्रव्य से पुत्र का विवाह करूंगा, पुत्र मेरा गया-श्राद्धादिक करेगा, मैं स्वर्ग में जाऊंगा।" इत्यादिक भाव आत्मा का नाश रूप है। यह ही निजात्म बोध का हरण है। जब चारों साधन युक्त ज्ञान के अधिकारी बनकर गुरु की

शरण में जाते हैं, सद्गुरु प्रसन्न होकर महावाक्यों का उपदेश करते हैं तब लक्षणा से आत्मा का बोध होता है—अपना स्वरूप जाना जाता है तब निजात्म बोध कहलाता है। वह बोध मोक्ष का हेतु है। इस प्रकार संसार बंधन से मुक्त होने का यत्न करना चाहिये।

तत्त्वमसि—महावाक्य में तीन पाद हैं (१) तत् (२) त्वं (३) असि। तत् का अर्थ वह-ईश्वर है, त्वं का अर्थ तू-जीव है और असिका अर्थ है, है। तत् और त्वं दोनों पदों में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों ही हैं। वाच्यार्थ उपाधि संयुक्त है, लक्ष्यार्थ तत्त्व है और एकता का हेतु है। तत् का अर्थ वह जो ईश्वर है, वाच्यार्थ है, ईश्वर माया सहित है अर्थात् शुद्ध तत्त्व और माया दोनों की एकता से समझाया गया ईश्वर है और माया को छोड़कर तत्त्व को जो समझाया गया है वह लक्ष्यार्थ है। ऐसे ही त्वं-तू जो जीव है वह वाच्यार्थ है। जीव अविद्या सहित है अर्थात् शुद्ध तत्त्व और अविद्या की एकता करके जो समझाया गया है वह जीव है और अविद्या छोड़ कर तत्त्व को जो समझाया गया है वह लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार जीव में रहा हुआ शुद्ध तत्त्व और ईश्वर में रहा हुआ शुद्ध तत्त्व एक ही है। इस प्रकार जब भाग त्याग लक्षणा से जीव और ईश्वर की एकता असि पद करता है तब अहं ब्रह्मास्मि का बोध होता है। इसी अपरोक्ष बोध से मोक्ष होता है।

नरक के द्वार के उत्तर में कहा है कि नारी नरक का द्वार है। जहां अत्यन्त कष्ट, रोग और दुर्गन्ध हों उस स्थान को नरक

कहते हैं। पुराणों में नरक के बहुत भयंकर कष्ट का वर्णन है। ऐसे नरक के जाने वाले किस मार्ग से जाते हैं, यह प्रश्न है। संसार भी नरक रूप है। उसमें भी अनेक प्रकार के कष्टादि हैं। स्वर्ग, नरक और मृत्यु तथा उनमें रहने वाले भुवन संसार में हैं। उनमें बार बार जन्म धारण करना नरक में जाना है। सब की उत्पत्ति स्त्री से होती है। जो स्त्री की भावना वाला होता है वह ही स्त्री के पेट से जन्म धारण करता है। जिन जिनके जन्म होते हुए देखते हैं वे सब स्त्री की भावना वाले थे, उसी मार्ग से वे नरक में आये हैं। यदि फिर भी वही भावना-आसक्ति की जायगी तो उसी नरक द्वार से निकलना पड़ेगा और नरक ही मिलेगा। किसी का जन्म स्त्री की भावना रहित नहीं होता इसलिये स्त्री नरक द्वार रूप है। महान् तपस्वी ऋषि, मुनि और सिद्धादिक भी थोड़ी भूल होने से उसी द्वार में जा पड़ते हैं। स्त्री माया का स्वरूप है, स्त्री से ही संसार है स्त्री से ही उत्पत्ति है और सब कष्ट उसीसे हैं। इस प्रकार स्त्री सब कष्टों का कारण होने से नरक द्वार रूप है। स्त्री के गर्भ में मलिन पदार्थ भरे रहते हैं। जन्म धारण करने वाले को कई मास तक मलिनता में रहना पड़ता है वह नरक रूप है। प्रत्यक्ष भी स्त्री के अंग उपांग मलिन हैं। मूर्ख मनुष्य ही ऐसे अपवित्र दुर्गंध वाले अंगों को रमणीक और सुखदायक समझकर मोह को प्राप्त होते हैं। स्त्री की इच्छा करते हैं वे ही बारंबार गर्भाशय रूप नरक में वास करने वाले होते हैं। इस प्रकार स्त्री संग में ही सब प्रकार का अनर्थ रहता है।

शंकाः—तब जो कुंवारे हैं वे लोग तो नरक में जाते ही न होंगे क्योंकि नरक का द्वार रूप नारी उनके लिये नहीं है ऐसे ही जो नपुंसक हैं वे ही मुक्ति के भागी होते होंगे क्योंकि स्त्री संग के योग्य वे नहीं हैं। अथवा पाषाण आदिक की मुक्ति समझना चाहिये, जड़ होने से वे नरक द्वारमें जाते ही नहीं। अथवा पुत्र हीन होगा तो पिता का उद्धार कौन करेगा ? सुना है कि अपुत्र की गति नहीं होती, फिर कौन सी बात मानी जाय ? स्त्री न हो तो संसार किस प्रकार हो ? स्त्री नरक का द्वार रूप है स्त्री को स्त्री संग का भाव नहीं है तो क्या स्त्रियां ही मुक्त होती हैं ?

समाधानः—कुंवारे की स्त्री नहीं होती, परन्तु उसका स्त्री का भाव निवृत्त नहीं होता और अन्य स्त्रियों का सहवास उसे नरक में पटकता है। नपुंसक क्रिया से रहित होते हैं परंतु भाव से रहित नहीं होते। वे संग रहित अपने जीवन को व्यर्थ समझते हैं इसलिये वे भी नरक ही में जाते हैं। पाषाण आदिक अत्यंत जड़ अवस्था में हैं वे नरक द्वार से निवृत्त नहीं हुए हैं। उनकी बुद्धि सुषुप्ति समान घन भाव में है जाग्रत् होकर वह फिर क्रिया संयुक्त होगी इसलिये वे भी मुक्त नहीं हैं। पुत्र हीन की गति न होना जो कहा है वह ठीक नहीं है। गति अगति अपने कर्मानु-सार और ज्ञान-भाव के अनुसार होती है। पुत्र से स्वर्ग प्राप्ति कभी नहीं होती जो सत्पात्र पुत्र हो तो पितरों को किंचित् सहा-यता अपने कर्म द्वारा दे सकता है इससे विशेष पुत्र कुछ नहीं कर सकता। पुत्र उत्पन्न करने का निषेध भी नहीं है। शास्त्रकारों ने जिस भाव से पुत्रोत्पत्ति दिखलाई है वैसा

शुद्ध भाव गृहस्थों को बाधक नहीं है। पुत्रोत्पत्ति रूप क्रिया बाधक नहीं है, स्त्री संग की आसक्ति ही नरक है। क्रिया होते हुए भी आसक्ति न हो यह सूक्ष्म भेद शुद्ध अन्तःकरण से समझने योग्य है। स्त्री का त्याग करने से भी मुक्ति नहीं होती किन्तु भाव छूटने से ही नरक का द्वार छूटता है। स्त्री भी स्त्री नहीं है, माता बहिन आदिक स्त्री होते हुए भी देखने वाला उनको विकार भाव से नहीं देखता। स्त्री न रहने से संसार न रहेगा, ऐसे संसार रहने की इच्छा वाले कभी नरक द्वार को छोड़ ही नहीं सकते। संसार उनको रमणीय दीखता है इसलिये वे संसार के निवृत्ति भाव वाले नहीं हो सकते। जैसे स्त्री पुरुषों के लिये नरक द्वार है ऐसे ही स्त्रियों को पुरुषासक्ति नरक द्वार रूप है। स्त्रियों में पुरुषासक्ति अवश्य होती है इसलिये स्त्री मात्र होने से ही वे नरक द्वार से नहीं बच सकतीं।

एक मनुष्य एक साधु के पास कभी कभी जाया करता था, कभी २ उपदेश भी सुना करता था और दुर्गुणों के हटाने का प्रयत्न भी किया करता था। एक दिन वह साधु के पास आया और उन दोनों में इस प्रकार बात चीत हुई:—

मनुष्य:—भगवन्! आपके उपदेश के अनुसार लोभ, मोहादिक अब मेरी समझ में आने लगे हैं और उनके हटाने का मैं प्रयत्न भी करता रहता हूं, यत्न से वे हट भी जाते हैं परन्तु एक बात के लिये मैं बहुत प्रयत्न करता हूं तो भी वह हट नहीं सकती। विषय वासना हटाने में मैं अशक्त हूँ, और भाव

और विषयों को मैं हटा सकता हूँ; उसको क्यों नहीं हटा सकता ?

साधुः—(मुसकरा कर) तू साफ दिल का है, तूने जो बात पूछी है वह अत्यन्त महत्व की है। जो जिसका मुख्य कारण होता है, उसका हटना कठिन है। तू ही विचार, तेरे शरीर और तेरे हाल के जीवत्व भाव की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। जिससे तू बना हुआ है, उसकी जड़ विषय वासना है। माता पिता की विषय वासना का फल रूप तेरा शरीर है, इस शरीर के ऊपर 'मैं' और 'मेरे' का दृढ़ भाव रखते हुए तू विषय वासना को सर्वदा निवृत्त नहीं कर सकता। जो तुझे विषय वासना हटानी हो तो दृढ़ प्रयत्न में लग, जितना शरीराध्यास शिथिल होगा उतनी ही वह वासना भी शिथिल होगी, अन्यथा शिथिल न होगी। देहाध्यास की निवृत्ति के साथ ही विषयासक्ति की निवृत्ति होती है। किसी वृक्ष के शाखा, पत्ते काटने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता किंतु जड़ के काटने में विशेष परिश्रम होता है। जैसे वृक्ष के नाश सहित जड़ कटती है इसी प्रकार देहाध्यास सहित ही विषय वासना की निवृत्ति होना संभव है।

एक शहर में स्त्री पुरुष रहते थे। ऊपर का एक मकान इन लोगों ने किराये पर ले रक्खा था, पुरुष का नाम सूरजचन्द था; वह एक व्यापारी के यहां नौकरी करता था। उसकी स्त्री के कोई संतान न होती थी। वह चाल चलन में अच्छी न थी; जब

उसका पुरुष नौकरी पर जाता तब एक पुरुष उसके मकान पर आया करता, उन दोनों में याराना हो गया था। वह मनुष्य एक श्रीमान् का पुत्र था। स्त्री को कपड़ा गहना और दाम भी देता रहता था। इस स्त्री का पुरुष मिजाज का सख्त था, स्त्री उससे डरती थी परन्तु स्त्री चरित्र से बाज़ भी नहीं आती थी। एक दिन उसका यार नरकानंद उसके मकान पर आया था। दोनों ही अनेक प्रकार के आनंद में लगे थे इतने ही में किसी के आने का खटका हुआ। सूरजचंद कभी इस समय घर पर आता न था, आज एक व्यापारी के पास कुछ काम के निमित्त उसका आना हुआ था। वहां से लौटते समय उसके पेट में कुछ खलबली मची, मकान पास ही था इसलिये वह मकान पर चला आया। स्त्री ने जाली में से अपने पति को आता हुआ देख कर घबरा कर अपने यार से कहा "अब बचने की कोई सूरत नहीं है वे आ गये हैं तुम ऊपर हो, वे हम दोनों के प्राण लिये विना छोड़ने वाले नहीं हैं पीछे कोई रस्ता नहीं है कूद कर भाग जाओ ऐसा भी नहीं है। हाय! ईश्वर ने यह क्या किया? किवाड़ी भीतर से कड़ी लगी हुई थी इसलिये सूरज-चंद ने उसे खूब ठोका! स्त्री ने उत्तर दिया "खोलती हूं, मेरे हाथ झूंठे हैं हाथ धोकर किवाड़ खोलती हूं।" स्त्री और नरकानंद को कोई बचने का उपाय न सूझा। वहां ऊपर ही एक पाखाना था, स्त्री ने कहा "इस पाखाने में घुस जाओ तो मेरे और तुम्हारे प्राण बच जांय!" नरकानंद जल्दी से नरक स्थान रूप पाखाने में घुस गया। स्त्री ने हाथों में पानी लगा कर नीचे जाकर किवाड़

खोले। सूरजचंद ऊपर आया, उसे टट्टी की हाजत लग ही रही थी, उसने टट्टी जाने को जल का लोटा मांगा। स्त्री घबराई परंतु करे क्या वहां कोई दूसरा पाखाना पास था नहीं कि उसे कुछ निमित्त लगा कर दूसरी पाखाने में भेजे। टट्टी जाने को जल का लोटा मांगने से नरकानंद घबराया और जी में विचारने लगा "क्या करूं? भीतर से किवाड़ देलू? हाय! यह खबीस कब मानने वाला है किवाड़ तोड़ डालेगा और मेरी जान लेगा! यहां से कहीं भाग नहीं सकता हूं, प्राण बचने की कोई सूरत नहीं दीखती! कड़ी लगाना तो ठीक नहीं है पाखाने के भीतर उतर जाने से शायद बच जाऊं!" यह विचार कर मल जाने के मार्ग में विचारा उतरने लगा छिद्र था छोटा, शरीर छिलने लगा, कई स्थानों पर रक्त निकल आया और सब शरीर मल मूत्र से भर गया। हाय करता हुआ विचारा नीचे उतर गया और वहां एक ईंट के सहारे खड़ा हो गया। सूरजचंद पाखाना खोल कर जल्दी से बैठ गया और टट्टी फिरने लगा। मल मूत्र भीतर घुसे हुए नरकानंद के मुख पर पड़ता रहा। दुर्गंध युक्त मल से वह मूर्छित के समान हो गया परंतु करे क्या न तो भाग सकता था और न पुकार सकता था सूरजचंद हाथ पैर धोकर बैठ गया परंतु उसे दोबारा हाजत हुई। वह फिर टट्टी गया, शाम तक चार पांच बार टट्टी गया। सब मल नरकानंद के शरीर पर पड़ता रहा। अंत में कमज़ोर होने से सूरजचंद को नींद आगई। उसे सोता हुआ देख कर स्त्री पाखाने में गई और उसने एक रस्सा डाल कर नरकानंद को ऊपर खेंचा। नरकानंद कुछ पानी से मल धोकर

अंधेरे में ईश्वर का उपकार मानता हुआ भागा। वह मरा नहीं, विशेष नरक भोगने के लिये स्त्री ने उसे बाहर निकाल दिया। स्त्री संगासक्ति का यह प्रत्यक्ष नरक उसने देखा।

अहिंसा स्वर्ग की देने वाली है। कायिक वाचिक और मानसिक रूप से किसी का घात हानि न करना अहिंसा कहलाती है। जो अहिंसा का पालन करता है उसकी हिंसा करने वाला–दुःख देने वाला कोई नहीं होता। अहिंसा समभाव की सिद्धि से सिद्ध होती है। जिसमें समभाव नहीं होता उसको अहिंसा की पूर्ण सिद्धि नहीं होती प्राणी मात्र की हिंसा न करना रूप पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जिसने आत्म अनुभव किया है ऐसे अहिंसक को और स्वर्ग क्या होगा ? उसकी जीवन्मुक्ति की स्थिति आनन्द रूप है। स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त जो यज्ञ में हिंसा करते हैं और स्वर्ग में जाते हैं, उनका स्वर्ग वास्तविक स्वर्ग नहीं है। यज्ञ का पशु प्रथम स्वर्ग में पहुँचता है और यजमान पीछे जाता है, वहां दोनों का युद्ध होता है। यजमान थोड़ा सा स्वर्ग का सुख भोग कर फिर चौरासी लक्ष योनियों में जन्म धारण करता है। क्षीण पुण्य होने से मृत्यु लोक में आना पड़ता है; इसलिये सच्चा सुख वही है जिसमें किसी प्राणी मात्र की हिंसा न हो। अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम ज्ञान है और अहिंसा परम गति है। जिस प्रकार हाथी के पैर में सबका पैर समा जाता है इसी प्रकार अहिंसा में सब धर्मों का समावेश होजाता है, सार्व भौम अहिंसा ही ठीक अहिंसा है। जाति, देश,

काल और कार्य के विचार से किसी को मारना और किसी को न मारना परिच्छिन्न अहिंसा है। उत्तम जाति को न मारना जाति परिच्छिन्न है, पवित्र देश में न मारना देश परिच्छिन्न है, शुभ पर्व पर न मारना काल परिच्छिन्न है और शुभ के निमित्त सिवाय न मारना कार्य परिच्छिन्न है, यह सब तुच्छ हैं।

आत्मा का प्रपंच भाव में गिरना आत्म हिंसा है। जो आत्मा को आत्मभाव सिवाय नीच गति में जाने नहीं देता किंतु आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है वह आत्मा की हिंसा नहीं करता, वह ही स्वर्ग-सुख को प्राप्त होता है। सब प्रकार की हिंसाओं से अपने आत्मा की हिंसा महा भयंकर हिंसा है, उस हिंसा से अनेक प्रकार की योनियों में जन्म धारण करना और दुख भोगना पड़ता है। जो ऐसी हिंसा नहीं करता वह कृतार्थ होता है। आत्मा का बोध न होना आत्म हिंसा है; अन्य प्राणियों की हिंसा न करने का विधान भी आत्म हिंसा न करने में सहायक होता है। जो आत्मा की हिंसा नहीं करता वह किसी की भी हिंसा नहीं करता। मायिक कामना में हिंसा होती है। मायिक पदार्थ जिसने तुच्छ समझे हैं और जो अपने स्थूल शरीर का मूल्य कौड़ी समान समझता है, ऐसा कामना का त्यागी और आत्मा के अनुराग वाला किसी की भी हिंसा नहीं करता। हिंसा न करके प्रसन्न चित्त रहना ही स्वर्ग सुख है—स्वर्ग का देने वाला है।

शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठो,
जागर्ति को वा सदसद्विवेकी ।
के शत्रवः संति निजेन्द्रियाणि,
तान्येव मित्राणि जितानि कानि ॥४॥

अर्थः—प्रश्नः-सुख से कौन सोता है ? उत्तरः-जो समाधि निष्ट है वह । प्रश्नः-जागता कौन है ? उत्तरः-सत् असत् का विवेक करने वाला । प्रश्नः-शत्रु कौन हैं ? उत्तरः-अपनी इन्द्रियां । प्रश्नः-मित्र कौन हैं ? जब वे जीती जाती हैं तब मित्र हो जाती हैं ॥४॥

छप्पय ।

सुखसे सोवे नित्य, कौन सुकृती नर ऐसा ।
नित्य समाधीनिष्ठ, सुखी कोई नहि तैसा ॥
कौन जागता नित्य, नहीं क्षण भर भी सोता ।
विवेक सत्यासत्य, जिसे सम्यक् है होता ॥
शत्रु हमारे कौन हैं, इन्द्रिय शत्रु जानिये ।
जब वश में हो जांय वे, मित्र उन्हें ही मानिये ॥४॥

विवेचन ।

जगत् में अनेक प्रकार की कामनायें होने से और उनसे मनुष्य घिरा हुआ होने से उसको चिन्ता रूप अग्नि जलाया ही करती है इसलिये रजोगुण की वृद्धि होती है और रजोगुण की

वृद्धि वाला नित्य चिन्ताग्रस्त रहने से कभी सुखी नहीं रहता। चिन्ता नींद नहीं आने देती, यदि नींद आ भी जाती है तो तीव्र भाव वाली कामनाओं के संस्कार स्वप्नरूप से उदय होते हैं और सोते में भी शान्ति नहीं होने देते, भयंकर स्वप्न दीखते हैं अथवा अपने अहित का स्वप्न देख कर स्वप्न में भी वह दुखी होता है। कभी थकावट के कारण अथवा विशेष आहार के कारण सुषुप्ति में किंचित् समय भले ही शांति प्राप्त हो किन्तु विशेष करके सुषुप्ति अशान्तिमय ही होती है इसलिये उसका सोना सुखरूप सोना नहीं कहलाता। इस कारण शिष्य का प्रश्न है कि कौन पुण्यात्मा ऐसा है जो सुख पूर्वक निद्रा लेता है ? उस पर गुरु का कथन है कि संसार के विषयों में लिप्त हुआ कोई भी मनुष्य सुख पूर्वक नहीं सो सकता और विषयासक्ति निवृत्त हुए विना सुख से सोना असंभव है परन्तु जिसकी समाधि में परिपूर्ण निष्ठा होती है ऐसा कोई एक ब्रह्मनिष्ठ ही निश्चिन्त होकर सुख पूर्वक सोता है—जगत् में निद्रा लेता है। जगत् में जो जन्म हुआ है वह सोने के निमित्त नहीं हुआ है किन्तु परम पुरुषार्थ प्राप्त करने के निमित्त है। जब तक परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता तब तक मनुष्य निश्चिन्त नहीं हो सकता, कृत कृत्य होकर ही निश्चिन्त होता है, वह सोना ही वास्तविक सोना है। जगत् निद्रा रूप है, उसमें निद्रा का अनुभव करना ही सुख से सोना है। समाधि में निष्ठा वाला ज्ञानी ही सुख से सोता है। समाधि अनेक प्रकार की हैं परन्तु वे सब यथार्थ समाधि नहीं हैं, यथार्थ समाधि निर्विकल्प समाधि है, अन्य समाधियां उसका साधन रूप हैं।

ज्ञान समाधि निर्विकल्प समाधि कही जाती है। अथवा सविकल्प और निर्विकल्प दो प्रकार की समाधि हैं, सविकल्प हठ की समाधि है और निर्विकल्प ज्ञान की समाधि है। अन्य समाधियां खंडित हैं और ज्ञान समाधि अखंडित है। ध्याता और ध्यान को अनुक्रम से त्याग कर एक ध्येय ही जिसका विषय है ऐसा, पवन रहित स्थान में रही हुई दीप शिखा के समान जब चित्त होजाय तब निर्विकल्प समाधि कहलाती है। निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था को समाधि कहते हैं। जब निदिध्यासन का अभ्यास बहुत वृद्धि को प्राप्त होजाता है तब ध्याता और ध्यान छूट जाता है, उनका बोध नहीं रहता जो वहां रहता है वह 'तत्त्वमसि' महा वाक्य का निःसन्देह अर्थ रूप ब्रह्म ही ध्येय है, उसमें चित्त की स्थिरता होजाना ही समाधि है।

ज्ञान के मुख्य अन्तरंग साधन 'तत्त्वमसि' आदि महा वाक्य हैं। श्रवण मनन आदिक बहिरंग साधन हैं क्योंकि युक्ति से वेदांत वाक्यों के तात्पर्य का निश्चय होना श्रवण है, जीव ब्रह्म की अभेदता और दोनों के भेद की अभिन्नता का चिन्तवन करना मनन है, अनात्माकार वृत्तियों की बाधा रहित ब्रह्माकार वृत्ति की स्थिति होना निदिध्यासन है और इन तीनों के अभ्यास से समाधि की जो पूर्ण स्थिरता है वह निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था है, वह निर्विकल्प समाधि है इसलिये निदिध्यासन का भी समाधि में अन्तर्भाव है। सविकल्प समाधि के आठ अङ्ग हैं:—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान

और समाधि। अपरोक्षानुभूति में निर्विकल्प समाधि के पन्द्रह अङ्ग कहे हैं:—यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि। सब जगत् ब्रह्म है, ऐसा निश्चय करके सब इन्द्रियों के निग्रह करने को यम कहते हैं। सजातीय यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ज्ञान का प्रवाह होना, विजातीय अनात्म भाव का तिरस्कार और ब्रह्म के सिवाय सब संसार मिथ्या है ऐसे ज्ञान को नियम कहते हैं। चैतन्य स्वरूप तत्त्व के अवलोकन में प्रापंचिक पदार्थों के भाव का त्याग त्याग कहा जाता है। महात्माओं का सादर सत्कार करना सद्य मोक्षदाता है, जिसको मन वाणी जान नहीं सकते, योगी लोग ही जानते हैं, ऐसे परब्रह्म में स्थिति होना मौन है। पंडित उस ब्रह्म का 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुसंधान करते हैं, जिसको वाणी नहीं पहुँच सकती, उसका वर्णन कौन कर सकता है? इसलिये जानकर भी न कहा जाना मौन है, यह मौन साधु पुरुषों को स्वाभाविक सिद्ध है, अंतःकरण की प्रवृत्ति विशेषता से प्रपंच की तरफ न होना मौन है। जहां आदि अन्त और मध्य में कोई भी मनुष्य न हो ऐसे देश को निर्जन देश कहते हैं, जिससे सब संसार व्याप्त है ऐसे ब्रह्म देशका नाम निर्जन देश है; अस्तु, सदा शून्य स्थान में योग साधन में युक्त होना योग्य है। जिसके उन्मेष निमेष में ब्रह्मादिक सब भूतोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है इस कारण से अखंड, आनन्द स्वरूप, अद्वय ब्रह्म ही काल शब्द से कहा जाता है। जिसमें उत्तम प्रकार से ब्रह्म चिन्तवन हो, उसको आसन

कहते हैं उसके सिवाय ब्रह्म विचार नहीं हो सकता इसलिये इसके सिवाय अन्य आसन सुखकर नहीं हैं किंतु सुख के नाश करने वाले हैं जिस करके सिद्ध पुरुष सिद्ध कहलाता है जिसमें लीन रहता है और जो विश्व का अधिष्ठान स्वरूप अव्यक्त है वह सिद्धासन कहलाता है। जो आकाशादिक पंचभूतों का आदि कारण और चित्त की एकाग्रता का मूल कारण है वह मूलबंध कहलाता है ऐसा मूलबंध राजयोगियों को हमेशा सेवन करने योग्य है। जो सब प्राणियों में समान दृष्टि करके समान ब्रह्म में लीन होना है, वह देह साम्य कहलाता है। सूखी लकड़ी के ठंठ के समान समता नहीं कहलाती, दृष्टि को ज्ञानमय करके जिससे सब जगत् को ब्रह्ममय देखता है, वह दृष्टि परम उदार और मंगल को देने वाली है, नासिका के अग्रभाग को देखने वाली दृष्टि को दृष्टि नहीं कहते किंतु जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों विराम को प्राप्त हो जांय, वह दृष्टि कहलाती है, ऐसी दृष्टि करना योग्य है। चित्तादिक से लेकर सब पदार्थों में ब्रह्म भावना करके इन्द्रियों की सब प्रकार की वृत्तियों को रोकना प्राणायाम है। सब प्रपंच का मिथ्यात्व निश्चय करके त्यागना रेचक प्राणायाम है, एक ब्रह्म ही सर्वरूप है ऐसी वृत्ति पूरक प्राणायाम है और सब ब्रह्मरूप है इस भाव को टिकाना कुंभक प्राणायाम है। इस प्रकार का रेचक, पूरक और कुंभक ज्ञानियों का होता है। सब विषयों में आत्म तत्त्व देखकर–जगत् को ब्रह्ममय देखकर चैतन्य स्वरूप आत्मा में चित्त लगाना प्रत्याहार कहलाता है, मुमुक्षुओं को इस प्रकार का प्रत्याहार अवश्य करना योग्य है। जिस जिस स्थान

पर मन जाय उस उस स्थान से ब्रह्म स्वरूप के दर्शन पूर्वक मन को निश्चल करना सर्वोत्तम धारणा है। सब बाधाओं को दूर करके देहानुसंधान के परित्याग पूर्वक "सब ब्रह्ममय है ऐसा जान कर ब्रह्म स्वरूप का अवलम्बन करके स्थिति करना आत्म ध्यान है इससे परमानन्द की प्राप्ति होती है। निर्विकार चित्त वाला होकर ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान से सब प्रपंच का त्याग करना समाधि कहलाती है।

इस प्रकार निर्विकल्प समाधि वाला सुख पूर्वक सोता है। इस सोने में जो अनुभव होता है उसे समाधि वाला ही जानता है, दूसरे नहीं जान सकते क्योंकि उसके जानने को बाहर का कोई चिह्न नहीं है। समाधिस्थ बाहर की चेष्टायें किया करता है, तो भी उसकी समाधि उतरती नहीं है इसको समझने के लिये दृष्टांतों से समझाते हैं, जो समझने मात्र को सहाय रूप हैं:— जैसे गाय चरती है, चलती है, बाहर जाती है और पानी पीती है किन्तु ये सब चेष्टायें करते हुए उसका चित्त बछड़े में लगा रहता है। जैसे नट खेल करता है, अनेक प्रकार की कसरत करता है, रस्से के ऊपर चलता है, परन्तु उसका चित्त रस्से के समतोल रहने पर ही रहता है। जैसे स्त्री शिर पर पानी का घड़ा भर कर चलती है, सखियों से बोलती चालती है, हास्य करती है, तालियां बजाती है और आने जाने वाले मनुष्यों को देखती भी है परन्तु उसका चित्त घड़े में होता है। इसी प्रकार समाधि वाले की सब क्रियायें होती हैं तो भी उसका चित्त समाधि में रहता है।

ऐसी ज्ञान समाधि वाला सुख पूर्वक सोता है, अन्य व्यवहारी मनुष्य इस प्रकार की सुख की निद्रा नहीं ले सकते। जिसमें प्रपंचासक्ति, देहाध्यास आदिक हैं उसको सुख कहां है!

जागता कौन है? ऐसा जो शिष्य ने पूछा था उसका उत्तर गुरु ने यह दिया कि जिसने सत् असत् का विवेक किया है, वह ही जागता है। ऊपर जिसका सुख पूर्वक सोने का कहा है, वह ही विवेकी है और वह ही जागता है। एक ज्ञानी को ही सोने वाला और जागने वाला कहा है क्योंकि विवेकी और समाधिनिष्ट एक ही होता है। इसको इस प्रकार समझना चाहिये:-जिसमें से जगत् का भाव निवृत्त हो गया है, वह जगत् में सोता है और आत्म तत्त्व में स्थिति वाला होने से आत्म तत्त्व में जागता है। आत्म स्थिति रहित जड़ता को प्राप्त होना समाधि नहीं है, उससे न तो किसी फल की प्राप्ति होती है, न वह विवेक है।

एक नट सब स्थानों पर अपना तमाशा किया करता था। उत्तम रीति से तमाशा करने के कारण बहुत स्थानों से उसे अच्छे अच्छे इनाम मिला करते थे। एक समय वह एक राजा के पास गया और वहां उसने आश्चर्य उत्पन्न करने वाला अपना तमाशा किया। राजा ने प्रसन्न होकर बहुत सा इनाम दिया परन्तु नट का दिल उसके इनाम से प्रसन्न न हुआ तब राजा ने कहा "क्यों! क्या इनाम लेना चाहता है?" नट ने कहा "महा-राज! मैं एक ही वस्तु की प्रार्थना करता हूँ, वह वस्तु आपके

बैठने का घोड़ा है !" राजा को वह घोड़ा बहुत प्रिय था, उसे वह किसी को देना नहीं चाहता था। राजा ने कहा "नट ! तेरा तमाशा अद्भुत था, इसमें कुछ संदेह नहीं है, तूने योग के चौरासी आसन कुशलता पूर्वक दिखलाये परन्तु समाधि नहीं दिखाई, यदि तू समाधि करके दिखला दे तो मैं तुझे घोड़ा दे दूंगा।" नट ने कहा "अन्न दाता ! समाधि दिखाने की योग्यता इस समय मुझमें नहीं है, यदि आप अपने चढ़ने का घोड़ा देना स्वीकार करें तो साल भर बाद आकर मैं आपको समाधि दिखला सकता हूँ।" राजा ने स्वीकार कर लिया, नट वहां से चला गया और प्राणायाम करने वाले साधु के पास पहुँचा। यद्यपि वह योग्यता रहित था तो भी साधु की सेवा करके उसने प्राणायाम सीखा और प्राण को मस्तक में ले जाकर रोक रखना भी सीख लिया। साधु ने सब सिखा दिया परन्तु प्राण चालू करने की विद्या न सिखाई। नट समाधि लगाया करता और अन्त में साधु उतारा करता। नट समझा कि मैं समाधि लगाना सीख गया हूँ, अब राजा के पास जाकर और समाधि दिखला कर उससे घोड़ा लेना चाहिये। यह विचार कर नट राजा के पास पहुँचा। उसे आता हुआ देख कर राजा घबराया परन्तु वह अपने वचन को भंग करे ऐसा न था। नट ने समाधि लगाई और वह लकड़ी के समान जड़ हो गया ! राजा ने दो चार घंटे राह देखी, नट की समाधि न उतरी। एक मास बीत गया समाधि न उतरी ! राजा ने नट के आस पास एक छोटा सा मंदिर बनवा दिया। नट बैठा रहे इतना ही बड़ा मंदिर था। इस

बात को दो, चार, दश वर्ष बीत गये, नट की समाधि न उतरी। नट को जिस घोड़े के लेने की इच्छा थी, वह घोड़ा मर गया, राजा भी मर गया। संयोग ऐसा बना कि जहां नट वाला मंदिर था, उसके पास का मकान टूट कर गिर गया और मंदिर उसके नीचे दब गया। बहुत दिन होने से 'नट ने समाधि लगाई है' यह बात भी लोग भूल गये। इस बात को दो सौ वर्ष हो गये। एक मनुष्य टूटे मकान को बनवाने लगा। जब मकान खोदा गया तब मंदिर के नीचे भी खोदा गया और नट के पैर में चोट लगने से उसकी समाधि खुल गई और वह पुकार उठा "घोड़ा लूंगा, घोड़ा लूंगा!" बहुत से मनुष्य एकत्र हो गये। एक मनुष्य ने पूछा "तू कौन है और क्या कहता है?" नट ने जो बात थी सब कह दी। एक मनुष्य ने पूछा "तुझे कौन से राजा ने घोड़ा देने को कहा था?" नट ने कहा "पृथ्वीराज महाराज ने!" लोग आश्चर्य करने लगे! उसी मनुष्य ने कहा "उसको मरे हुए तो दो सौ वर्ष हो गये! उसकी पांचवीं पीढ़ी पर उसका वंशज राज कर रहा है!" नट निराश हुआ। घर पर जाता तो घर का पता न था, न किसी मनुष्य का पता था!

इस प्रकार की समाधि समाधि नहीं है, ज्ञान समाधि ही अखंड समाधि है। वह ही सुख रूप है।

अपने शत्रु कौन हैं? इसके उत्तर में कहा है कि अपनी इन्द्रियां ही अपना शत्रु हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और वाणी, हाथ, पग, पायु और उपस्थ

ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। ये दशों अपने अपने विषयों में आसक्त होती हैं। इन्द्रियों का विषयों में आसक्त होना ही उनकी शत्रुता है। जिस प्रकार शत्रु अहित करता है इसी प्रकार विषयासक्त इन्द्रियां जीव का अहित करती हैं। वे आत्म मार्ग में विघ्न करने वाली हैं इसलिये इन्द्रियों को वश करके मन को जीतने का यत्न करना चाहिये। हे अर्जुन! महा प्रयत्न करते हुए भी मनको व्याकुल करने वाली इन्द्रियां बलात्कार से बुद्धिमान् पुरुषों के मन को भी अपनी तरफ़ खेंच लेती हैं यदि मन वश में न हो तो समुद्र रूप संसार से पार नहीं हो सकते।

एक व्यापारी एक जहाज़ में बहुत प्रकार का सामान लेकर समुद्र मार्ग से दूसरे देश में जा रहा था। ज्योंही जहाज़ के बंदर बाहर निकला त्योंही तूफ़ान आया। जहाज़ घूमने लगा और कहीं का कहीं चला गया। जिधर को जहाज गया उधर लोह चुम्बक का एक पहाड़ था। जहाज़ में बहुत सा लोहा कील आदि जड़ा हुआ था। ज्योंही वह पहाड़ की तरफ गया त्योंही लोहा चुम्बक की तरफ खिचने लगा और उसके साथ सम्पूर्ण जहाज़ भी खिंचता चला। उसमें रक्खा हुआ माल और बैठे हुए मनुष्य सब ही खिंच चले। अंत में जहाज़ ने पहाड़ से बहुत जोर से टक्कर खाई और वह चूर चूर हो गया। सब माल समुद्र में चला गया और बैठे हुए मनुष्यों में से कोई डूब कर, कोई टक्कर खा कर और कोई भय से इस प्रकार सब मर गये।

समुद्र संसार है, उसमें चलता हुआ जहाज़ शरीर है व्यापारी जीव है, माल अनेक प्रकार के शुभ कर्म हैं, कीलें इन्द्रियां

हैं, पटरियां मन है और चुम्बक पत्थर विषय हैं। जब इन्द्रियां अपने विषय को देखती हैं तब चुम्बक के समान विषयों की तरफ खिंचती हैं, उनके आकर्षण से क्रमानुसार सब का आकर्षण होता है और अंत में जीव का नाश होता है यानी वह नीच गति को प्राप्त होता है।

जैसे मांस में लुब्ध होने से मछली, लोहे के कांटे को नहीं देखती, इसी प्रकार विषय सुख में लुब्ध हुआ मनुष्य यमराज का पाश नहीं देखता। जब मन और इन्द्रियां जीत ली जाती हैं तो वे मित्र हो जाती हैं और न जीती हुई शत्रु होती हैं इसलिये मुमुक्षुओं को प्रयत्न करके उन्हें अवश्य जीतना चाहिये। प्रथम इन्द्रियों को वश करके फिर मन को वश करना चाहिये और फिर बुद्धि को। बुद्धि को ज्ञान भाव वाली करके आत्मा को जानना चाहिये और उसको जान कर महान् शत्रु जो काम है उसको मार देना चाहिये। कामनाओं के कारण इन्द्रियां शत्रु हैं और कामना रहित इन्द्रियां मित्र हैं। जैसे जब कोई राजा अन्य देश जीतने को जाता है और सामने वाला राजा हार जाता है तो वहां की प्रजा भी नवीन राजा को मान देने लगती है। जैसे सैन्य में मुख्य आधार सैन्यनायक-राजा होता है इसी प्रकार इन्द्रियों का मन आधार है क्योंकि वह इन्द्रियों का राजा है। शतरंज के खेल में भी राजा के कैद होने से खेल समाप्त हो जाता है इसी प्रकार मन वश में आजाने से इन्द्रियां वश में आजाती हैं। विषयों के बदले इंद्रियों का अवलम्बन बदल देना चाहिये। यह इस प्रकार होता है:-श्रोत्रेन्द्रिय गुरु के सदुपदेश में लगावे, हस्त गुरु सेवा में,

पैर गुरु कार्य में, नेत्र गुरु दर्शन और शास्त्र पढ़ने में और जिह्वा शास्त्र कथन में लगावे। घ्राण को आत्म गंध में, मन को संकल्प विकल्प रोकने में, बुद्धि को ब्रह्म विचार में, चित्तको अखंड ब्रह्मके चिन्तवन में और अहंकार को ब्रह्माभिमान धारण करने में लगावे।

जैसे कोई एक व्यापारी बहुत सा माल लेकर पृथ्वी मार्ग से जा रहा है। मार्ग में उसे कोई ठग मिल जाय और ठगई के विचार से व्यापारी के साथ मित्रता करके उसके साथ साथ चलने लगे। संयोगवश कोई तीसरा मनुष्य वहां आ पहुँचे, जो व्यापारी और ठग दोनों को पहिचानता हो और स्वयं भला मानस हो, वह एकान्त में व्यापारी को लेजा कर कहदे कि यह मनुष्य जो तेरे साथ है, ठग है, इससे सावधान रहना, ठग भी अपने जी में समझ जाय कि मेरा ठगपना व्यापारी को मालूम होगया है, अब वह ठगई में नहीं आवेगा और यदि अन्य कोई ठगई कर जायगा तो मेरा ही नाम होगा, इसलिये अब तो व्यापारी को सही सलामत मुकाम पर पहुँचा कर ही जाना चाहिये, ऐसा विचार कर वह व्यापारी का मित्र होजाय। इसी प्रकार जीव व्यापारी है, इन्द्रियां ठग हैं, सद्गुरु दोनों को पहिचानने वाला तीसरा मनुष्य है, जब सद्गुरु द्वारा ज्ञान होता है तब इन्द्रियां जो अपनी शत्रु हैं, मित्र होजाती हैं—जीती जाती हैं। कहा भी है "मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।" "मनुआं मर गया, (उसका) खेल बिगड़ गया" "मन ही संसार है, मन का अमन होना संसार का पार है" "चाह चमारी, चूहड़ी, सब नीचन से नीच, तू तो सत् परब्रह्म है, चाह न हो यदि बीच" ॥४॥

को वा दरिद्रो हि विशाल तृष्णः,
श्रीमांश्च को यस्य समस्ति तोषः ।
जीवन्मृतो कस्तु निरुद्यमो यः,
कोवाऽमृतः स्यात्सुखदा निराशा ॥५॥

अर्थः—प्रश्नः-दरिद्री कौन है ? उत्तरः-अधिक तृष्णा वाला। प्रश्नः-श्रीमान् कौन है ? उत्तरः-जो सन्तोषी है । प्रश्नः-जीतेजी मुरदे समान कौन है ? उत्तरः-जो उद्यम रहित है । प्रश्नः-अमृत समान सुख देने वाली कौन है ? उत्तरः-निराशा अमृत समान सुख देने वाली है ।

छप्पय ।

कौन दरिद्री दीन, अधिक तृष्णा से दूषित ।
कौ जग में श्रीमान, सदा सन्तोष विभूषित ॥
नर ऐसा है कौन, मरा जीते जी होई ।
जीवत मुरदा सोहि, करे उद्यम नहिं कोई ॥
अमृतसम सुखदायनी, कौन दुःख दारिद्र हर ।
एक निराशा सुखद अति, नर निराश जानो अमर ॥५॥

विवेचन ।

जिस किसी के पास धन नहीं होता, उसे लोग दरिद्री कहते हैं परन्तु वास्तविक दरिद्री तो कोई और ही है । जितना विशेष धन होता है उतनी ही अधिक तृष्णा का होना संभव है । जैसे २ मनुष्य बढ़ता जाता है वैसे २ उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है

इसलिये जिसको जितनी विशेष तृष्णा हो उसे उतना ही विशेष दरिद्री समझो। गरीब की भूख-तृष्णा पांच पच्चीस रुपये की होती है और लक्षाधिपति की भूख लाखों रुपयों की होती है। दरिद्री चिंता का स्वरूप है। विशेष तृष्णा होने से विशेष चिन्ता होती है इसलिये जिसको अधिक तृष्णा हो उसे दरिद्री समझना चाहिये। जैसे धन की तृष्णा होती है वैसे ही भोग की तृष्णा होती है। धन की तृष्णा इस कारण से होती है कि उससे सब प्रकार के भोग प्राप्त हो सकते हैं। तृष्णा महा मोह उत्पन्न करने वाली, भय देने वाली और विकलता रूप है इसलिये अधिक तृष्णा वाले को ही कंगाल कहना चाहिये, उसको ही चेंटी समान क्षुद्र समझना चाहिये। जैसे चेंटी कितनेक चांवल के दाने और गुड़ आदिक लाकर अपने बिल में जमा करती है, उनका उपयोग नहीं करती, मरण प्राप्त मक्खी को खींचने जाती है, वहां कोई लघुशंका करने को बैठा होता है तो उसके मूत्र में बहती चली जाती है, यदि ज्यों त्यों करके उसमें से निकलने पाती है तो घर मूत्र से भर जाने के कारण उसमें जाने नहीं पाती, इसी प्रकार अधिक तृष्णा वाले का हाल है।

एक साधु था। उसका यह नियम था कि वह दिन भर मांगता रहता, जो खाने की वस्तु आती खा लेता और बची हुई बांट देता था और जो पैसे आते थे उनको भी सायंकाल को अपने स्थान पर बांट देता था, जो गरीब कंगाल दीखते उनकी तरफ फेंक देता था। बहुत दिन का शहर में रहने

वाला होने से सब उसे पहिचानते थे और वह 'कंगालों को पैसे बांटने वाला साधु' इस नाम से प्रसिद्ध था। एक दिन उसके स्थान की तरफ से वहां का राजा निकला। राजा ने उसको देखा और उसकी दृष्टि भी राजा पर पड़ी। तुरन्त ही साधु ने चार पैसे राजा की तरफ फेंक दिये। राजा विचार में पड़ गया और घोड़े से उतर कर, साधु के पास जा प्रणाम करके बैठ गया और कहने लगा "महाराज! मैंने सुन रक्खा है कि आप कंगालों को पैसे बांटते हैं, आपने मेरी तरफ पैसे क्यों फेंके? क्या मैं कंगाल हूं? मैं तो राजा हूं!" साधु ने कहा "राजा! हमारा न्याय और विचार तेरे न्याय और विचार से कुछ और ही प्रकार का है! तू अपने को राजा मानता है, सब प्रजा भी तुझे राजा और श्रीमान् जानती है परन्तु मेरी दृष्टि में तू श्रीमान् नहीं है। जिसमें तृष्णा होती है, मैं उसे कंगाल समझता हूं! गरीबों को तृष्णा दो चार पैसों की होती है, तुझे लाखों, करोड़ों और नये नये मुल्क बढ़ाने की तृष्णा है इसलिये मेरे विचार से तू महा तृष्णा वाला होने से महादारिद्री—कंगाल है! इस प्रकार तुझे कंगाल समझ कर मैंने तेरी तरफ पैसे फेंके थे!" राजा धर्मनिष्ठ था, साधु के युक्ति पूर्वक वचन सुनकर संतोष को प्राप्त होकर चला गया।

अपनी आवश्यकता के योग्य प्राप्त होने पर भी जो विशेष प्राप्ति की इच्छा करना, उसके निमित्त अत्यन्त चिन्ता करना और व्याकुलता के साथ प्रयन्त करना है, इसका नाम तृष्णा है। जीव का ऐसा स्वभाव सा पड़ गया है कि उसकी संतुष्टि नहीं

होती, जब नहीं मिलता है तब कहता है कि इतना मिल जाय तो मेरा काम भली प्रकार चले। यदि संयोगवश उसकी कामना के अनुसार मिल जाय तो वह वहां नहीं टिकता–सन्तोष प्राप्त नहीं करता। अब इतना मिले तो ठीक हो ऐसे कहता है। इस प्रकार जितना मिलता जाता है उससे विशेष प्राप्ति की इच्छा करता ही चला जाता है। इस प्रकार की अत्यन्त व्याकुल करने वाली इच्छा तृष्णा कहलाती है।

जिसको सन्तोष होता है वह ही लक्ष्मीवान् है। जिस पुरुष की सम्यक् तोष-तुष्टि है वह श्रीमान् है। जिसके पास हो यदि वह धन की इच्छा न करे, जिसके पास बहुत वस्त्र हों वह वस्त्र की इच्छा न करे और जिसके पास जवाहरात हों, वह उनकी इच्छा नहीं करे तो इन सबकी गिनती व्यवहारिक दृष्टि से सन्तोषियों में हैं परन्तु जिसके पास कुछ भी नहीं हो तो भी किसी पदार्थ की इच्छा न करे वह सच्चा सन्तोषी है। सन्तोष के समान एक भी सुख नहीं है और असन्तोष के समान कोई दुःख नहीं है। इसीलिये कहा है "संतोषी सदा सुखी।" संतोषके साथ पवित्रता भी होती है। सच्ची पवित्रता आंतर की है। जो मनुष्य अपने अंतःकरण में अनेक प्रकार की तृष्णा–असंतोष के कूड़े को नहीं रखता वह आंतर पवित्र है। "संतोषी ब्राह्मणः शुचिः" संतोष वाला ब्राह्मण पवित्र होता है और "असन्तुष्टा द्विजा नष्टा" असंतोषी ब्राह्मण नष्ट होते हैं और जो कोई अन्य भी ब्राह्मण के समान सन्तोष धारण करता है वह भी पवित्र और सुखी होता है। जिसको आत्मबोध से संतुष्टि प्राप्त हुई है

वह परम संतोषी है। ऐसा मनुष्य त्रिलोक के ऐश्वर्य को भी तुच्छ समझता है। जब संतोष रूप सूर्य का उदय होता है तब तृष्णा-इच्छा रूप अँधेरी रात्रि का नाश होता है। संतोषवान् का हृदय प्रफुल्लित रहता है, सन्तोषी कान्तिवान् होता है। जिसको तीनों लोकों का ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी संतोष नहीं है वह दरिद्री है और निर्धन होकर भी जो संतोषवान् है वह सबका ईश्वर है। अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करे और प्राप्त वस्तु का उपभोग राग द्वेष रहित करे उसको संतोषी कहते हैं। असंतोषी को कभी सुख नहीं मिलता और संतोषी को कभी दुःख नहीं होता।

भजनलाल नाम का एक ब्राह्मण अयाचक होकर भी ब्राह्मण की वृत्ति से रहता था। आत्मबोध होने से उसका संतोष पूर्ण दशा को प्राप्त हो गया था। वह ईश्वर के ऊपर निष्ठा वाला था और व्यवहार का किसी प्रकार का सुख अथवा दुःख आ पड़ता तो वह व्याकुल नहीं होता था। उसे सुख दुःख का हर्ष शोक कभी नहीं होता था और ऐसे प्रसंगों में स्त्री आदिक के सामने कहा करता था "ईश्वर जो कुछ करता है, सब अच्छा ही करता है।" वह बोधवान् होने पर भी आलसी नहीं था, समय प्राप्त कर्म अच्छी प्रकार से किया करता था, दुःख में अन्यों को समझाया करता "जीव भाव की तुच्छ बुद्धि, निमित्त को नहीं समझ सकती, दुःख को भी सुख मानना चाहिये, दुःख महान् सुख का कारण होता है। दुःख बिना सुख की पहिचान नहीं

होती, दुःख ही ईश्वर प्राप्ति की तरफ ले जाने वाला दूत है, इस-लिये दुःख को सुख समझना चाहिये और सुख तो अच्छा लगता ही है फिर दुःख रहा ही कहां! जगत् संतोप विना दुःखी होता है!"

भजनलाल के पास कुछ विशेप माल न था तो भी कुछ था ही। एक रात्रि को चोर घर में घुस आये। घर वाले नींद में थे। चोर सौ, सवा सौ रुपये का गहना और वस्त्र जो कुछ मिला ले कर चल दिये। सवेरे उठने पर मालूम हुआ कि चोरी हो गई। भजनलाल की स्त्री रोने पीटने और हाय हाय करने लगी। पड़ौसी भी गरीब संतोपी ब्राह्मण का नुकसान हुआ देख कर करुणा करने लगे परन्तु भजनलाल के चित्त पर चोरी का कुछ भी असर न हुआ। वह स्त्री को समझाने लगा "प्रिये! तू दुःखी क्यों होती है? ईश्वर जो कुछ करता है अच्छा ही करता है। हमारी चोरी होने में ईश्वर का कुछ और ही संकेत होगा। संतोष कर!" स्त्री क्रोधित होकर बोली "अजी! तुम्हें तो संतोप ही संतोप सुहाता है। संतोप हो ही गया! ज्यों त्यों करके दो वस्त्र और चीजें बनी थीं अब बनना ही कठिन है! तुम संतोप धारण करके अपने साथ मुझे भी दुःखी कर रहे हो!" भजनलाल हँस कर कहने लगा "मैं कब दुःखी हूं? तू भी दुःखी नहीं है! अपने को दुःखी मानती है इसी कारण दुःख तुझे सताता है, ईश्वर पर निष्ठा और यथा प्राप्त में संतोष रख।" थोड़े दिन पीछे थोड़ी दूर पर रात्रि में चोरों का हल्ला हुआ बहुत से मनुष्य चोरों को घेरने दौड़े। चोर भजनलाल के मकान की छतपर से जान

लेकर भागे और जवाहरात और दागीनों की गठरी जो कि किसी साहूकार के यहां से चोरी करके बांध लाये थे, पटक गये। सुबह भजनलाल ने गठरी देखी, जाकर साहूकार को खबर की और राज दरबार में ले जाकर देदी। उसमें सवा लाख की कीमत का माल था। राजा भजनलाल की ईमानदारी से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। साहूकार बुलाया गया और उसका माल उसे सुपुर्द किया गया। साहूकार ने प्रसन्न होकर एक हजार रुपये भजनलाल को भेट दिये।

भजनलाल के एक दो वर्ष का और दूसरा छः मास का दो पुत्र थे। बड़ा लड़का कभी कभी घर के बाहर निकल जाया करता था। एक दिन वह कहीं बाहर चला गया और दिनभर खोजने पर भी उसका पता न लगा। ब्राह्मणी बहुत शोक करने लगी। भजनलाल ने अपना यह ही सूत्र सुनाया "ईश्वर जो कुछ करता है, सब भले के लिये ही करता है" स्त्री ने रोना बन्द न किया। बहुत खोज करने पर भी लड़का न मिला। एक दिन राजा के यहां से स्त्री पुरुष दोनों को भोजन के निमित्त न्योता आया। भजनलाल किसी के यहां भोजन करने जाना पसंद नहीं करता था तो भी राजा का न्योता मानना ही पड़ा। जब दोनों स्त्री पुरुष राजा के यहां गये तो राजा रानी ने उनको एकांत में बुला कर कहा "पंडित जी! हमने सुना है कि आपका कोई दो वर्ष का लड़का खोगया है, इससे आप दुःखी होंगे।" भजनलाल ने कहा "महाराज! ईश्वर जो कुछ करता है, सब भले के लिये ही करता है, यह मेरा निश्चय है इसलिये मुझे तो कुछ भी दुःख

नहीं है, हां, ब्राह्मणी इस बात का बहुत दुःख मानती है।" राजा प्रसन्न होकर बोला "धन्य साधु पुरुष भजनलाल ! मैं तुम से कुछ मांगना चाहता हूं।" भजनलाल ने कहा "महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं, जो प्रजा का है सो सब आपका ही है, आप खुशी से ले लीजिये।" राजा ने कहा "मैं तुम्हारे बड़े लड़के को लेना चाहता हूं !" ब्राह्मणी बोल उठी "राजा साहब ! वह है ही कहां ! जो हम दें !" भजनलाल बोला "आप ले लीजिये, दे दिया !" राजा ने पुत्र को बुलाया। उसको देखकर ब्राह्मण ब्राह्मणी, राजा रानी चारों प्रसन्न हुए। राजा ने इस प्रकार वृत्तांत सुनायाः-"मेरी वृद्धावस्था में एक राजकुमार हुआ था, दो वर्ष का होकर वह मरगया, दूसरी संतान होने की आशा नहीं है, तुम्हारे लड़के के समान ही उसका चेहरा था, इसलिये तुम्हारा लड़का हमने चुरा लिया है, अब आपकी आज्ञा से वह हमारा हुआ है, वह ही भविष्य का राजा होगा, आप दुःखी होते थे इस-लिये आपका लड़का आपको दिखला दिया है, यह बात किसी को मालूम नहीं है, इस गुप्त बात को आप भी गुप्त ही रखियेगा, जब जब आपकी इच्छा हो यहां आकर देख जाया कीजिये। आपके सिवाय और कोई इस बात को जानने न पावे।"

संतोषी भजनलाल ने संतोष के कारण व्यवहार में भी सुख पाया तो आत्म संतोष के अनिर्वचनीय सुख का कहना ही क्या है। सवा सौ रुपये के माल के बदले उसे हजार रुपये का माल मिला और पुत्र गुम होने के बदले प्रथम उसे राजकुमार और

फिर राजा होते हुए देख दम्पति प्रसन्नता को प्राप्त हुए। संतोष किसी हालत में दुःखदायक नहीं होता। जिनको संतोष नहीं वे संतोष को नहीं समझ सकते। कोई कोई कहते हैं कि संतोष आलसी बना देता है, यह झूठ है क्योंकि जो आलसी बना देवे वह संतोष ही नहीं है। सन्तोष तो खांड के खिलोने के समान बाहर भीतर ऊपर नीचे सब तरफ से सुख रूप ही होता है।

जिस शरीर में प्राण रूप धोंकनी चल रही हो वह जीवित नहीं है परन्तु जीता हुआ वह ही है जिससे किसी प्रकार के अर्थ की सिद्धि हो। प्रश्न है कि जीते जी मुरदा कौन है? उसका उत्तर है कि उद्यम रहित जीता हुआ भी मरे के समान है क्योंकि वह किसी अर्थ को सिद्ध नहीं करता इसलिये निरुद्यमी का जीता रहना और मर जाना समान ही है। जीवित दो प्रकार के समझो, एक ऐहिक अर्थ की सिद्धि करने वाला और दूसरा पारमार्थिक सिद्धि करने वाला। जो जगत् में अपने या दूसरों के निमित्त कुछ भी नहीं कर सकता वह मरा हुआ है। जो ईश्वर-आत्माको नहीं पहिचानता, जो अंतःकरण की शुद्धि अथवा वर्णोचित धर्माचरण नहीं करता, जो तत्त्व दर्शन निमित्त श्रवण मननादि नहीं करता, वह मरा हुआ है। इसी प्रकार जो मनुष्य संसारासक्त होकर बहुत द्रव्योपार्जन करता है, बड़े २ मकान बनवाता है, लड़के लड़कियों के विवाह में नाम के निमित्त बहुत आडम्बर रचता है और अपने धर्म कर्म से चूक जाता है, लोभ की कीचड़ में फँसा होता है, धर्माधर्म के भय रहित द्रव्य प्राप्त करता है, वह मरा

हुआ है क्योंकि इस प्रकार के उद्यम उद्यम नहीं हैं। अधर्म युक्त द्रव्योपार्जन में अनेक प्रकार का अनर्थ रहता है। जैसे धन प्राप्ति में दुःख, वृद्धि करने में दुःख, रक्षण में दुःख, उपयोग में दुःख, नाश में दुःख, उपभोग में परिश्रम, त्रास, चिंता और भय, चोरी, हिंसा, मिथ्या भाषण, दम्भ, काम, क्रोध, विस्मय, मद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, स्त्रियोंका व्यसन, जुआ और मदिरा पान। जो इस प्रकार के उद्यमों में प्रवृत्त हैं और आत्मा को नहीं पहिचानते वे जीते जी मुरदे हैं।

सब दुःखों की जड़ आशा है। चाहे अमीर हो चाहे फकीर हो। आशा सबको होती है इसीलिये सब दुःखी होते हैं। करोड़ों में कोई एक ही पुण्यवान् आशा रहित होता है। जो आशा रहित है वह ही महा सुखी है। पिंगला वेश्या आशा त्याग कर ही सुखी हुई थी। उसकी कथा इस प्रकार है:—

पूर्व में विदेह राजा जनक के नगर में पिंगला नाम की एक वेश्या रहती थी। एक दिन वह किसी नगर निवासी को अपने शयन गृह में लाने के लिये सुन्दर शृङ्गार करके सायंकाल को अपने घर के दरवाजे पर खड़ी हुई। धन के लालच से वह जिस किसी मनुष्य को मार्ग में आता देखती उसीको अपने यहां आकर धन देने वाला समझती थी और जब मनुष्य चला जाता था तब निराश होकर विचारती थी कि और कोई विशेष धन देने वाला धनाढ्य पुरुष मेरे पास आता होगा। इस प्रकार आशा करती हुई वह बहुत रात तक न सोई किन्तु द्वार के सहारे वहां ही खड़ी

रही। जब कोई आता देखती तो आशा करती और जब चला जाता तब निराश हो दुःखी होती थी और भीतर चली जाती थी, फिर आशा बाहर खींच लाती थी। इसी प्रकार आधी रात बीत गई, कोई भी न आया। धन की आशा से खड़े २ उसका मुख सूखने लगा और चित्त में बड़ा ही दुःख होने लगा, ऐसी अवस्था में उसे कुछ विचार उत्पन्न हुआ "अहो! मुझे कुछ भी विवेक नहीं है, मेरा चित्त क्षण भर भी मेरे वश नहीं रहता। मैं बड़ी ही बेसमझ हूँ! तुच्छ मनुष्य की कामना करती हूँ! अपने हृदय के भीतर रहने वाले सर्वदा समीप, नित्य रति और धन देने वाले, आत्म स्वरूप परम पुरुष को छोड़ कर, जो कामना पूर्ण करने में असमर्थ है, दुःख, शोक, भय, चिंता और मोह आदिक का देने वाला है, ऐसे तुच्छ पुरुष का भजन करती हूं! मुझे दुराशा ने मोहित कर रक्खा है!" इस प्रकार वैराग्य और विवेक उत्पन्न होनेसे "अब मैं आत्माके सिवाय अन्यका भजन न करूंगी" ऐसा निश्चयकर परम शांति को प्राप्त हुई और अपनी शय्या पर जाकर सुख से सो गई।

निराशा अमृत के समान सुख देने वाली है, अमृत संजीवनी बूटी है। मरण दुःख है और दुःख रहित स्थिति अमृत है। आशा विष समान और निराशा अमृत समान है। आशा में अनेक प्रकार के दुःख होते हैं, आशा रहित जो निराशवान् है उसे कोई दुःख नहीं होता। कहा भी है "आशा का मरे निराशा का जीवे।" जीव भाव आशा है और ब्रह्मस्वरूप निराशा है।

वस्तु-भोग के प्राप्त करने की इच्छा-कामना आशा है और प्राप्त होते हुए भी विशेष प्राप्त करने की तीव्र इच्छा का नाम तृष्णा है। आशा और तृष्णा मा बेटी हैं। आशा से तृष्णा की उत्पत्ति है। मुमुक्षुओं को प्रपंच भाव की आशा और तृष्णा दोनों ही त्यागनी योग्य हैं और उसके बदले आत्म प्राप्ति-बोध की आशा करनी चाहिये। आत्म बोध में तृष्णा की आवश्यकता नहीं है। बोध कुछ मिला हो और कुछ वृद्धि करना हो ऐसा नहीं है। तृष्णा अप्राप्त विशेष पदार्थ-भोग में होती है, स्वबोध में तृष्णा की आवश्यकता नहीं है। वास्तविक में तो स्वबोध में आशा की भी आवश्यकता नहीं है परन्तु वह आशा प्रपंच का बाध अन्तःकरण की शुद्धि और अज्ञान की निवृत्ति करने वाली होने से मुमुक्षुओं को मुमुक्षु दशा में कर्तव्य है। सम्पूर्ण पदार्थों की सम्पूर्ण भाव से सूक्ष्म संस्कार रहित जो निराशा है, वह स्वबोध के पश्चात् ही होती है। वह ही अमृत स्वरूप-परमपद मोक्ष है।

आशा और तृष्णा की उत्पत्ति अज्ञान-मोह से है और वह अज्ञान के परदे को दृढ़ करती है। जिनको अज्ञान निवृत्त करने और परम सुख-शांति प्राप्त करने की इच्छा हो उनको तीनों लोक की आशा तृष्णा का त्याग करना उचित है।

हैहय देश का सुमित्र नाम का राजा एक वार मृगया खेलने गया, उसने एक मृग को तीक्ष्ण बाणों से वेधा परन्तु अत्यन्त बलिष्ट मृग बाण लेकर भाग गया। राजा भी अपनी सैन्य और साथियों से भिन्न होकर उसके पीछे दौड़ा। मृग क्षण में नीचे

दौड़ता और क्षण में उसी भूमिकी सपाटी पर आ जाता। ज्यों २ मृग भागता था, उसके पीछे राजा भी भागता था। बड़े २ नद, नदियां, तालाव, पहाड़ और वनों को उल्लंघन करते हुए राजा ने उसका पीछा न छोड़ा। उसने बहुत परिश्रम किया और बहुत से बाण मारे परन्तु मृग न मरा और अन्त में बहुत दूर निकल गया। राजा अरण्य में घुसा, वहां उसे एक तपस्वी का आश्रम दिखाई दिया। राजा वहां गया। श्रम से पीड़ित और क्षुधातुर राजा को देखकर तपस्वी ने भोजन दिया परन्तु राजा ने ग्रहण न किया और वन में किस प्रकार आना हुआ इसका वृत्तांत सुनाया "मैं हैहय कुल में उत्पन्न हुआ सुमित्र नाम का राजा हूँ। मृग पतियों पर प्रहार करता हुआ विचरता हूँ, बड़ा सैन्य, प्रधान और अन्तःपुर को लेकर मृगया खेलने निकला हूँ, बाण लेकर भागे हुए मृगके पीछे पड़नेसे श्रमसे कुपित और आशा भंग होनेसे लक्ष्मी रहित हुआ हूँ, दैवयोग से इस स्थान पर आ पहुँचा हूं, इससे बढ़ कर दूसरा दुःख क्या होगा। राजधानी का त्याग हुआ, मृग की आशा भंग हुई, हे तपोधन! मैंने राज्य लक्षण का त्याग नहीं किया है, तो भी आशा भंग होने से मुझको तीव्र दुःख हुआ है। बड़े पर्वत हिमालय, महासागर और आकाश की लम्बाई चौड़ाई भी आशा के समान नहीं है। हे मुनि! मैंने आशा का अन्त न पाया, इसलिये मैं पूछता हूँ—आकाश और आशा दोनों में बड़ा कौन है? इस लोक में आशा से बढ़कर दूसरा दुर्जय क्या है? तब सब ऋषियों में श्रेष्ठ ऋषभ ऋषि कहने लगे "मैं पूर्व में तीर्थ यात्रा करता हुआ एक ऋषि आश्रम में पहुँचा। वहां तनु

नामका एक ऋपि निवास करता था, उसका शरीर बहुत ही पतला था। उसी समय वहां बड़े वेग वाले अश्व पर सवार होकर महा पराक्रमी वीर द्युम्न राजा अपने पुत्र भूरि-द्युम्न को, जो गुप्त हो गया था, खोजता हुआ आया। आशा से खिंचा हुआ वह राजा भटकता भटकता वहां आया था। वह कहने लगा "आशा से घिरा हुआ मैं इस स्थान पर आया हूं, यदि मेरा पुत्र न मिलेगा तो मैं अवश्य मरण को प्राप्त हूंगा! हे महात्मन्! जगत् में दुर्लभ क्या है? आशा से बड़ा कौन है? कृपा करके कहिये" तब ऋपि कहने लगे "हे वीरद्युम्न! आशा को प्राप्त करना दुर्लभ है। आशा आकाश से बड़ी और मुझसे भी कृप है। हे राजन्! जिसने आशा जीती है वह पुष्ट और जिसको आशा ने जीत लिया है वह कृप है! जो पुरुप द्रव्यवान् न होकर भी संतोप धारण करता है ऐसा पुरुप दुर्लभ है और जो अर्थवान् पात्र की अवज्ञा नहीं करता है वह अत्यंत दुर्लभ है। जिसने सब प्राणियों, भोगों और ऐश्वर्यों की आशा बांध रक्खी है वह कृप है। जो कृतघ्न, दुर्जन, आलसी और अनुप-कारी पर आशा करनेवाला हो वह अत्यन्त कृप है"॥५॥

पाशो हि को यो ममताभिधानः।
सम्मोहयत्येव सुरेव का स्त्री॥
को वा महांधो मदनातुरो यो।
मृत्युश्च को वापयशः स्वकीयम्॥६॥

अर्थ—प्रश्नः—पाश (वन्धन) क्या है ? उत्तरः—ममता है सोई पाश है। प्रश्नः—मदिरा के समान मोह उत्पन्न करने वाली कौन है ? उत्तरः—स्त्री। प्रश्नः—महा अंध कौन है ? उत्तरः—जो कामातुर है सो। प्रश्नः—मृत्यु क्या है ? उत्तरः—अपना अपयश ही मृत्यु है।

छप्पय।

फांसी कौन महान्, खानि दुःख की कहलाती।
ममता फांसी जान, योनि नाना भटकाती॥
मदिरा जैसा मोह, कौन देखत उपजावे।
तत्त्विण मदिरा नारि, ज्ञान विज्ञान नशावे॥
महा अंध जग कौनसा, कामातुर नर जानिये।
मृत्यु क्या कहलाय है, अपयश मृत्यु मानिये॥६॥

विवेचन।

पाश बंधन को कहते हैं, पाश का अर्थ फांसी भी है। इस प्रकार का पाश क्या है ? ऐसा जब शिष्य ने पूछा तब गुरु ने उत्तर दिया कि ममता पाश है। ममत्व—मेरा भाव को ममता कहते हैं। अहंता से ममता की उत्पत्ति है इसलिये जब अहंता होती है तब ही ममता होती है। 'मैं हूं' यह अहंता है, पश्चात् 'मेरा है' यह भाव ममता है। बंधन तो अनेक प्रकार के हैं परन्तु ममता रूप बन्धन की अपेक्षा सब बन्धन क्षणिक हैं। सब से विशेष बलिष्ठ और सब बन्धनों का उत्पत्ति स्थान रूप अज्ञान का अहं मम भाव ही पूरा बन्धन है। घृणा, लज्जा, भय, शोक,

जुगुप्सा, कुल, शील और जाति, ये आठ पाश हैं, परन्तु ये सब ममता के अन्तर्गत हैं। जैसे पाश गले में पड़ती है इसी प्रकार अहं मम की पाश जीव के गले में पड़ी हुई है। मैं स्वरूपवान् हूं, धनवान् हूं, कुटुम्बी हूं, मेरे भाई बन्धु और मित्र बहुत हैं, मैं भाग्यशाली हूं चतुर हूं, घर और जागीर वाला हूं अपनी जाति में सब से बड़ा हूं इत्यादि भाव पाश रूप बन्धन करने वाले हैं। अपनी मानी हुई झूंठी प्रतिष्ठा के हेतु अनेक कष्ट सहना परन्तु ममता न छोड़ना यह ही पाश है। संसार प्राप्ति का हेतु ममता है। ममता के कारण अनेक योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है। ममता के कारण अनेक प्रकार के छल छिद्र करने पड़ते हैं। ममता के कारण महान् चक्रवर्त्ती महाराजाओं का क्षय होना इतिहासों में प्रसिद्ध है। रावण ममता के कारण मारा गया, कौरवों का नाश भी इसीसे ही हुआ। ममता सब दुःखों की जड़ है। जिसको सुख की इच्छा हो उसे ममता का त्याग अवश्य करना चाहिये।

एक समय ठाकुर बलभद्रसिंह हाड़ा कुलका अधिपति था उसके एक कन्या ही थी, पुत्र कोई न था। उस कन्या का नाम माननी था। वह रूपवती और शौर्य में पुरुषों के समान थी। वह पिता के साथ सभा में बैठा करती और मृगया खेलने को भी जाया करती थी। एक समय वह पिता के साथ मृगया खेलने को गई। किसी कारण से बलभद्रसिंह कुछ पीछे रह गया। एक व्याघ्र माननी ने देखा और अपने घोड़े को कुदाकर कटार उस व्याघ्र की कमर में घुसेड़ दी। कटार लगते ही व्याघ्र दो तीन

पैर हट कर माननी पर झपटा और उसे मार डालने को ही था कि इतने में पीछे से एक सवार की तलवार ने व्याघ्र का शिर धड़ से अलग कर दिया। माननी सावधान होकर उपकार करने वाले को देखने लगी। सवार घोड़ा दौड़ा कर चल दिया। थोड़ी देर में जब माननी का पिता आया तब माननी ने अपने प्राण बचने का वृत्तान्त सुनाया। बलभद्रसिंह सुन कर प्रसन्न न हुआ क्योंकि माननी के बचाने वाले को उसने जाते हुए देखा था, वह हीन कुलका था बलभद्रसिंह उसे धिक्कारता था। माननी ने प्रत्युपकार करने का विचार चित्त से निकालने का प्रयत्न किया परन्तु यह विचार उसके चित्त से न निकला। एक वार अरवली पर्वत के जंगल में बारह घुड़ सवार एक घुड़ सवार को क्रूरता से घेरने लगे। भला! बारह के प्रहार के सामने एक क्या कर सकता था, वह घायल होगया। वे लोग उसका शिर काटने को ही थे, इतने में पीछे से एक बाण टोली के नायक के लगा जिसके लगने से वह पृथ्वी पर गिर गया और उसके प्राण निकल गये। उसके अनुयायियों ने इधर उधर दृष्टि की और एक सवार को आते हुए देख कर वे सब भाग गये। घायल हुआ पुरुष माननी का बचाने वाला था और नायक के बाण मारने वाली मृगया खेलने आई हुई माननी थी। घायल पुरुष की मरहम पट्टी करने के लिये माननी पालकी में बैठा कर उसे अपने घर ले आई। जब ठाकुर बलभद्रसिंह घर पर आया तब उसे यह मालूम हुआ कि उसकी कन्या, एक तरुण मनुष्य को जो घायल है और जिसने माननी की जान बचाई थी, घर पर ले आई है तो यह

सुनकर वह वहुत क्रोधित हुआ परन्तु उपकार का प्रत्युपकार होना चाहिये यह समझ कर उसने उस पुरुष की सार सँभाल होने दी। ठाकुर यह चाहता था कि किसी प्रकार से यह न बचे तो अच्छा! कन्या का चित्त उस तरुण पर मोहित हुआ है, तरुण मेरे कुल का शत्रु है, नीच है, माननी का प्रेम उस पर होना ठीक नहीं है, ऐसा विचार कर ठाकुर माननी से वारम्वार कठोर शब्द कहा करता। एक दिन माननी युवा की सँभालमें थी तव दोनोंका दृढ़ मनोभाव जाननेमें आया कि वे एक दूसरे को चाहते हैं परन्तु वलभद्रसिंह की ममता के कारण उन दोनों का विवाह होना अशक्य था। वह युवक आरोग्य होकर अपने घर चला गया। वह राठोर कुल का राजकुमार भारतसिंह था। उसने अपनी राजधानी में पहुंच कर वलभद्रसिंह से माननी के साथ विवाह करने की याचना की। वलभद्रसिंह इस पत्र को पढ़ कर अग्नि स्वरूप हो गया। उसने पत्र के टुकड़े करके फेंक दिये और माननी को वहुत कठोर वचनों में कहा कि जव तक मैं जीता हूं तव तक ऐसा होना कभी सम्भव नहीं है। एक दिन माननी वलभद्रसिंह के साथ मृगया खेलने गई थी, भारतसिंह उसे उठा कर वहां से अपनी राजधानी में ले आया। वलभद्रसिंह वहुत क्रोधित हुआ और उसने अपने स्थान पर आकर सेना एकत्र करके भारतसिंह पर चढ़ाई की। भारतसिंह के यहां विवाह का उत्सव हो रहा था उसमें भंग पड़ गया। भारतसिंह अपनी सेना लेकर युद्ध करने को आया और उसकी सव सेना मारी गई अकेला वह ही युद्ध से भागकर घर

लौट आया। घर पर हार कर आया हुआ जानकर माननी ने किवाड़ न खोले और वह अग्नि में जलकर भस्म हो गई। यह दृश्य देखकर भारतसिंह पर शूर चढ़ आया और वह केसरिया वस्त्र पहनकर रात्रि में बलभद्रसिंह के तम्बू में घुस गया। वे लोग भारतसिंह को मरा हुआ समझते थे, उन्होंने उसी समय बलभद्र-सिंह को जगाया। बलभद्रसिंह जागकर अपनी तलवार पर हाथ डालने लगा, इतने ही में भारतसिंह ने उसे मार डाला। उसके मरते ही सेना में कुलाहल मच गया और अन्य सैनिकों ने भारत-सिंह को मार दिया। इस प्रकार अनेक मनुष्यों की हत्या सहित बलभद्रसिंह भारतसिंह और माननी मरण को प्राप्त हुए। इस सब हत्या का कारण कुलाभिमान और ममता ही थी। ऐसे अनेक दृष्टांत मिल सकते हैं।

मदिरा मोह उत्पन्न करती है परन्तु स्त्री रूप मदिरा इससे भी विशेष मोह उत्पन्न करती है। स्त्री विषयक मोह के आवेश में धर्माधर्म का विचार नहीं रहता। कर्तव्य अकर्तव्य भूल जाते हैं और सत् असत् का विवेक भी जाता रहता है। मदिरा पान करने से विह्वल करती है परन्तु स्त्री रूप मदिरा तो स्मरण मात्र से विह्वल कर देती है, दर्शन, वचन, स्पर्श, हास्य और भाषण से विलासी पुरुषों को विलास के महामोह में पटकती है। रात्रि दिन उसका ही चिन्तवन हुआ करता है। मदिरा का नशा थोड़े समय में उतर जाता है परन्तु स्त्री रूप मदिरा का नशा जल्दी नहीं उत-रता किंतु अनेक प्रकार के कष्टों को भुगवाता और बहुधा मार भी डालता है। स्त्री के मोह से चतुर पुरुष मूर्ख बन जाते हैं,

देखते हुए अन्धे और सुनते हुए वहरे बन जाते हैं। स्त्री के नशे में प्रतिष्ठा का भान नहीं रहता, खाना पीना नहीं सुहाता, रात्रि को नींद भी नहीं आती, व्यवहार के कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती, कोई बात अच्छी नहीं लगती। हजारों मनुष्यों के सामने अकेला लड़ने वाला शूरवीर काम के बाण से हत होकर गिर जाता है और दीन हो जाता है। महा योगेश्वरों को भी स्त्रियों ने भ्रष्ट कर दिया है इसलिये मुमुक्षु पुरुषों को स्त्री रूप मदिरा की गंध तक भी न लेना चाहिये।

स्त्री के मोह से वर्तमान जन्म में ही कष्ट नहीं होता परंतु अन्य जन्मों में भी इसी कारण अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। रावण का नाश इसीसे हुआ। महा प्रतापी महाराजा पृथ्वीराज के संयुक्ता के मोह पाश में पड़ने से मुसलमानों ने चढ़ाई की, जिससे आर्यावर्त की पवित्र भूमि मुसलमानों के हाथ में चली गई। राजा भर्तृहरि स्त्री के मोह में लुब्ध था इसलिये उसने पराक्रमी छोटे शुद्ध भाई को देश से बाहर निकाल दिया। ये लोग तो पराक्रमी परंतु सामान्य मनुष्य थे, श्री वेदव्यास के पिता पाराशर भी स्त्री के मोह में फँस गये थे। संसार के आवागमन के चक्र में से निवृत्त न होने देने वाली जो महा वलिष्ट वस्तु है वह स्त्री ही है। केवल स्त्री ही मोह में डालने वाली है, इतना ही नहा किंतु स्त्री संबंधी वस्तुयें भी मोह को प्राप्त करती हैं जैसे नूपुर और चूड़ी का शब्द। वस्त्र, आभूषण आदिक भी स्त्री की स्मृति कराके मोह में डालते हैं। स्त्री का हास्य, गति, चेष्टा, मुख, हाथ, छाती, जंघा आदिक सब अवयव मोह को उत्पन्न करने वाले हैं।

ब्रह्मा का पुत्र नारद भी विश्व मोहिनी से मोह को प्राप्त हुआ था। शंकर, ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्रादिक देवता भी मोह को प्राप्त होकर कलंकित हुए हैं, इसलिये संसार से पार होने की इच्छा वाले मनुष्यों को इससे बचते रहना चाहिये।

विवेकी पुरुष के हृदय में विवेक का निर्मल दीपक तब तक ही प्रकाश करता है जब तक स्त्री के चंचल नेत्रों का कटाक्ष न लगे, अर्थात् विवेकी पुरुषों को भी स्त्री का मोह विवेक से भ्रष्ट कर देने वाला है। नरक द्वार को खोलने वाली चाबी के समान स्त्री की भृकुटी जब तक जगत् में है तब तक शास्त्रों का जानने वाला भी सद्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। पुरुष जब तक स्त्री के मोह में नहीं फँसता तब तक उसमें सब गुण रहते हैं तब तक ही उसमें ममत्व, पांडित्य, विवेक और कुलीनता रहती है। यदि काला सर्प काट खाय तो उसकी औषधि हो सकती है परंतु स्त्री रूप काली सर्पिणी जिसको काटती है, उसके बचने का कोई उपाय नहीं है। स्त्रियों को ये सब लक्षण पुरुष में घटित करनें चाहिये।

रुद्रपुर की स्वतंत्रता नष्ट हो जाने से वहां का समरसिंह नामी एक सरदार पास के एक ग्राम में खेती वाड़ी करके अपना गुजारा किया करता था। एक पुत्री के सिवाय उसके और कोई न था, उसका नाम सुरबाला था। एक वार वीराष्टमी के मेले में बहुत से मनुष्य एकत्र हुए। मेले में वीर पुरुष अपनी अपनी कलायें दिखलाने आया करते थे और उस समय यह रुद्रपुर की

यात्रा योद्धाओं में अति प्रसिद्ध थी। समरसिंह की पुत्री सुरबाला भी इस मेले में आई थी। समरसिंह मल्ल युद्ध करने वाला था, इतने में प्रबल पवन चलने लगा और वर्षा भी होने लगी। सब लोग भागे और आश्रय ढूंढ़ने लगे। स्त्रियों का भी धनुर्विद्या का प्रयोग होने वाला था परंतु विधि को दोष देती हुईं वे भी घर की तरफ भागीं। इतने में आवाज़ आई "अन्धे को बचाओ, अन्धे का कोई हाथ पकड़ो।" सुरबाला ने यह शब्द सुनकर देखा तो समीप के एक वृक्ष के पास एक भीगा हुआ अन्धा दिखाई दिया। सुरबाला दौड़कर उसके पास गई और बोली "चलो! मैं तुमको जहां कहोगे, पहुंचा दूंगी" अन्धे की अन्य इन्द्रियां तीव्र होती हैं। उसने सुरबाला का मधुर स्वर सुना और हस्त स्पर्श से जान लिया कि ले जाने को आई हुई कोई युवा बाला है। यह जानते ही उसमें आश्चर्य जनक विद्युत संचार हुआ। वह भी सर्वाङ्ग सुन्दर एक तरुण था, केवल नेत्रों की ही कमी थी। चलते हुए अन्धा बोला "मेरे सब साथी तूफ़ान से घबरा कर भाग गये, ईश्वर ने तुम्हें सद् बुद्धि दी, नहीं तो मुझे बहुत कष्ट भोगना पड़ता।" सुरबाला ने अन्धे को अपने घर पर लाकर कहा "मेरा पिता आकर तुमको तुम्हारे स्थान पर पहुँचा देगा।" अन्धे ने अपने अन्धे होने की कथा इस प्रकार कही—

मेरा पिता अंबर देश में एक बहुत श्रीमान् और वीर पुरुष था। मैं उसका पुत्र अमरसिंह हूं, मेरे पिता का नाम केसरीसिंह था। एक दिन मेरे ग्राम में बहुत बड़ी आग लगी। मेरा मकान

और जो कुछ था सब स्वाहा होगया, मैं भी झुरस गया था। औषधि करने से आरोग्य होगया परन्तु नेत्र गये सो गये।

सुरवाला ने इस युवान पुरुष को पहिचान लिया परन्तु अपनी पहिचान न दी, वह बोली "हमारे ग्राम में संन्यासी बाबा रहते हैं और अन्धों का इलाज उत्तम प्रकार से करते हैं।" अंधे ने इलाज कराने की सम्मति दी और दूसरे दिन सुरवाला अन्धे को संन्यासी के पास लेगई। संन्यासी ने औषधि लगाना आरंभ किया और थोड़े दिनों में अन्धा दोनों आंखों से देखने लगा।

एक दिन अमरसिंह ने सुरवाला से कहा "इस दीन दास को दृष्टि देकर तूने आभारी किया है अब प्राण दान देकर आभारी कर, जब तू मुझसे प्रथम मिली थी, तब तेरे वचनों से मेरा चित्त चलित हो गया था, तेरे स्पर्श से मैं पागल सा बन गया था और तेरे दर्शन और गुणों ने मेरा सर्वस्व हरण कर लिया है, मेरी गृहणी होने को तू सब प्रकार योग्य है।" सुरवाला क्रोध करके कहने लगी "अमरसिंह! इस प्रकार अयोग्य याचना करते हुए तूने कुछ विचार नहीं किया, तू एक ऐसी कन्या के साथ बातें कर रहा है जिसके गरीब पिता ने तेरे श्रीमंत पिता को एक समय जाकर तेरे साथ मेरा विवाह करने की याचना की थी। धन के मद में मस्त हुए तेरे पिता ने मेरे गरीब पिता को दुतकार देकर निकाल दिया था, यह बात हम इस जन्म में नहीं भूल सकते। मेरा पिता स्वमान की बात चीत को विशेष समझता है। उसकी विशेष दीन स्थिति कराने वाला भी तेरा पिता ही था। मेरा पिता जा

वृद्ध और गरीब है उसके मान की रक्षा करना और उसकी सँभाल करना मेरा धर्म है इसलिये तेरी अयोग्य याचना को मैं स्वीकार नहीं कर सकती।" सुरबाला का दृढ़ वाक् प्रवाह सुन कर अमरसिंह अत्यन्त करुणा जनक शब्दों से बोला "हे सुरबाले! मुझको क्षमा कर, मेरे पिता के अविचारी वर्ताव की मैं तुझसे हजार वार माफी मांगता हूँ, तेरे पिता के हृदय में जो आघात हुआ उसकी मैं कल्पना कर सकता हूँ, वे सब वातें भूल जाने को मैं विनती करता हूँ।"

सुरबाला तिरस्कार करती हुई चली गई। अमरसिंह विचारने लगा "यदि मैं दृष्टि न प्राप्त करता तो अच्छा था जैसे पकवान का स्वाद लेने के बाद ज्वार बाजरे का टुकड़ा अच्छा नहीं लगता इसी प्रकार इसको देखकर सब संसार मुझे निरस मालूम होता है, अब तो मर जाना ही अच्छा है!" इस प्रकार विचार कर आवेश में आकर उसने कमर से कटार निकाली और कहा "धन्य है क्षत्राणी तेरी टेक को! पिता की उद्धतता का बलिदान रूप और तेरे मोह दीपक में आज मैं पतंग स्वरूप स्वाहा होता हूं, हे जगन्नियंता! दूसरे जन्म में सुरबाला जैसी पत्नी ही मुझको प्राप्त कराना, यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है।" इतना कह कर तुरन्त ही कटार अपनी छाती में भोंक दी और यम सदन को प्राप्त हुआ।

स्त्री रूप मदिरा से उन्मत्त होकर अमरसिंह ने अपने प्राण खो दिये। आत्मा अमर होते हुए भी स्त्री के मोह से मरने का अनुभव किया करता है।

अन्धा केवल नेत्रों से ही अन्धा होता है परन्तु जो मदनातुर होता है, वह दशों इन्द्रियों से अन्धा होता है इसीलिये मदनातुर को महा अन्ध कहा है। जिसकी वृत्ति विषयेन्द्रियों के पोषण में ही लगी है वह विवेक भ्रष्ट महा अन्ध है। ऐसा पुरुष पाप और निंद्य कर्म से नहीं डरता, भक्ष्याभक्ष का विचार छोड़ देता है, सुरापान में दोष नहीं देखता। मदनातुर होकर चन्द्र ने गुरु पत्नी गमन करके कलंक को ग्रहण किया है, विश्वामित्र उर्वशी के वश हुए। भर्तृहरि ने कहा है:-कृष, काना, लंगड़ा, कानकटा हुआ, पूछ रहित, अनेक व्रण वाला, पीप से भरा हुआ, अनेक कीड़े जिसके शरीर में पड़े हैं, ऐसा क्षुधा से दुर्बल, घट का मुख जिसके गले में फँस रहा है ऐसा, वृद्ध कुत्ता भी कुत्ती के पीछे दौड़ता है, यह प्रभाव कुत्ता, कुत्ती का नहीं है, यह प्रभाव कामदेव का है। कामदेव मरे हुए को भी मारता है।

एक राजा का प्रधान अत्यन्त कामी था। जब उसकी स्त्री सगर्भ होती थी तब भी वह नव मास पर्यन्त स्त्री संग से रहित नहीं होता था। बालक के जन्म पश्चात् बालक का स्तन पान करना उसे नहीं रुचता था, एक दिन उसने अपनी स्त्री से कहा "प्रसव होते ही बालक को मार दीजो, जिससे अपने रंग भोग में खलल न पड़े, बच्चा जीता रहेगा तो तेरे स्तनों को पान करेगा, तू कृष रहेगी, रोकर काम क्रीड़ा में विघ्न करेगा, जो तू बच्चे को मार न देगी तो मैं दूसरी स्त्री कर लूंगा!" पति के ये वचन सुन कर स्त्री सौत के दुःख से डर गई और विचारने लगी-स्त्रियां कहती

हैं कि सौत चित्र की भी अच्छी नहीं। इस प्रकार विचार कर परवश होकर उसने पति की आज्ञा पालन की। प्रसव होते ही बालक को उसने मार डाला। हाय! कैसा शोचनीय हत्या का कार्य!" सच कहा है "कामांध पुरुष कुछ नहीं देखता।" हम कितना पाप कर रहे हैं यह बात स्त्री पुरुष दोनों ने नहीं जानी। वे बाल हत्या से न डरे। इसीलिये देखते हुए भी न देखने के कारण महा अन्ध थे। व्यभिचार, विधवा गमन, अगम्या गमन, सृष्टि विरुद्ध गमन आदिक में बाल हत्या, गर्भ हत्या होती है, ये सब हत्यायें कामातुर से ही होतीं हैं।

मनुष्य शरीर आत्मा को पहिचानने के निमित्त ही है, अस्वाभाविक विषय भोग के निमित्त नहीं है गाड़ी-वाहन, स्त्री संग और बाग बगीचों में सैर करने के लिये नहीं है। अपनी स्त्री में भी विशेष आसक्ति बन्धन का कारण है तो पर स्त्री के पीछे घूमने वाले का कल्याण तो हो ही नहीं सकता। ऐसे पुरुष इस लोक में ही धिक्कार के पात्र होते हैं क्योंकि भले मनुष्य ऐसों को अपने पास आने नहीं देते। कामातुर मनुष्य तुच्छ जीवों के समान अमूल्य मनुष्य शरीर को व्यर्थ ही गंवाते हैं। जो विषयी अथवा विषयी का स्नेही हो उसकी परछाईं में खड़े रहना न चाहिये। करोड़ों प्रकार के पूजन किये हों, करोड़ों मंत्रों का जाप किया हो, कठिन कठिन तप भी किये हों, जो परयोनि में अपने विन्दु को डालता है उसके सब जप तप और पूजा का नाश हो जाता है, उसे पद पद पर ब्रह्म हत्या लगती है। इसलिये अन्ध अन्ध नहीं

है परंतु जानते हुए देखती आंखों से भी जो मदनातुर-कामातुर है यह ही अन्ध महा अन्ध कहा जाता है।

जगत् में रहने की शोभा कीर्ति है, अपकीर्ति में जीना बुरा है। जो प्रतिष्ठावान् है, जिसकी कीर्ति फैल रही है, ऐसे की अकीर्ति होना मरण से भी विशेष है। संसार में मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है कि स्वधर्म के सेवन पूर्वक बहुत काल तक रहकर यश रूप चन्द्रमा के उदय होने का प्रयत्न करे। इससे बढ़कर यहां और परलोक में अन्य विशेष सुख नहीं है। अपने वर्णाश्रम के धर्म को त्याग कर, मद्यपान, मांस भक्षण, पर स्त्री संग, ऐसा कर्म करने वालों की संगति आदिक दुष्टाचरण से अकीर्ति होती है। सन्मार्ग में चलने वालों का लोग गुण गाते हैं, सबके हृदय में ऐसों की प्रतिष्ठा होती है। अपने कानों से अपनी अपकीर्ति सुननेसे मरना अच्छा है क्योंकि अपयश कीर्ति का नाश करने वाला है। एक समय की अपकीर्ति निकालने से भी नहीं निकलती। अपकीर्ति वाले का कोई विश्वास नहीं करता, आदर नहीं करता और सब उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। विचार कर देखा जाय तो शरीर नाशवान् मालूम होता है और उसकी अपेक्षा कीर्ति अमर दीखती है। राम रावण को बहुत समय हो गया है तो भी राम की प्रशंसा और रावण की अपकीर्ति जगत् में प्रसिद्ध है। अपकीर्ति का लगा हुआ दाग छोड़े से भी नहीं छूटता इसका एक दृष्टान्त इस प्रकार है:—

भगवानदास नाम का एक वैश्य अति श्रीमान् था। उसकी कई दुकानें और कोठियां चलती थीं, उसके यहां जाति भोजन

आदिक बहुत उत्तम प्रकार से हुआ करते थे। वह दयालु था और लोगों में उसकी विशेष प्रतिष्ठा थी। एक दिन उसने अपने जाति भाइयों को भोजन कराया। यह भोजन कराना किसी एक प्रसंग के निमित्त था। भोजन के लिये खीर पूरी बनाई गई थी, साथ में रायता, चटनी, पापड़ आदिक अनेक प्रकार के नमकीन मीठे मुरब्बे आदिक पदार्थ भी थे, पूर्ण उत्साह और पूरे दाम लगाकर भोजन बनवाया था। सब जाति भाई शाम को चार बजे भोजन के निमित्त आ बैठे। प्रथम अन्न भोजन हुआ तब मालूम हुआ कि खीर खट्टी होगई है। अब क्या हो सकता था, मनुष्य बहुत थे। हजार मनुष्यों की खीर का दूध इस समय मिल नहीं सकता था, लाचार वह ही खट्टी खीर सबको खिलानी पड़ी। भगवानदास को बहुत बुरा मालूम हुआ परन्तु कुछ इलाज न था। "अनेक पीढ़ियों से चली आई हुई प्रतिष्ठा आज जा रही है, हमारे यहां कभी भी ऐसा भोजन नहीं हुआ है कि किसी को कुछ कहने का अवसर मिले" ऐसा विचार करता हुआ भगवानदास बहुत दुःखी हुआ।

सब लोग भोजन करके चले गये। ग्राम भर में खट्टी खीर की कथा फैल गई। कोई मनुष्य ऐसा न था जिसने खट्टी खीर की कथा न सुनी हो। भगवानदास बहुत बड़ा साहूकार होने से बहुत लोग उसके यहां आया जाया करते थे। छोटे बड़े, जाति और परजाति वाले, सबका इससे कुछ न कुछ प्रसंग पड़ता था। लोगों ने अब उसका नाम तो लेना छोड़ दिया और खट्टी खीर

वाला नाम रख दिया। इस नाम की प्रसिद्धि किसी अखबार और इश्तिहार विना ही बहुत जल्दी हो गई। सब स्थानों पर यह ही नाम प्रसिद्ध हो गया। जब भगवानदास को खबर हुई कि लोगों ने मेरा नाम खट्टी खीर वाला रक्खा है तब उसने इस नाम के निकाल देने को जाति के सब मनुष्यों को एकत्र किया और बहुत प्रार्थना की कि एक खीर के भोजन के बदले चार खीर का भोजन देता हूं आप लोग मेरा नाम खट्टी खीर वाला न रखिये। कितनेक अच्छे मनुष्यों के कहने से सब ने चार वार भोजन जीम कर खट्टी खीर वाला नाम निकाल देने को स्वीकार किया। दूसरे दिन से खीर पूरी का भोजन आरम्भ हुआ। चौथे दिन जब कई लोग भगवानदास के यहां से भोजन कर घर लौट रहे थे तब मार्ग में एक मनुष्य मिला उसने पूछा कि आज आप कहां से भोजन करके आरहे हैं। तब उन्होंने कहा कि भगवानदास साहूकार के यहां से। उस मनुष्य ने पूछा कि कौन भगवानदास ? तब लोगों ने कहा कि जो अमुक २ स्थान पर रहता है, अमुक स्थान पर कोठी है. उसके यहां भोजन करके आरहे हैं। फिर भी वह न समझा तब एक मनुष्य बोल उठा कि खट्टी खीर वाले के यहां भोजन करने गये थे।

नाम पड़ गया सो पड़ गया। बहुत खर्च करके भी नाम न निकला। अब भी वहां के लोग उसके वंशजों को इसी नाम से पुकारते हैं।

इस प्रकार अकीर्ति की निवृत्ति नहीं होती। तब अकीर्ति करना ही न चाहिये, सद् बर्ताव करना और शुभ कार्य करना

चाहिये। कीर्ति का अभिमानी भी न होना चाहिये। सत्कार्य करने वाला शुद्ध अन्तःकरण होकर ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जन्म की सार्थकता आत्म ज्ञान ही वास्तविक कीर्ति है। मनुष्य जन्म पाकर परम पुरुषार्थ न साधे तो यह ही महा अपकीर्ति है और अनेक जन्म मरण का हेतु है ॥६॥

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा,
शिष्यस्तु को यो गुरु भक्त एव ।
को दीर्घ रोगो भव एव साधो,
किमौषधिं तस्य विचार एव ॥७॥

अर्थः—प्रश्नः-गुरु कौन है? उत्तरः-जो हित का उपदेश करे सो। प्रश्नः-शिष्य कौन है? उत्तरः-जो गुरु भक्त हो सो। प्रश्नः-सब से बड़ा रोग क्या है? उत्तरः-संसार, जिसमें बारम्बार जन्म मरण हुआ करता है। प्रश्नः-उस रोग की औषधि क्या है? उत्तरः-परब्रह्म का विचार।

छप्पय।

गुरु कहलावे कौन, उसे कैसे पहिचाने।
देवे हित उपदेश, क्लेश हर गुरु सो जाने॥
योग्य शिष्य है कौन, युक्त लक्षण क्या उसके।
शिष्य जानिये सोहि, पूर्ण गुरु भक्ती जिसके॥
कठिन रोग है कौनसा, साधो! यह संसार है।
क्या है उसकी औषधी, करना सत्य विचार है॥७॥

विवेचन ।

गुरु शब्द गु और रु दो से बना है। गु का अर्थ अन्धेरा है और रु का अर्थ नाश करना है। जो अन्धेरे का नाश करे— प्रकाश करे उसे गुरु कहते हैं। महान् अन्धेरा अज्ञान का है, जो अज्ञान का नाश कराके आत्मप्रकाश करादे वह ही गुरु है। जगत् में अनेक प्रकार के हित समझे जाते हैं परन्तु वे हित वास्तविक नहीं हैं, वास्तविक हित वह होता है जो कभी भी न हटे। संसार दुःख रूप है इसलिये संसार के दुःखों की ,अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति सच्चा हित है। उस हित का जो उपदेश करे वह सद्गुरु है। जो स्वयं जीवन्मुक्त है और अन्य अधिकारियों को भी सच्चा उपदेश देता है, जिससे शिष्य का सर्वोच्च हित होता है, ऐसा पुरुप ही गुरु शब्द के योग्य है। ऐसे गुरु की प्राप्ति भी महा पुण्य के प्रभाव से होती है।

नामधारी, कंठी बंधन मात्र में ही गुरुत्व की सिद्धि मानने वाले स्वार्थी साधुओं से कभी कल्याण होना संभव नहीं है। ऐसे गुरु अनेक प्रकार की कामनाओं से भरे हुए होते हैं, वेद मार्ग की मर्यादा शून्य होते हैं। जगत् को सत्य कहने वाले, स्त्री लंपट को सच्चे मुमुक्षु बकरी के गले में लगे हुए स्तन के समान मिथ्या समझते हैं। ऐसे गुरु अपना और शिष्य का दोनों का नाश करने वाले हैं। वे गुरु नहीं हैं, गुरु के वेप में पक्के ठग हैं। जिनसे लौकिक हित ही नहीं हो सकता, वे पारमार्थिक हित का उपदेश किस प्रकार दे सकते हैं? जब वे स्वयं ही अज्ञान की मूर्ति हैं तब

ज्ञान प्रकाश किस प्रकार करें। ऊपर के मंत्र में हितोपदेश के कहने से ऐसे गुरुओं का त्याग ही बतलाया है। योग वासिष्ठ में ऐसे गुरुओं की गति विषे लिखा है:—अज्ञानी गुरु जब देह त्यागता है तब कुत्ता होता है और शिष्य उसका कलीला होता है क्योंकि उसने शिष्य को असत्य उपदेश करके उसका धन हरण किया है इसलिये कलीला होकर उसके शरीर में चिपट कर उसका रुधिर चूसता है, पीछे गुरु वृक्ष होता है और शिष्य वागोल होकर उसमें चिपटता है। जो विषयों का त्याग कराने वाला है वह ही सच्चा गुरु है। लोभ रहित, ज्ञान मूर्ति और विषयों का त्यागी ही शिष्य को मोक्ष का उपदेश करता है, वह ही गुरु है। संस्कृत, प्राकृत, गद्य और पद्य वाक्यों से अथवा देश भाषा से जो उपदेश करता है, जो शिष्य की शंकाओं का भली प्रकार समाधान करता है, जो शास्त्र और अनुभव संपन्न है और जो शुभ स्वभाव का है वह ही गुरु है। ऐसे ज्ञानियों में वासना नहीं होती, किसी के सहारे नहीं टिकते और राग द्वेष रहित होते हैं और जैसा प्रारब्ध होता है उसी प्रकार की चेष्टा करने वाले होते हैं। उनको किसी स्थानपर जाने की इच्छा नहीं होती। जैसे सूखा पत्ता वृक्ष से पृथिवी पर गिर कर जहां वायु ले जाता है, वहीं जाता है इसी प्रकार प्रारब्ध वायु जिस दिशा में ले जाता है वहां ही जाते हैं। मान रहित, कामना रहित और क्रोध रहित सद्‌गुरु होते हैं।

जो गुरु की भक्ति करता है वह शिष्य है, जो ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों से युक्त है, तत्त्वोपदेश ग्रहण करने की शक्ति

वाला है, उपदेश के अनुसार मन, वाणी और काया से वर्तने वाला है और जैसी ईश्वर में भक्ति है ऐसी ही भक्ति गुरुमें रखने वाला है वह ही शिष्य कहलाता है। शास्त्रों में गुरु महिमा इस प्रकार कथन की है:—

गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु महेश्वर है, गुरु ही परब्रह्म है; गुरु की भक्ति किये विना अन्य प्रकार की भक्ति से ईश्वर प्राप्ति नहीं होती। गुरुगम्य विद्या गुरु भक्ति से, गुरु के उपदेश और प्रसन्नता से ही प्राप्त होती है। तीनों लोकों में देव, असुर, पन्नग, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवर्षि, पितृ, किन्नर, सिद्ध, चारण और अन्य मुनि लोगों से गुरु श्रेष्ठ है, सब तीर्थोंमें गुरुही उत्तम तीर्थ है। ईश्वर से भी गुरु अधिक है क्योंकि ईश्वर का कोप हो तो गुरु उस कोप की शांति करा सकते हैं परंतु गुरु के कोप की शांति ईश्वर भी करने को समर्थ नहीं है।

तुलसीकृत रामायण में काग भुशुंडि और गरुड़जी के संवाद में वर्णन है:—"जो शिष्य सद्गुरु का परित्याग करके अन्य का सेवन करता है वह नरक में पड़ता है।" वृक्ष में जो फल लगता है यदि वह उसी पर पकता है तो स्वादिष्ट होता है, यदि वह जल में या पृथ्वी पर अपक ही गिर जाय तो सूख अथवा सड़जाता है, यद्यपि वृक्ष पर भी उसी जल और पृथ्वी से वृद्धि को प्राप्त होकर पकता है इसी प्रकार गुरु शिष्य को समझना चाहिये। वृक्ष सद्गुरु है, शिष्य फल है, ईश्वर जल है और शास्त्र पृथ्वी है, अभिमान करके गुरु का त्याग करना शिष्य का

गिरता है, गिरा हुआ शिष्य ईश्वर और शास्त्र करके पकता नहीं है—कल्याण को प्राप्त नहीं होता। गुरु विना शास्त्राभ्यास करने से अभिमान उत्पन्न होता है, अभिमान ज्ञान की प्राप्ति न कराके नरक में खींच ले जाता है, निंद्य शिष्य मक्खी के समान है। मक्खी शरीर के उत्तम अङ्ग को त्याग कर पीव के ऊपर ही आकर बैठती है वैसे ही निंद्य शिष्य गुरु के दोष के ऊपर ही आकर टिकता है, उनके अगणित गुणों को नहीं देखता। ऐसा खल पुरुष ईश्वर भजन भी नहीं कर सकता इसलिये ईश्वर का कोप पात्र ही होता है। गुरु भक्ति करना उसे कठिन मालूम देता है, अन्य प्रतिमा आदिक की भक्ति तो सहज बन सकती है क्योंकि उसमें अपनी इच्छानुसार वर्तना होता है। प्रतिमा अथवा ईश्वर भक्त को रोक टोक करने नहीं आता और गुरु भक्ति में तो अपनी इच्छानुसार चल नहीं सकता। जिसके पूर्व पुण्य का प्रभाव होता है वह ही योग्य शिष्य होकर गुरु की आज्ञा पालन कर परम पुरुषार्थ को सिद्ध कर सकता है।

गुरु का वचन परमेश्वर का ही वचन है। परमेश्वर ने अपना ज्ञान प्राप्त कराने के निमित्त गुरु को निर्माण किया है, गुरु से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है, परमात्मा से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती इसलिये जो गुरु आज्ञा का पालन नहीं करता वह गुरु और ईश्वर दोनों ही की आज्ञा पालन न करने से नरकगामी होता है। जिसने गुरु के वचनों का उल्लंघन किया है, उसने वेद, शास्त्र, ऋषि, मुनि, सब के ही वचनों का उल्लंघन किया है। प्रतिमा अवाक् है, गुरु वाणी वाला है इसलिये शिष्य

को प्रथम गुरु का ही सेवन करना चाहिये और गुरु की भक्ति तन, मन और धन से करनी चाहिये। गुरु को अपना सर्वस्व अर्पण करके ही शिष्य वृत्ति ग्रहण की जाती है ऐसे शिष्य को सद्गुरु द्वारा कल्याण होने में संदेह नहीं है। जिस ब्रह्मनिष्ठ गुरु ने जिस योग्य शिष्य को 'यह मेरा शिष्य हुआ' इस भाव से ग्रहण किया है उस शिष्य को भी धन्य है क्योंकि उसे ज्ञानके होने में अब विलम्ब नहीं है। सद्गुरु के उपदेश के बदले में यदि कोई तीनों लोकों का राज्य भी देदे तो भी उपदेश के बदले में कोट्यांश भी नहीं होता। शिष्य को ज्ञान के अधिकारी बनने में शास्त्र में जो साधन कहे हैं वे प्राप्त करने होंगे। वे साधन इस प्रकार हैं:-विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता। आत्मा अविनाशी, अक्रिय है और जगत् उससे विरुद्ध स्वभाव का है, ऐसे ज्ञान को विवेक कहते हैं। ब्रह्म लोक पर्यन्त जितने भोग हैं वे नाशवंत हैं, ऐसा जानकर उन पर तिरस्कार होना वैराग्य है। शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा का होना, षट् सम्पत्ति कही जाती है। संसार की अत्यंत निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप जो मोक्ष है उसकी इच्छा का होना मुमुक्षुता है।

महादेव भोलानाथ कहे जाते हैं। अतिशय भोलापन बहुधा कष्टदायक होता है। भस्मासुर नाम का एक दैत्य था। दैत्य तपस्या करने में अति तीव्र होते हैं और तपस्या करके ऐसे ऐसे वरदान प्राप्त करते हैं कि जिनसे देवताओं का भी नाक में दम आ जाता है, ऐसे दृष्टांत पुराणों में अनेक दीख

पड़ते हैं। भस्मासुर दैत्य ने महादेव की तपस्या की। उग्र तपस्या से महादेवजी प्रसन्न होकर बोले 'वरं ब्रूहि' (वरदान मांग) तब भस्मासुर ने कहा "भोलानाथ! मुझे ऐसा वरदान दीजिये कि मैं जिसके शिर पर हाथ रख दूं, वह ही जल कर भस्म हो जाय!" महादेवजी ने तथास्तु कहा। ज्योंही महादेवजी चलने लगे त्योंही भस्मासुर को विचार हुआ कि देखूं महादेवजी का दिया हुआ वरदान सच्चा है या झूंठा। ऐसा विचार कर वह महादेवजी से कहने लगा "आप क्षण भर ठहरिये मैं आपके सामने ही वर की परीक्षा कर लूं" ऐसा कह कर वह महादेवजी के शिर पर ही हाथ धरने चला। महादेवजी भागने लगे, भस्मासुर उनके पीछे भागने लगा। भस्मासुर की आंतर इच्छा यह थी कि पार्वती बहुत सौन्दर्यवती है, महादेव के शिर पर हाथ रखने से वे भस्म हो जायगे और मैं पार्वती को ले लूंगा क्योंकि मुझे रोकने में और कोई समर्थ नहीं है। महादेव घबराते हुए भाग रहे थे। विना विचार, योग्यता देखे विना दिये हुए वरदान का कष्ट उठा रहे थे। महादेव की यह दशा देख कर विष्णु को दुःख हुआ इसलिये मोहिनी सौन्दर्य वाली स्त्री का स्वरूप धारण करके महादेव का दुःख निवृत्त करने को भस्मासुर के सामने आये उसे देखते ही भस्मासुर की दृष्टि महादेव पर से हट कर मोहिनी में लग गई। मोहिनी की विषयोत्तेजक मुसकान से भस्मासुर मुग्ध हो गया और बोला "हे सुन्दरी! मैं तेरी कामना वाला हूं, मैं तेरा क्या हित करूं?" मोहिनी बोली "मैं पार्वती हूं, महादेवजी का नृत्य मुझे अति प्रिय है इसलिये मैं

महादेव की हूं !" भस्मासुर बोला "बाले ! मैं भी नृत्य करके तुझे प्रसन्न कर सकता हूं !" मोहिनी बोली "तब मेरे सामने नृत्य कर !" भस्मासुर बोला "हे मनमोहिनी ! महादेवजी कैसे नृत्य करते हैं ? तू मुझे दिखलाती जा वैसे ही मैं नृत्य करूंगा।" मोहिनी नृत्य करने लगी। वह जो जो चेष्टा करती, उसी प्रकार सब चेष्टा भस्मासुर करने लगा। जब मोहिनी ने देखा कि भस्मासुर का चित्त मेरी क्रिया की नकल करने में लगा है, दूसरा कुछ भी होश नहीं है तब उसने नाचते हुए अपना हाथ अपने शिर पर रक्खा। भस्मासुर भी वैसा ही करने लगा और उसी क्षण भस्म हो गया। मोहिनी ने अपना स्वरूप त्याग दिया और महादेव निर्भय हुए।

महादेव ज्ञाननिष्ठ सद्गुरु थे परन्तु योग्य विचार रहित होने से भस्मासुर को हितोपदेश देने से भी इस समय पर वरदान दाता होने पर भी वे भस्मासुर के गुरु न थे। इसी प्रकार भस्मासुर अधिकारी के लक्षण वाला न होने से और गुरु के ही अहित और घात करने की इच्छा वाला होने से दुष्ट था, शिष्य नहीं था। योग्य शिष्य और योग्य गुरु न होने से दोनों ने ही कष्ट उठाया; शंकर के हितकर मोहिनी स्वरूप विष्णु ही थे इसलिये इस समय वे ही गुरु थे।

राजा जनक ज्ञानियों में श्रेष्ठ हुआ है। यद्यपि सब ज्ञानी एक ही समान हैं तो भी जनक की विशेषता इस निमित्त है कि राज्य

व्यवहार करते हुए भी वह जीवन्मुक्त था। जब वह मुमुक्षु था तब भी उसकी मुमुक्षुता वृत्ति और शिष्य भाव तीव्र था। यों तो वह शास्त्रज्ञ था और अनेकों से उपदेश ले चुका था परन्तु उसकी यह प्रतिज्ञा थी कि रकाब में एक पैर रखते ही ब्रह्म साक्षात्कार करा देने वाला जो कोई मुझे मिलेगा उसे मैं अपना गुरु बनाऊंगा। भाव यह था कि एक पैर रकाब में रख कर घोड़े पर बैठ जाने में जितना समय लगता है उतने समय में ब्रह्म का अपरोक्ष बोध करा देने वाला चाहिये। वह जिस प्रकार के गुरु की खोज में था उसी प्रकार शिष्य भाव से भी पूर्ण था। एक बार अष्टावक्र मुनि उसे मिले। सत्कार पूर्वक गुरु बनाने में जो निश्चय उसने कर रक्खा था, कह दिया। अष्टावक्र ने कहा कि यदि तुझमें पूर्ण शिष्य भाव होगा तो मैं तुझे इसी प्रकार उपदेश देकर ब्रह्म प्राप्ति करा दूंगा। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, साज सहित घोड़े को तैयार करके घोड़े क एक रकाब में उसने एक पैर रक्खा। अष्टावक्र बोले कि यदि तू शिष्य बनना और मुझसे उपदेश लेना चाहता है तो प्रथम गुरु दक्षिणा दे। राजा ने कहा कि जो आप कहें सो मैं देने को तैयार हूं। अष्टावक्र ने कहा कि तू अपना तन, मन और धन मुझे देदे। राजा ने पानी लेकर तन, मन, धन देने का संकल्प किया। संकल्प करने के बाद उसने कहा कि आप उपदेश दीजिये। अष्टावक्र बोले कि तू अपनी प्रतिज्ञा से विरुद्ध जाता है, तूने अपना मन अर्पण कर दिया है तेरा मन उपदेश करने का संकल्प नहीं कर सकता, तूने अपना शरीर मुझे अर्पण कर दिया है, इस शरीर के मुख

से तू बोल नहीं सकता। अब तेरा मन शरीर और राज्य की वस्तुओं सहित राज्य कहां है ?

जनक विचारने लगा कि बात तो ठीक है, फिर ख्याल आया कि मैं इस प्रकार मन से विचार नहीं कर सकता। तब तो वह मन से विचार रहित होकर शरीर से जैसा खड़ा था, वैसा ही खड़ा रह गया और ठूंठ के समान हो गया। तब मुनि बोले कि मैं तेरे दिये हुए मन को उपदेश समझने के लिये तुझे देता हूं, उपदेश समझ कर मुझे लौटा दीजो, तूने अपना तन, मन और सब धन मुझे दे दिया है, उन सब के देने के बाद जो शेष रहा वह तेरा आत्मा है वह ही परमात्मा है, इस प्रकार मन को मुझे लौटा कर आत्मा से आत्मा को जान। राजा पूर्ण मुमुक्षु और अधिकारी के साधन सम्पन्न था, अष्टावक्र गुरु पर पूर्ण भक्ति थी, ऋषि के कहे अनुसार उसने आत्म बोध प्राप्त किया। मुनि ने पूछा कि क्यों तुझे बोध हुआ। राजा ठूंठ के समान ही रहा, न उसने कुछ सुना और न कुछ उत्तर दिया। मुनि समझ गये कि उसको उपदेश हो गया तब कहने लगे कि मैं अपने साथ बात चीत करने को तन और मन देता हूं, अब मैं पूछता हूं कि तुझको बोध हुआ। राजा प्रणाम करके बोला कि सब हो गया, आप महान् सद्गुरु हैं जैसी मेरी इच्छा थी ऐसे ही गुरु और उपदेश दोनों ही प्राप्त हुए। अष्टावक्र बोले कि मैंने प्रथम जब पूछा था तब तूने उत्तर क्यों नहीं दिया। राजा बोला कि आपने पूछा इसकी मुझे खबर न थी, खबर करने वाला मन मेरे पास न था और बोलने वाला शरीर भी नहीं था, न इन्द्रियों ने सुना।

जब मन को मालूम हुआ तब मुख ने कहा। अष्टावक्र बोले कि धन्य है तुझको! जैसा मेरा उपदेश है, वैसा ही ग्रहण करने वाला योग्य शिष्य तू है, तेरा तन, मन और राज्य रूपी सब धन मेरा हो चुका है, वे सब मेरे ही हैं, मैं उन्हें अपनी तरफ से राज्य करने के निमित्त तुझे देता हूं, उनसे भली प्रकार राज्य कर, और अपना स्वरूप जो तूने जाना है उसमें टिका रह। गुरु की आज्ञा मान कर राजा राज्य करता रहा और मुक्त भी बना रहा।

राजा जनक तीव्र बुद्धि वाला, गुरुभक्त शिष्य था और उसके योग्य विलक्षणता से उपदेश करने वाले, हितकर सद्गुरु अष्टावक्र थे। जब शिष्य योग्य और गुरुभक्त होता है और गुरु भाव को सार्थक करने वाला गुरु होता है तभी शिष्य का कल्याण होता है।

रोग अनेक प्रकार के हैं और रोगों की संख्या से रोगी अनेक प्रकार के हैं। कोई काना होता है, कोई अंधा, कोई लूला, कोई टोंटा, कोई कुष्ठी, कोई पिंड रोगी, कोई अतिसार वाला, कोई संग्रहणी वाला, कोई भगंदर वाला, कोई क्षय वाला, कोई ज्वर वाला, कोई उदर रोगी, कोई बहरा, कोई नेत्र रोगी, कोई पीनस वाला, कोई प्रमेह वाला और कोई विशूचिका वाला होता है। ये सब रोग एक महान् रोग के सामने क्षुद्र हैं। उन सब रोगों और उनके उपद्रव की भूमि शरीर है। शरीर के साथ सब रोगों का नाश हो जाता है परन्तु जिसमें शरीर उत्पन्न होता है ऐसा भव-संसार रूपी रोग महान् है जो असाध्य सा ही है। जिसको

संसार रूपी रोग लगा हुआ है वह चौरासी लक्ष योनियों में वारंवार जन्म मरण रूपी अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता है। अनेक प्रकार के रोग जिसमें होते हैं, वह रोग का घर शरीर है और जिसमें शरीर होता है, ऐसा शरीरों की जड़ संसार है। संसार ही महा विष है जो वारंवार मारन वाला है, इसलिये वह ही महा रोग है। जिसका जन्म मरण रूपी संसार निवृत्त नहीं हुआ है, वह भले ही अश्व पर बैठे, हाथी की सवारी करे, पालकी में चढ़े, मोटर में दौड़े अथवा वायुयान में उड़े, महा बलवान् हो, ऐश्वर्य से संपन्न हो, अनेक प्रकार के भोग भोगे, अनुचर लोग क्षमा क्षमा शब्द का उच्चारण करते हों, चांदी सोने के बने हुए रत्नजटित सुन्दर पर्यंक पर शयन करे और सुन्दर वस्त्रों से निरन्तर वेष्टित रहता हो, तो भी महा रोगी ही है। कोई मनुष्य एक मास तक बीमार रहे, एक मास तक कुछ न खाय, खाट पर भी उठने बैठने की शक्ति न हो, ऐसे मनुष्य को रात्रि में स्वप्न में यह दीख पड़े कि मैं घोड़े पर सवार हुआ हूं, मिष्टान्न भोजन कर रहा हूं, कुश्ती लड़ रहा हूं और महा बलवान् हूं। जिस प्रकार यह मनुष्य स्वप्न में आनन्द को प्राप्त होता है, यह आनन्द जब तक स्वप्न रहता है तब तक ही रहता है, निद्रा खुलने पर कुछ नहीं रहता तैसे ही जाग्रतावस्था में मनुष्य जानता है कि मैं भाग्यशाली हूं, मेरे पुत्र, पुत्री, स्त्री, घर और द्रव्य है, नाना प्रकार के वाहन हैं, अनुचर हैं। ये सब तब तक ही रहते हैं जब तक प्रारब्ध समाप्त नहीं होता। जैसे स्वप्न वाले के स्वप्न के पदार्थों का जागने पर नाश होता है इसी प्रकार प्रारब्ध का क्षय

होने से माने हुए सब शारीरक सुखों का नाश होता है और दृढ़ वासना वाला मरने के बाद चौरासी लक्ष योनियों में भटकता है। जिसमें इस प्रकार के दुःख होते हैं, वह महा रोग संसार है। इस संसार रूपी महा रोग की निवृत्ति किस प्रकार हो, इसका विचार करना चाहिये। जैसे भौतिक रोग की औषधि भी भौतिक होती है इसी प्रकार अविचार से सिद्ध संसार रोग की औषधि विचार है।

मैं कौन हूँ, यह संसार क्या है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार है और निवृत्ति किस प्रकार है। इस प्रकार के विचार को विचार कहते हैं। अनेक प्रकार के शास्त्र विधि युक्त कर्मों को निष्कामता से करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है परन्तु आत्म ज्ञान नहीं होता। करोड़ों कर्म करने से भी आत्म ज्ञान नहीं होता। आत्म ज्ञान विचार से ही होता है। पुत्र, धन और ऐश्वर्य से ज्ञान प्राप्ति नहीं होती किंतु सद्गुरु के वचन और विचार से स्वरूप का निश्चय होता है। स्नान से, दान से और प्राणायाम से ज्ञान नहीं होता इसलिये जिसको आत्म स्वरूप जानने की तीव्र इच्छा हो, जिसको संसार दुःख रूप हो, जो शिष्य के लक्षणों से युक्त हो; उसे दया के समुद्र स्वरूप, ब्रह्म वेत्ताओं में उत्तम गुरु के समीप जाकर आत्म तत्त्व का विचार करना चाहिये।

विचार इस प्रकार करना चाहियेः—मैं कौन हूं ? मैं श्यामसुन्दर हूँ, नहीं ! यह नाम मैं नहीं हूं ! क्योंकि इस नाम को मेरे माता पिता आदिक ने ज्योतिष के आधार से रक्खा है और यह

नाम तो शरीर का है, मेरा नहीं है। तब क्या रूप वाला शरीर में हूँ ? नहीं। यह शरीर तो माता पिता के खाये पिये रसों से बना है, शरीर ने जन्म धारण किया है, इसलिये शरीर की आदि में भी मैं था, तब मैं शरीर किस प्रकार होऊं ? जब कोई मर जाता है तब शरीर तो यहां ही पड़ा रहता है और अमुक चला गया—मर गया ऐसा कहते हैं इसलिये शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर तो प्रत्यक्ष स्थूल रूप है, पंच भूतों के पंचीकरण से बना हुआ है, जो मैं ऐसा स्थूल होता तो जन्मने के समय लोग मुझे आता हुआ देखते, इसलिये स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ। स्थूल शरीर में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पांच भूत दीखते हैं, वे पांच भूत मैं नहीं हूँ। स्थूल शरीर में सप्त धातु हैं और तीन गुण हैं, वे सब ही अशुद्ध हैं, मैं अशुद्ध नहीं हूँ इसलिये स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ मैं तो उससे विलक्षण हूँ। तब क्या मैं मनुष्य हूं ? नहीं। मैं तो अनेक योनियों में जाने वाला होने से मनुष्य नहीं हूं, मनुष्य तो संसारी है, पशु, पक्षी, आदिक भी संसारी हैं। शास्त्र में सुना गया है कि मैं तो संसार से रहित हूँ। क्या स्थावर जंगम पदार्थ संसार है ? क्या मेरा उनसे संबंध है ? नहीं। वे तो नाश वाले हैं, मेरा आत्मा नाश रहित है, इसलिये न मैं संसार हूं न संसारी हूँ ! तब क्या सूक्ष्म शरीर मैं हूँ ? नहीं। वह भी पंच भूतों का बना है, विकारी है, आने जाने वाला है, मैं सूक्ष्म शरीर से भी कोई विलक्षण हूँ। स्थूल, सूक्ष्म सब संसार अज्ञान का कार्य है, मैं तो ज्ञान स्वरूप हूँ। संसरना ही संसार है, संसरना छोड़ संसार कहीं नहीं है, संसरना अज्ञान में होता है, मुझमें अज्ञान नहीं है। अज्ञान से

ज्ञान का विरोध है, मुझ ज्ञान स्वरूप को अज्ञान से क्या संबंध ? शब्द प्रतीति का अविषय मैं-आत्मा पंच भूतों का समुदाय रूप स्थूल और सूक्ष्म देह नहीं हूं, उन दोनों का कारण भी नहीं हूँ, वे सब दृश्य हैं, मैं-आत्मा उनका द्रष्टा हूँ। इन्द्रियादिक भी मैं नहीं हूँ क्योंकि वे जड़ हैं और पंच भूतों का कार्य हैं। जब वे सब मैं नहीं हूँ, तब क्या मैं शून्य हूँ ? यह किस प्रकार बने ? मैं तो सबको जानता हूँ, शून्य में ज्ञातापना नहीं हो सकता। जब मैं शून्य हूँ ऐसा कहता हूँ तो मुझ शून्य के जानने वाले का कौन निषेध कर सकता है ? जहां कुछ भी नहीं है वहां मैं तो हूं ही। शास्त्र कहते हैं कि मैं आत्मा, एक अविनाशी तत्त्व हूं। यह संसार क्या है ? अविद्या का कार्य है, तब उसका कर्ता कौन है ? मैं तो अविकारी अकर्ता हूं, इसलिये संसार का कर्ता मैं नहीं हूं, तब संसार का कर्ता कोई ईश्वर होगा। यह कैसे बने ? जब कर्ता मैं ही नहीं, तो महान् ईश्वर में विकार कैसे हो सकता है ? संकल्प विकल्प कैसे हो और संकल्प विकल्प विना कर्ता बने कैसे ? शास्त्रों और संतों के मुख से मैंने सुना है कि जगत् झूठा है। ठीक तो है, संसार अज्ञान का कार्य है और अज्ञान कोई वस्तु नहीं है, भ्रम है, तब भ्रम का कार्य झूठा हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जब संसार है ही नहीं तब उसको उत्पन्न करने वाला कौन हो, न होता हुआ संसार दीख रहा है और दुःख का अनुभव कराता है। दूसरी रीति से समझा जाय तो संकल्प ही जगत् का कर्ता है, कामना से संकल्प किये जाते हैं, संकल्प ही दृढ़ भावसे दृश्य रूप से दीखता है वह ही संसार है। संकल्प सूक्ष्म शरीर में

होता है, जब सूक्ष्म शरीर ही अविद्या का-मिथ्या है तब उसमें से होने वाले संकल्प भी मिथ्या हैं। जब संकल्प मिथ्या हैं, तब उनसे बना हुआ संसार मिथ्या है। जैसे मृत्तिका के घड़े का उपादान कारण मृत्तिका है, ऐसे ही संसार का उपादान कारण अविद्या है। अविद्या से उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है, जिसमें ये तीनों होते हैं, वह ही अविकारी सबका आदि कारण है। जगत् अध्यस्त है और परब्रह्म अधिष्ठान रूप है, जो परब्रह्म है, वह ही आत्मा है। मैं जिनके लिये भटकता हूँ वे सब दृश्य मुझमें हैं, मैं सबका आधार हूँ, तो भी अविद्या से दुःखी हो रहा हूं, हाय! कितना अनर्थ कर रहा हूं। मिथ्या होते हुए भी जिस प्रकार रस्सी में दीखता हुआ सर्प भय और दुःख का कारण होता है इसी प्रकार न होता हुआ जगत् भी दुःख का कारण है। जब रस्सी का यथार्थ बोध होता है तब अज्ञान जनित सर्प से दुःख की निवृत्ति होती है। अब मैं विचार को प्राप्त हुआ हूँ, अब मैं अवश्य परब्रह्म को प्राप्त होऊंगा। ब्रह्म सत्य है, तीनों काल से अबाधित है, तीनों काल में उसका नाश या अभाव नहीं होता। जैसे जब सर्प दीखता है और भय होता है तब भी रस्सी ही होती है और जब रस्सी दीखती है तब भी रस्सी ही है, ऐसे ही ब्रह्म में कभी किंचित् विकार नहीं होता। मन, वाणी, आदिक इन्द्रियां ब्रह्म को पहुँच नहीं सकतीं—जान नहीं सकतीं क्योंकि वे मायिक हैं, परब्रह्म तो जाति, क्रिया, रूप आदि से रहित है।

इस प्रकार विचार करते हुए 'तत्त्वमसि' महावाक्य को जानना चाहिये। मेरे संकल्प से शरीर सत्य है तो ईश्वर के संकल्प

से ब्रह्मांड सत्य है। मेरा जैसा छोटा अन्तःकरण है इसी प्रकार ईश्वर का बड़ा अन्तःकरण होगा। जब मेरी अल्पज्ञता उपाधि है तब ईश्वर की सर्वज्ञता उपाधि है। जब मैं त्वं पद हूँ तब ईश्वर तत्पद है, मैं जीव हूँ तो वह ईश्वर है। जैसे अग्नि की एक छोटी चिंगारी और बहुत अग्नि उपाधि भेद से भिन्न होते हुए भी अग्नि रूप ही हैं इसी प्रकार जीव और ईश्वर उपाधि अंश में भी वस्तुतः एक ही हैं। उपाधि का त्याग करके अखंड ब्रह्म का निश्चय करना चाहिये। ईश्वर और जीव के वाच्यार्थ को समझ कर उनके लक्ष्यार्थ को समझना, भाग त्याग लक्षणा से अखंड परब्रह्म में अपरोक्ष बोध को प्राप्त होना, यह विचार और विचार का फल है। इस प्रकार के विचार किये विना संसार रूप महान् रोग की निवृत्ति कभी भी नहीं होती ॥७॥

किं भूषणाद्‌ भूषणमस्ति शीलम् ।
तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम् ॥
किमत्र हेयं कनकं च कान्ता ।
श्राव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यम् ॥८॥

अर्थः—प्रश्नः—उत्तम से उत्तम भूषण क्या है ? उत्तरः—शील उत्तम से उत्तम भूषण है। प्रश्नः—उत्तम तीर्थ क्या है ? उत्तरः—अपना मन निर्मल हो वही उत्तम तीर्थ है। प्रश्नः—इस जगत् में त्यागने योग्य क्या है ? उत्तरः—कनक और कान्ता (स्त्री) त्याग करने योग्य हैं। प्रश्नः—हमेशा सुनने के योग्य क्या है ? उत्तरः—सद्‌गुरु और वेद के वाक्य सुनने योग्य हैं।

छप्पय ।

उत्तम भूषण कौन, उच्च पुरुषन का गहना ।
उत्तम भूषण शील, मान्य सो ही जो पहना ॥
कौन परम शुचि तीर्थ, सर्व पापन का हर्ता ।
परम तीर्थ मन शुद्ध, परम सिद्धी का कर्ता ॥
त्याग योग्य दो कौन हैं, कंचन कामिनी त्याग हैं ।
क्या है सुनने योग्य नित, गुरु वेदन के वाक्य हैं ॥८॥

विवेचन ।

संसार में स्त्री पुरुष और बच्चे सब कोई अच्छे अच्छे गहने पहनते हैं और समझते हैं कि गहना पहनने से हम अच्छे लगते हैं—गहना हमारी शोभा को बढ़ाता है । गले में सुवर्ण की जंजीर, पग में झांझन, कंठ में चंदन हार, हाथ पैरों में कड़े, कानों में कर्ण फूल, अंगुली में अंगूठी, नाक में नथ इत्यादि बहुत से गहने पहने जाते हैं । यदि विचार कर देखा जाय तो ये भूषण शोभा को बढ़ाने वाले नहीं हैं, जिनसे शोभा की वृद्धि हो ऐसे वे नहीं हैं, मात्र बाहर की चमक दमक हैं । सच्चा भूषण शील है ! चाहे उपरोक्त सब भूषणों को धारण किये हों यदि शील न हो तो वे सब व्यर्थ हैं । शीलवन्त पुरुष हो या स्त्री उसका प्रकाश कुटुम्ब, मोहल्ला, जाति आदिक में जैसा पड़ता है, वैसा प्रकाश सोना, चांदी आदि के लट्ठे रूप गहनों का नहीं पड़ता ! मन, वचन और कर्म करके अयोग्य क्रिया न करना, देश काल अनुसार योग्यता से, सरलता से विचार पूर्वक वर्तना इस आचरण को शास्त्र में

शील व्रत कहा है, उन्नति का मार्ग शील ही है। गीता में बताये हुए दैवी सम्पत्ति के लक्षण शील वाले में होते हैं। यदि आत्म ज्ञान न भी हो और शील हो तो मनुष्य नीच गति को प्राप्त नहीं होता। शील वाले का ही आत्मबोध प्राप्त करके मुक्त होना हो सकता है। शील रहित पुरुष को कड़ा कुण्डल आदि गहने ऊपर की शोभा को भले ही देते हों परन्तु सुज्ञ पुरुषों का तो शील ही भूषण है। शील रहित मूर्ख को कड़ा कुण्डल आदि बोझा रूप हैं। ये भूषण जीव को जोखम में डालने और भय का कारण हैं और शील रूपी भूषण लोक और परलोक में उत्तम प्रकार के सुखों का देने वाला है, इस लोक में शोभा और कीर्ति को बढ़ाता है और परलोक में अक्षय कीर्ति को प्राप्त कराता है। मूर्ख पहने हुए गहनों को भी लज्जा देता है और शील वाला पहने हुए भूषणों को शोभा देता है।

आजकल अशील वाले पुरुषों की अधिकता है। वे मर्कट के समान कामांध, गधे के समान बुद्धिहीन और श्वान के समान स्थान स्थान पर भटकने वाले नीच होते हैं और दुराचारी लंपट होने से आधि, व्याधि और अनेक प्रकार की उपाधियों करके ही भूषित होते हैं इसलिये इस लोक में अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं और अन्त में किये हुए पाप कर्मों का फल भोगने के लिये नरक में जाते हैं। मनुष्य देह देवताओं को भी दुर्लभ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि मनुष्य शरीर से ही होती है। ऐसे इस मनुष्य देह को प्राप्त करके

उसकी साफल्यता न करने वाले का मनुष्य जन्म ही व्यर्थ है, वह पशु के समान ही है बल्कि पशु से भी नीच है क्योंकि पशु अपने कर्मों का भोग मात्र करता है और अशील वाला मूर्ख नरक में ले जाने वाले कर्मों को करता है ऐसे मनुष्यों को धिक्कार है ! वे अपने और दूसरे किसी का भी हित। नहीं कर सकते किन्तु नरक में उत्पन्न हुए नरक के कीड़े ही बने रहते हैं।

वैभव की शोभा सुजनता से है अर्थात् वैभव का भूषण सुजनता है, वाणी का संयम शौर्य को शोभा देता है अर्थात् अपने मुख से अपने पराक्रम का वर्णन न करना पराक्रम की शोभा है। ज्ञान का भूषण शान्ति है, नम्रता शास्त्र के श्रवण को शोभा देती है, सत्पात्र को दान देना दान की शोभा है, क्रोध न करना तप की शोभा है। समर्थ पुरुष को क्षमा शोभा देती है, निष्कपटता धर्म को शोभा देती है। इस प्रकार के सब धर्मों का मूल कारण शील है। शीलता होने से उपरोक्त गुण स्वयं ही आ जाते हैं।

जिस प्रकार पुरुष अशील वाले होते हैं, इसी प्रकार स्त्रियां भी होती हैं। यह अवगुण स्त्रियों में पुरुषों से अधिक दीखता है। पतिव्रता स्त्री के जो धर्म कहे हैं, वे सब धर्म शील में आ जाते हैं और जितने दोष कर्कशा के हैं वे सब ही अशील के कहे जाते हैं। अशील वाली स्त्रियों का आचार इस प्रकार होता है:—एक घर से दूसरे घर बिना कारण भटकना, निश्चिन्तता से घर में न बैठना, पर पुरुष के साथ बातचीत करने में आनन्द समझना, काम कहीं करना और मन कहीं रखना, स्वयं दुर्गुणों का भंडार

होने पर भी दूसरों के दुर्गुण कथन करने में बृहस्पति के समान वक्ता बन बैठना, पैर के ऊपर पैर चढ़ा कर बड़ों की मान्यता न रखकर बैठना, दूसरों की पंचायत करना, बातें करते करते दुष्ट शब्दों को उच्चारण करना, असत्य बोलना, झूंठी सौगंध खाना, पति को नौकर समान समझ कर हुकुम चलाना, वहम की बातें करना, वहम में लगे रहना, मंत्र तंत्रों को अत्यंत वहम के साथ मानना, स्याने आदिक के पास वशीकरण मोहन, पुत्र रक्षा आदि के निमित्त जाना, जो पति इन बातों को झूंठी कहे तो उससे कहना कि तुम तो कृष्टान हो गये हो (वहम में ही नाश होता है घर का काम काज नहीं सूझता) मलिन रहना, घर को मलिन रखना, रसोई किस प्रकार होती है, यह ठीक न जानना, रसोई में कंकर या कोयले का आना स्वाभाविक होता रहना, बालकों की किस प्रकार रक्षा करना, किस प्रकार सुधारना, यह मालूम न होना, मालूम हो तो लापरवाई से न करना, प्रतिष्ठा बिगड़ने का भाव न होना, आस पास के पड़ोसियों से टंटा करना, पति से लड़ना, लड़कों को बिना कारण मारना चलाना इत्यादिक कुटिलता अशील है। छल प्रपंच, परमैत्री, साहस, अपवित्रता, कटुता, निर्लज्जता, निठुरपना आदिक अवगुण अशील में होते हैं। इस प्रकार के लक्षणों वाली स्त्री दूसरों को दुःख ही देती है और आप भी अनेक योनियों में पड़ कर दुःख ही भोगती है।

एक राज पुत्र ने अपने पिता की इच्छा से विरुद्ध एक स्त्री के साथ विवाह कर लिया था और एक गुप्त स्थान में उसके

साथ रहा करता था। राजा को जब यह समाचार मिला कि मेरा पुत्र मेरे शत्रु की पुत्री के साथ विवाह करके गुम हो गया है तो वह बहुत दुःखी हुआ, पुत्र की यह कार्यवाही उसे योग्य न मालूम हुई इसलिये वह दुःखी होने लगा और मरण के समीप आ गया। राजा के एक ही पुत्र था, मरने के समय उसने कुंवर को बुलाने को कई मनुष्य भेजे, उन्होंने जाकर उसे राजा के अंत समय का समाचार दिया और कहा कि वे आप से मिलना चाहते हैं। कुंवर ने अपनी पत्नी से कहा कि पिताजी मरने की तैयारी में हैं, मुझे उन्होंने अपने पास बुलाया है, मुझे इस समय उनके पास जाना ही चाहिये। यदि वे अच्छे हो जांयगे तो थोड़े समय में मैं लौट आऊंगा और यदि उनका देहांत हो गया तो राजा होऊंगा, तब मैं तुझे बुला लूंगा और पटरानी बनाऊंगा। यह कह कर उसने अपने नाम वाली अंगूठी अपनी अंगुली में से उतार कर अपनी पत्नी को पहनाई और आप राजधानी को चल दिया। वहां आकर देखा कि राजा मृत्यु शैया में पड़ा है। कुंवर को देख कर राजा प्रसन्न हुआ और बोला कि मैं तुझसे एक बात कहना चाहता हूं, यदि तू मेरी बात मान लेगा तो मेरा प्राण सुख से निकलेगा, पिता के वचन पुत्र को मानने चाहिये, रामचन्द्र, भीष्मादिक पुत्रों ने माने हैं, यदि तू मानना स्वीकार करे तो कहूं। कुंवर बोला कि मैं आपकी अंत समय की आज्ञा का पालन करूंगा। राजा ने कहा कि हे सुपुत्र, तू मेरे मित्र गंधर्व राज की कन्या से विवाह करना स्वीकार कर। कुंवर ने यह बात मान ली। राजा का प्राणांत हो गया। कुंवर ने गंधर्व

राज की कन्या से विवाह कर लिया। वह राजा होकर राज्य करने लगा और अत्यन्त सुख में अपनी पूर्व पत्नी से जो बात कहकर आया था, उसको भूल गया।

प्रथम वाली राज्यकन्या ने सुना कि मेरे श्वशुर का देहांत हो गया है, मेरा पति राजा हो गया है और उसने एक और राजकन्या से विवाह कर लिया है। इस राजकन्या के पास एक दासी बहुत चतुर थी, राजकुँवर की मुलाकात के लिये वह तीन और कन्याओं को ले आई और उसने राजकन्या सहित चारों को पुरुष की पोशाक पहना कर राजकुँवर के पास नौकरी करने को भेजा। कुँवर चारों युवान पुरुषों को देखकर प्रसन्न हुआ और चारों को अपने रक्षकों की नौकरी पर रख लिया। कुँवर को देखकर राजकन्या के वारम्वार आंसू गिरा करते थे। कुँवर ने कई वार पूछा परन्तु राजकुमारी रूप रक्षक ने कुछ उत्तर न दिया। एक दिन एक उद्यान में कुँवर अकेला घूम रहा था तव उसने रक्षक के हाथ पर एक अंगूठी देखी जिस पर उसका नाम खुदा हुआ था। अपना नाम देखकर उसने रक्षक से पूछा "हे मित्र! यह अंगूठी तुझे कहां से प्राप्त हुई?" वह बोला "आपके पास से!" कुँवर ने विस्मित होकर कहा "मैंने यह अंगूठी तुझे कब दी थी?" वह बोला "जब तुम मुझे छोड़कर आये और राजा बने तब!" कुँवर समझ गया कि यह मेरी प्राणेश्वरी राजकन्या है। तब उसने उसका कहा मान लिया और मरते समय की पिता की आज्ञा कहकर अपने अपराध की क्षमा मांगी। तब राजकन्या बोली "आपने पिता की आज्ञानुसार जो विवाह किया है उससे मैं

प्रसन्न हूं परन्तु आप मेरा त्याग न कीजिये, अपने रनवास में दासी समान रहने दीजिये जिससे मैं आपके दर्शन किया करूं। कुँवर ने स्वीकार कर लिया और अन्य तीनों को पुरस्कार दे कर विदा किया।

गंधर्व कन्या राज कन्या सम्बन्धी सब बात सुन कर कुंवर से बोली "आपने जिसके साथ पूर्व में विवाह किया है, उसका हक मारा जाना मैं नहीं चाहती, वह ही आपकी पटरानी होने की अधिकारिणी है, मैं उसकी छोटी बहिन के समान रहूंगी।" इस प्रकार दोनों पत्नियां प्रेम पूर्वक बहिनों के समान रहने लगीं। इन दोनों ने ही शील का अनुसरण किया इसलिये दोनों ही सुखी हुईं।

राग द्वेप रहित अत्यन्त शुद्ध मन ही परम तीर्थ है। तीर्थ आंतर और बाहर दो प्रकार के हैं। गंगा, यमुना, नर्मदा, पुष्कर आदिक बाहर के तीर्थ हैं और सत्य, क्षमा, आदिक आंतरिक मन के तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, दया, आर्जव, दान, दम, संतोप, ब्रह्मचर्य, मधुर भापण, ज्ञान, धृति और जप आदि ये सब तीर्थ हैं परन्तु सर्वोत्तम तीर्थ तो विशुद्ध मन ही है। बाहर के तीर्थ भी जिसका मन निर्मल है उसी को फल देते हैं। एक मन की विशुद्धि से सर्व तीर्थ यात्रा का फल प्राप्त होता है; तीर्थ से मोक्ष प्राप्त नहीं होता परन्तु मन रूप तीर्थ से मोक्ष भी प्राप्त होता है। मन दो प्रकार का होता है, एक काम क्रोधादिक और राग द्वेप वाला,

दूसरा काम क्रोधादिक और राग द्वेष रहित। काम क्रोधादिक वाला मन अशुद्ध है और काम क्रोधादिक रहित शुद्ध है। अशुद्ध मन बंधन करने वाला है और शुद्ध मन मोक्ष मार्ग में ले जाता है, जगत् को उत्पन्न करने वाला अशुद्ध मन है। पुरुष भी मन ही कहलाता है, शरीर का किया हुआ किया हुआ नहीं होता किंतु मन का किया हुआ ही किया हुआ होता है क्योंकि चाहे जितना हानि लाभ हुआ हो जब तक मन में नहीं आता, हर्ष शोक नहीं होता मन में आने पर ही होता है। शरीररूपी रथ है, उसमें इन्द्रियां रूपी घोड़े जुते हैं, मन सारथी है इसलिये शरीर की सब क्रिया मन से ही होती है और सब का कर्ता और संसार रूप मन ही है। वह ही मन जब निर्मल होता है तब परम पद देने वाला होता है इसलिये पूर्ण प्रयत्न करके मन को निर्मल करना चाहिये। जब मन विषयों में आसक्त होता है तब अपने लिये आप बंधन पैदा कर लेता है और जब सर्वात्मक भाव करके विषयों से पृथक् रहता है तब अपने आप ही मुक्त होता है। मैं और मेरा भाव ही मन का स्वरूप है, कल्पना से ही मन की सत्ता समझने में आती है जब कल्पना निवृत्त हो जाती है तब मैं और मेरे की निवृत्ति हो जाती है। मैं और मेरा इस भाव की निवृत्ति से जब ज्ञान प्राप्त होता है तब मन लय होजाता है इसलिये मनको निर्मल करकेबोध प्राप्त करना चाहिये। जब मैं और मेरा मिट जाता है और राग द्वेष नहीं रहता तब मन का कोई विशेष कर्तव्य नहीं रहता इसलिये उसको परम तीर्थ कहा है। निर्मल मन सहित तीर्थ यात्रा करना

उत्तम है और मलिन मन से तीर्थ यात्रा करने वाला विशेष पाप का भागी ही होता है। संयम रूपी जल से पूर्ण, सत्य रूपी प्रवाह वाली, शील रूप किनारे वाली, दया रूपी तरंगों वाली मन रूपी जो नदी है, उसमें तू स्नान कर क्योंकि इस जल के सिवाय अन्य जल से अन्तरात्मा कभी भी शुद्ध नहीं होता। जो मनुष्य ज्ञान रूपी प्रवाह वाले, राग द्वेष नाशक ध्यान रूपी जल वाले, ऐसे मानस तीर्थ में स्नान करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

एक नगर में दो भाई रहते थे, दोनों धनाढ्य थे। एक भाई कर्मवादी संसारी था और दूसरा संत समागम के प्रभाव से विवेकी था। जब उनके पिता का देहान्त हो गया तब कर्मवादी कहने लगा कि पिताजी का गयाजी जाकर श्राद्ध करना चाहिये जिससे उनका और अपना कल्याण हो। विवेकी को यह बात न रुची परन्तु उसने भाई को जाने से रोका भी नहीं और कहा कि तुम खुशी से पिताजी की सद्गति करने को तीर्थ यात्रा कर आओ, मैं तुम्हारे साथ चल नहीं सकता, अपने बदले की एक तूंबी तुम्हें देता हूं जिस जिस तीर्थ में तुम स्नान करो वहां मेरी इस तूंबी को भी स्नान कराना, तुम्हारा जो खर्च होगा उसका आधा हिस्सा मैं दूंगा। कर्मवादी गयाजी करके बहुत से तीर्थों में घूमा, स्नान किये और दर्शन किये। जहां वह जाता वहां तूंबी को स्नान कराता, जहां दर्शन को जाता वहां दर्शन कराता। इस प्रकार यात्रा करके वह घर लौटा और उसने विवेकी की तूंबी विवेकी के सुपुर्द कर दी। विवेकी ने तूंबी प्रेम से ली और कहा

"हे पवित्र तूंबी ! तूने बहुत से तीर्थों में स्नान और दर्शन किये हैं, तू पवित्र-मीठी अमृत सम हो गई है।" ऐसा कहकर उसने तूंबी फोड़ी और चक्खी। वह महा कड़वी थी; तब उसने भाई से कहा—"देख ! यह तूंबी इतने तीर्थ कर आई तो भी मीठी नहीं हुई, न पवित्र हुई, इसमें भरी हुई वस्तु विष समान हो जायगी।" बाद उसने तूंबी में जल कंकर और राख भर दी और उसे तीन दिन तक रक्खा। जब वह भीग गई तब उसे भीतर से साफ कर दिया। अब उसमें जो चीज रक्खी जाती न बिगड़ती। मन को तूंबी समान समझो। अशुद्ध मन तीर्थ करके भी शुद्ध नहीं होता।

तूंबी मन है, कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म कंकर हैं. जप और तप राख है, संयम जल है, वैराग्य भींगना है, धोना ज्ञान है। इस प्रकार मन शुद्ध न हो तो तीर्थ सफल नहीं होते इसलिये निर्मल मन ही परम तीर्थ है।

त्याग करने योग्य क्या है ? इसके उत्तर में गुरु ने कहा है कि कनक और कान्ता दोनों त्याग करने योग्य है। कनक सुवर्ण को कहते हैं इसलिये सब प्रकार के धन का समावेश कनक में होता है और कान्ता स्त्री को कहते हैं। ये दोनों बंधन करने वाले हैं इसलिये इनका त्याग करना चाहिये। यदि इन दोनों का ग्रहण-भाव-आसक्ति न हो तो वे बंधनका कारण नहीं होते और जो बंधन का हेतु होते हैं तो आसक्ति सहित ही होते हैं इसलिये जो मुमुक्षु है उसको अपने परम हित के लिये दोनों का त्याग करना

चाहिये। धन से सब प्रकार के विषय इच्छानुसार प्राप्त हो सकते हैं, विषय सेवन का हेतु रूप धन है। धन का नशा शराब के नशे से भी अधिक होता है, नशे में अधर्म होता है। धन बुद्धि को मलिन करने वाला है। धन के प्राप्त करने में दुःख, रक्षा करने में दुःख, नाश में दुःख, उपयोग में दुःख और उसकी विशेष तृष्णा में दुःख है। धन में कुटुम्ब से दुःख, चोर राजा और डाकुओं से भय, अग्नि जलादिक का भय होता है। इस प्रकार भय का कारण, संसार में फँसा रखने वाला और परम पुरुषार्थ में बाधा रूप होने से कंचन-धन त्याज्य है। सम्पत्ति, सम्पत्ति के अभिमान संयुक्त रहती है, दूसरे को तुच्छ समझती है और राग द्वेष की वृद्धि करती है।

इसी प्रकार स्त्री भी दोषों का भंडार है, मनुष्य को परवश करने वाली स्त्री है। सब का जन्म स्त्री से होता है इसलिये जब तक स्त्री का त्याग-भाव त्याग न होगा और आसक्ति न छूटेगी तब तक स्त्री में से जन्म होना निवृत्त न होगा। स्थिर मन वाले को भी रूप शब्दादिक से स्त्री चंचल और विह्वल करने वाली है। महान् तपस्वी, योगी, सिद्ध जब योग भ्रष्ट होते हैं तब स्त्री से ही होते हैं। जो स्त्री की कामना से मुक्त होता है वह ही मुक्त होने के योग्य होता है; स्त्री ही संसार रूप है। जो मनुष्य स्त्री से उत्पन्न होकर स्त्री का संग—स्त्री की इच्छा करता है वह इच्छानुसार फिर भी स्त्री में से ही निकलने वाला है, ऐसा समझो। जिसको संसार में आने की इच्छा नहीं है उसे पूर्ण प्रयत्न से स्त्री

की वासना को त्यागना चाहिये। ब्रह्म प्राप्ति में ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। स्त्री के संकल्प को इस प्रकार त्यागना चाहिये कि जाग्रत् अथवा स्वप्न किसी अवस्था में भी उत्पन्न न होने पावे। जिसने काम को छोड़ दिया है उसने जीते जी ही संसार को जीत लिया है। जिसने काम को न जीता उसने सब कुछ करते हुए भी कुछ न किया। महान् शूरवीर भी स्त्री के सामने दीन हो जाता है। संसार रूप गढ़ को जीतने में दो विकट घाटियां हैं, एक कंचन और दूसरी कामिनी। उन घाटियों से जो पार होगया उसके लिये सब कुछ सहज है। मुमुक्षु पुरुषों को जिस प्रकार स्त्री की कामना त्याज्य है इसी प्रकार मुमुक्षु स्त्रियों को पुरुष ही अनर्थ का हेतु है, ऐसा समझकर पुरुष संग—पुरुष की कामना के संकल्प का त्याग करना चाहिये। बुद्धि, सृष्टि, माया, सिद्धि, अविद्या, प्रकृति ये सब ही स्त्री रूप हैं, इसलिये एक स्त्री के त्याग में सब छूट जाते हैं।

योग भ्रष्ट पुरुष दो बातों से भ्रष्ट होते हैं, एक कंचन से दूसरी स्त्री से। ऐसे योग भ्रष्ट का जन्म कंचन और स्त्री की वासना से श्रीमान् के यहां होता है और जो इससे श्रेष्ठ है अर्थात् एक स्त्री की वासना से गिरता है, उसको धन से विशेष संबंध न होने से उसका जन्म योगियों के कुल में होता है। जन्म लेने का हेतु भूत स्त्री की वासना ही होती है। प्रयत्न से सब कुछ छूट सकता है परन्तु स्त्री की वासना छोड़ना अत्यंत कठिन है क्योंकि शरीर होने में स्त्री प्रसंग ही मुख्य है इसलिये महा प्रयत्न से आत्मज्ञान होने पर ही स्त्री की कामना निवृत्त हो सकती है।

पूर्वकाल में मुछन्दरनाथ एक महा समर्थ सिद्ध हुआ है, नव नाथों में उसकी गिनती होती है। गोरक्षनाथ उसका एक योग्य शिष्य हुआ है। उनके संबंध में इस प्रकार की एक कथा प्रचलित है:—मुछंदरनाथ पृथ्वी पर्यटन करते करते एक समय सिंहलद्वीप में पहुंचे, वहां की पद्मिनियां प्रसिद्ध हैं। एक दिन मुछन्दरनाथ ग्राम में घूम रहे थे, वहां उन्होंने एक राजकुमारी देखी, जो पद्मनी के सब लक्षणों से युक्त थी, सौन्दर्य में अलौकिक थी और विवाह के योग्य हो गई थी। वहां के राजा की वह एक ही पुत्री थी। उसके सामने दृष्टि होते ही मुछंदरनाथ के योग सामर्थ्य की सिद्धता में परिवर्तन हो गया। वे दब गये और उन्हें राजकन्या की इच्छा हो आई। एक साधु को राजकन्या की प्राप्ति होना अशक्य समझ कर योगीराज ने योग सामर्थ्य का उपयोग करके अपनी काया पलट डाली और वे युवावस्था और बहुत सुन्दर स्वरूप वाले बन कर दूसरे दिन राजकुमारी के स्वयंवर में गये। उनका अलौकिक सौन्दर्य देखकर राजकुमारी ने उन्हें ही वरमाला पहिनाई और उसके साथ उनका विवाह हो गया। थोड़े दिन में वहां का राजा मर गया तब मुछंदरनाथ राजा बनाये गये। इस प्रकार वे पद्मिनी के साथ विलास करने में और राज काज सहित राज सुख भोगने में योग और ध्यान सब भूल गये।

गोरक्षनाथ मुछंदरनाथ के योग्य शिष्य और योग क्रिया में कुशल थे जब वे एक योगी के साथ विचर रहे थे तब उसने गोरक्षनाथ को ताना मारा कि तू भला योगी बना है झूठी ही

सामथ्य दिखलाता है, किस मुख से अपनी बड़ाई मारता है तेरा गुरु तो नरक में पड़ा हुआ है इसकी तो तुझे खबर ही नहीं है। गोरक्षनाथ ने ध्यान धर के देखा तो मुछंदरनाथ का सब हाल मालूम हुआ। तब वे सिंहलद्वीप में पहुंचे और राज महल के चारों तरफ अलख जगाने लगे। उसकी भनक मुछंदरनाथ के कान में पहुँची। उनके दो बच्चे भी हो गये थे। प्रिया और बच्चों के प्रेम से वे वहां से निकलने को समर्थ न हुए। गोरक्षनाथ ने अपनी योग सामर्थ्य से उन्हें राज महल से बाहर खेंच कर उनसे अपने साथ चलने को कहा। मुछंदरनाथ को पूर्व योग की स्मृति आई और वे प्रिया के पास जा अन्तिम मुलाकात करके दो सोने की ईंटें झोली में डाल कर साधु के भेष में बाहर निकले और गोरक्षनाथ के साथ हो लिये। दोनों साथ साथ चल रहे थे, मुछन्दरनाथ की झोली में बोझा था। वे उसे स्वयं उठाते थे और गोरक्षनाथ को नहीं देते थे, मार्ग में टट्टी पेशाब को जाते तो झोली को किसी पेड़ में लटका देते और उसकी रक्षा करने को गोरक्षनाथ से कहते। दो तीन बार ऐसा हुआ तब गोरक्षनाथ ने सोचा कि झोली में ऐसी क्या वस्तु रक्खी है जिनको सँभालने का भय गुरुजी को रखना पड़ता है, ऐसा सोच एक दिन उन्होंने झोली खोल कर देखी तो दो सोने की ईंटें मिलीं; तुरन्त ही उन्होंने वे एक महा भयंकर विशाल कुए में डाल दीं। मुछंदरनाथ ने आकर झोली हलकी देख कर गोरक्षनाथ से क्रोधित होकर कहा कि तूने झोली की सँभाल क्यों न रक्खी, उसमें जो वस्तु थी वह कहां गई। तब

गोरक्षनाथ ने धीरे से कहा कि महाराज, आपको उस वस्तु से बड़ा भय रहता था, जब पेशाब टट्टी को जाते थे तब उसकी चिंता लगी रहती थी, गुरुजी को ऐसी चिंता लगी रहना मुझे अच्छा नहीं लगता था इसलिये मैंने भय का कारण जानकर भय निवृत्त करने के लिये दोनों सुवर्ण की ईंटें कुए में फेंक दीं; अब वे मिल नहीं सकतीं। ऐसा सुन कर मुछंदरनाथ बहुत क्रोधित हुए और कहने लगे कि तू कैसा मूर्ख है, कितनी दूर से मैं कितना बोझा उठा लाया था, वखत बेवखत काम आने की वस्तु थी जब तक मेरी ईंटें नहीं मिलेंगी तब तक मैं तेरे साथ नहीं रहूंगा, उनका भय रहता था तो मुझको रहता था तू फेंक देने वाला कौन था, मैं तेरा गुरु हूं, क्या तू मेरा भी गुरु बनना चाहता है। गोरक्षनाथ ने नम्रता से कहा कि आप क्रोधित क्यों होते हैं, आप दो सुवर्ण की ईंटें चाहते हैं, मेरे साथ पहाड़ पर चलिये, मैं आपको सोना ही सोना दिखा दूंगा, चाहे जितना उठा लेना। दोनों पहाड़ पर गये। गोरक्षनाथ ने लघु-शंका की तो सब पहाड़ सुवर्ण का हो गया। गोरक्षनाथ ने कहा कि गुरुजी, यह सब सुवर्ण ही सुवर्ण है, आप चाहे जितना उठा लीजिये। मुछन्दरनाथ आश्चर्य में पड़े और कहने लगे कि वाह शिष्य. वाह ! तू मुझसे बढ़कर है, तू मेरा भी गुरु है मैं बोझा लादे जाता था, वह तो किंचित् सोना था, तूने मूत्र त्याग में ही सुवर्ण दिखलाया है। सच है कि त्याग में सम्पूर्ण सुख भरा है।

मुछंदरनाथ जैसे सिद्ध भी कान्ता और कनक के चक्कर में आ गये। वे समर्थ थे उनका शिष्य महा समर्थ था इसलिये दोनों प्रकार के भावों में फँस कर वे छूट गये। सामान्य मनुष्यों को इन भावों को छोड़ना कठिन है और यदि एक बार छूटकर फिर ग्रहण हो जांय तो कभी भी नहीं छूट सकते।

शंकाः—स्त्री और धन दोनों ही बंधन करने वाले हैं यह ठीक है, उनका त्याग करने को किसके लिये कहा है? ये दोनों ही तो संसार स्थिति का कारण हैं वे न हों तो संसार किस प्रकार रहे? गृहस्थी किस प्रकार रहे और उसका व्यवहार किस प्रकार चले?

समाधानः—यदि तुझे संसार न रहने की चिन्ता है तो ऐसी चिंता वाला मुमुक्षु नहीं हो सकता। यह उपदेश उसके लिये है जिसको संसार से निवृत्त होने की इच्छा है। स्त्री और धन का त्याग दो प्रकार से होता है, एक भाव से दूसरा स्वरूप से। भाव त्याग विना स्वरूप त्याग निष्फल है इसलिये उसके दो ही भेद हुएः—ब्रह्मचारी और संन्यासियों का भाव त्याग सहित स्वरूप त्याग होता है गृहस्थ और वानप्रस्थ को अपने अपने आश्रम के अनुसार कांचन और स्त्री का भाव त्याग हो सकता है। वानप्रस्थ दो प्रकार के होते हैं स्त्री सहित और स्त्री रहित। स्त्री रहित वानप्रस्थ को भाव सहित और स्वरूप सहित स्त्री का त्याग होता है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यस्त का आधार गृहस्थाश्रम है इसलिये गृहस्थाश्रमियों को कांचन और कान्ता

का स्वरूप से त्याग नहीं है, परन्तु मोक्ष की इच्छा वाले को भाव त्याग अवश्य करना पड़ेगा; नहीं तो वह मुमुक्षु नहीं है किन्तु नरक में वारंवार जाने वाला कीट ही है।

गृहस्थी को धन और स्त्री की जो आवश्यकता है वह केवल भोग के निमित्त नहीं है किन्तु गृहस्थी का सद् व्यवहार चलाने के निमित्त है। स्त्री धन, घर और बाल बच्चों की रक्षा के निमित्त है। अभ्यागतों के लिये भोजन बनाने और यज्ञादिक में उसका सहचार है। सन्तानोत्पत्ति पितृ ऋण चुकाने के निमित्त है विषयानन्द के निमित्त नहीं है। धन का संग्रह बाग बगीचों की सैर, नाच, रंग, मौज शौक के निमित्त ही न समझना चाहिये। इन कार्यों के लिये धन संग्रह करने और उनमें खर्च करने से कल्याण के मार्ग में नहीं जा सकते। गृहस्थियों को स्त्री, धन रखते हुए उनका सदुपयोग करते हुए उनका भाव-आसक्ति-महत्व को छोड़ना चाहिये। उनके लिये धन और स्त्री का भाव त्याग है, स्वरूप वस्तु त्याग नहीं है। गृहस्थियों को भी परम पुरुषार्थ की तरफ लक्ष देना चाहिये। गृहस्थी परम पुरुषार्थ में मदद रूप है, ऐसा उन्हें समझना चाहिये और आत्मा की तरफ लक्ष रखना चाहिये। स्त्री के त्याग के साथ कुटुम्ब पुत्रादिक परिवार की आसक्ति का भी त्याग समझना चाहिये और श्रेय के लक्ष को न छोड़ना चाहिये। जिस प्रकार नट रस्सी के लक्ष को न चुकाते हुए चेष्टा करता है, यदि लक्ष चूक जाय तो वह नीचे गिर कर चूर्ण हो जाय, इसी प्रकार लक्ष पर ध्यान रखना चाहिये। गृहस्थी

अन्य सब आश्रमों की उपकारिणी तव ही हो सकती है जब शास्त्र की विधि युक्त हो, मोक्ष मार्ग में विघ्न रूप न हो परन्तु मदद रूप हो। इस प्रकार चारों आश्रमों में स्त्री और कांचन को त्याग समझना।

हमेशा श्रवण करने योग्य वेद और गुरु के वचन हैं। उन वचनों से ही दुःख रूप संसार की अत्यंत निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। अन्य वाक्यों का सुनना संसार की वृद्धि करने वाला है, संसार की वृद्धि रूप कूड़े को अन्तःकरण में जमाने वाला है। अन्य वाक्य संसारी हैं, संसार के हेतु संसार में ही काम में आने वाले हैं और दुःख के उत्पादक हैं। वेद वाक्य जो आत्म स्वरूप का प्रकाश करते हैं, वे ही हितकर होने से श्रवण करने योग्य हैं, गुरु उन वाक्यों को अपने अनुभव सहित प्रगट करता है। वे अन्तःकरण में जम कर अन्तःकरण की मलिनता को दूर करते हैं और स्वरूप के वोध कराने में उपयोगी होते हैं। जिनसे अखंडित स्वरूप की प्राप्ति हो वे ही गुरु वाक्य हैं। जो अंधेरे को नाश न करके आत्म प्रकाश न करें वे गुरु वाक्य नहीं हैं। वेद वाक्य भी गुरु वाक्य के समान महत्व वाले नहीं होते। वेद वाक्य भी जो गुरु मुख द्वारा निकलते हैं वे अमृत रूप होते हैं। गुरु रहित वेद वाक्य वेद्य स्वरूप के बोधक नहीं हो सकते। वेदपाठी वेद के अर्थों को बुद्धि अनुसार करता है, जो बुद्धिगम्य नहीं है उसका अर्थ बुद्धि से ठीक ठीक किस प्रकार हो? वे ही वाक्य जब अनुभव से छन कर निकलते हैं तब निर्मल और बलिष्ठ होते हैं। गुरु वाक्य में

गुरु की सामर्थ्य भी होती है। गुरु रहित वेद वाक्य-ग्रन्थ वाक्य होने से सामर्थ्य रहित होते हैं। जिस प्रकार समुद्र का जल ही सब जल का आधार है, समुद्र का जल मीठा नहीं होता किंतु खारी होता है परन्तु वह ही जब बादल होकर आता है तब उस जल का खारी अंश समुद्र में रह कर निर्मल अंश ऊपर जाकर आता है, इसलिये वर्षा का जल मीठा होता है। इसी प्रकार वेद समुद्र समान है, गुरु बादल समान है इसलिये वेद वाक्यों को गुरु से ही ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्म का निश्चय कराने वाले ही वेद वाक्य समझे जाते हैं, कर्म उपासना के हेतु वेद वाक्य नहीं हैं किंतु वेद वाक्यों के सहायक हैं। गुरु वाक्य से, गुरु समागम से मन निर्मल होता है, निर्मल मन में बोध वाक्य टिकते हैं और बोध होता है। सद्‌गुरु के जो वाक्य हैं वे ही वेद हैं, वेद अन्य नहीं हैं! वेद को अपौरुषेय माना है। गुरु अपने सब विकारों को त्यागकर, पुरुषत्व के अभिमान से रहित होता है और जो वाक्य उच्चारण करता है शुद्ध चैतन्य से ही कहता है इसलिये वे वाक्य ही वेद हैं। अन्य वाक्य चाहे रुचि-कर और जगत् में हितकर, स्वर्गादिक का बोध क्रिया कराने वाले हों तो भी उन वाक्यों से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह सर्वदा दुःख रहित नहीं होती इसलिये वे लौकिक वाक्य हैं। अनंत काल से जीव अज्ञान में पड़ा है इसलिये बोध वाक्यों को भी बहुत समय तक अभ्यास में लाने की आवश्यकता है इसलिये कहा है कि हमेशा वेद और गुरु वाक्य श्रवण करने योग्य हैं, ऐसा करने से मनुष्य कृतकृत्य होता है ॥८॥

के हेतवो ब्रह्म गतेस्तु संति,
सत्संगतिर्दान विचार तोषाः ।
के संति संतोऽखिल वीतरागा,
अपास्त मोहाः शिव तत्व निष्ठाः ॥६॥

अर्थः—प्रश्नः-परब्रह्म की प्राप्ति के लिये कौन २ साधन करने योग्य हैं ? उत्तरः-सत्संगति, दान, विचार और संतोष । प्रश्नः-संत कौन है ? उत्तरः-जिसकी सबमें से आसक्ति उठ गई है, वैराग्य हुआ है, जिसने मोह का नाश किया है और जो परब्रह्म में निष्ठा वाला है वह संत कहलाता है ।

छप्पय ।

ब्रह्म प्राप्ति के हेतु, कौन साधन निर्दोषा ।
हैं सत्संगति दान, विचार तथा संतोषा ॥
जानें किसको संत, सर्व गुण गण की खानी ।
नहीं राग नहिं द्वेश, शुद्ध मन सच्ची वाणी ॥
पूरा पर वैराग्य दृढ़, मोह पास नहिं आय है ।
परब्रह्म लवलीन नित, संत सोहि कहलाय है ॥६॥

विवेचन ।

ब्रह्म प्राप्ति के हेतु रूप कौन साधन हैं ? इसके उत्तर में चार मुख्य साधन दिखलाये हैं, वे चारों साधन भिन्न २ दीखते हुए भी स्वरूप से एक ही हैं। उपासकों के निमित्त जिस प्रकार ब्रह्म ॐकार को चार पाद वाला दिखलाया है इसी प्रकार उन चार

साधनों से युक्त होने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। सत्संगति, दान, विचार और संतोष चार साधन हैं। सत्संगति विना कुछ समझ में नहीं आता और निर्मलता भी प्राप्त नहीं होती। सत् सत्य को कहते हैं, जिसमें सत्य का संग हो उसे सत्संगति कहते हैं। संत महात्मा सत्-पदार्थ को जानने वाले और उसका कथन करने वाले हैं इसलिये उनका समागम करने से, वार्त्तालाप और कथा श्रवण से सत् का संग होता है। जब सत् का संग होता है तब जाना जाता है कि जो कुछ जगत्-प्रपंच और उसके पदार्थ हैं वे सब नाश वाले हैं, आज हैं और कल नहीं हैं; इसी कारण शास्त्र में दान की विशेषता वर्णन की है। बहुत जन्मों के संग्रह किये हुए प्रपंच के भाव और ऐश्वर्य को हटाना है। उनका हटाना दो ही प्रकार से होता है एक छोड़ देने से अथवा दूसरे को दे देने से। अच्छे समझे हुए पदार्थ जल्दी से इतने बुरे नहीं दीखते कि वे छोड़ दिये जांय। ऐसे उत्तम पदार्थ दूसरे के उपयोग में आवें इस प्रकार देने को दान कहते हैं। सत्संगति से दान का भाव होता है। जब छोड़ने की प्रवृत्ति में लगें तब विचार की आवश्यकता है क्योंकि विचार विना किसको छोड़ें, किसको न छोड़ें यह नहीं बनता। विचार से दान-त्याग की सिद्धि होती है और वस्तु-तत्त्व का बोध भी विचार करते २ पूर्ण विवेक होने से होता है। बोध के बाद पूर्ण संतोष की प्राप्ति होती है। बोध होते हुए भी यदि बोध में असंतुष्टि होगी तो बोध का फल नहीं होगा। बोध के पश्चात् का पूर्ण संतोष ही परमानन्द सुख स्वरूप है। इस प्रकार इन चारों का क्रम है।

सन्त पुरुष वही कहा जाता है जिसने आत्म तत्त्व प्राप्त कर लिया है। जो अन्तिम सीमा को पहुंच जाता है उसके शरीर, वाणी और मन में कोई विलक्षण प्रभाव होता है। संत का स्मरण दुःखों का हरने वाला है, उसका समागम पवित्र करने वाला है, उसके वचनामृत अज्ञान के परदे को काटने वाले होते हैं इसलिये प्रत्यक् और परोक्ष रूप से संत समागम में सत्य की झाई झलकती है। इसी कारण कहा है "संत समागम दुर्लभ भाई।" पूर्व के महत् पुण्य के प्रभाव करके ही संत समागम प्राप्त होता है। जो पूर्व में पाप कर्म कर चुके हैं और वर्त्तमान में करने वाले हैं, जिनका अन्तःकरण अत्यन्त मलिन है ऐसे पुरुषों को यदि संत समीप भी हों तो भी संत का संग नहीं होता। उन कर्महीनों का सत्संग तो हो ही कहां से, वे संत को संत जान ही नहीं सकते। जाने बिना श्रद्धा नहीं होती, श्रद्धा बिना लाभ नहीं उठा सकते।

जिसके सत्संग और विवेक रूपी दृढ़ नेत्र नहीं हैं, वह अन्ध है। अन्ध उलटे मार्ग में विचरे बिना रहता नहीं है ऐसा अंध जगत् में देखता कहा जाता है परन्तु विरुद्ध मार्ग में जाने वाला होने से नेत्र होते हुए भी वह अन्धा ही है। किसी एक बड़े शहर में एक करोड़ाधिपति श्रीमान् रहता था। उसने बड़े बड़े मकान और बगीचे बनवाये थे और उनमें सब स्थानों पर इस कारण कीलें गाड़ रक्खी थीं कि यदि अंधेरे में कोई चोर आवे तो उसके वे लग जांय और वह धन चुराने न पावे। वह स्वयं अन्धा था इसलिये उसने कीलें लग जाने के भय से एक देखने वाले को

मार्ग दिखलाने के लिये नौकर रख छोड़ा था, इसी प्रकार जीव को समझो। जीव धनाढ्य साहूकार है, कुटुम्ब, कबीला और व्यवहार उसके मकान और बाग बगीचे हैं। उनमें उसने अपनी आसक्ति रूप कीलें इस कारण गाड़ रक्खी हैं कि जो मेरा है उसे कोई दूसरा न ले जाय परन्तु वे 'मेरे' भाव की कीलें उसीके लगती रहती हैं इसलिये उसे सत्संग रूपी नौकर की आवश्यकता है, उस नौकर के प्रताप से ही वह उन कीलों से बच सकता है। चाहे किसी ने कितना ही विद्याभ्यास किया हो, अनेक प्रकार के भेदों का ज्ञाता हो, यदि वह सत्संग से प्राप्त होने वाले विवेक से रहित है तो अन्धा है। अंधे को जैसे उसकी गाड़ी हुई कीलें गड़ती हैं वैसे ही उसकी विद्या आदि उसे ही दुःख देते हैं। सज्जनों का समागम बुद्धि की जड़ता को हरण करके उसे निर्मल करता है, सत्य बोलना सिखाता है, सन्मान का उत्तम लक्षण दिखलाता है, पाप दूर करता है, चित्त को प्रसन्न रखता है, सब दिशाओं में कीर्ति फैलाता है और उससे सब कार्य की सिद्धि होती है। 'मैं' और 'मेरा' भाव जो बुद्धि की जड़ता है सत्संग के प्रभाव से चला जाता है और देह बुद्धि हट कर आत्म बुद्धि का उदय होता है। कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के ताप दूर होते हैं और चित्त में रहने वाले काम क्रोधादिक मल दूर हो जाते हैं। सत्संग से उत्पन्न हुए विवेक से ज्ञान की प्राप्ति होती है, सत्संगति सत्स्वरूप बना देती है। जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहा कंचन बन जाता है इसी प्रकार सत्संगति देह

दृष्टि को हटा कर आत्म स्वरूप बना देती है। इस जगत् में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो सत्संगति के प्रभाव से प्राप्त न हो सके। सत्संगति से अखिल ब्रह्मांड के अधिपतित्व की प्राप्ति होती है।

एक वन में मृगों की टोली रहा करती थी। मृग दिन भर घूम कर शाम को एक तालाब पर पानी पीने जाया करते थे। उस जंगल में एक ही तालाब था। उस तालाब में एक मगर रहता था और पानी पीने आने वाले मृगों में से प्रति दिन एक को पकड़ कर खा जाता था। इस प्रकार नित्य का क्रम चालू होने से थोड़े दिनों में ही बहुत मृग मारे गये और थोड़े से रह गये। एक दिन उस जंगल के पास दूसरे जंगल के मृगों के सरदार ने उन मृगों के सरदार से पूछा "भाई! प्रथम तो तुम बहुत थे, अब थोड़े कैसे रह गये?" तब मृगनायक ने कहा "भाई! क्या करें, हम जिस तालाब पर पानी पीने जाते हैं वहां एक मगर है, वह नित्य एक मृग को पकड़ कर खा जाता है!" दूसरे जंगल का मृगनायक बोला "भाई! तुम बहुत भोले भाले हो, चलो मैं तुम्हारे साथ चलूंगा! मैं जिस प्रकार कहूं तुम्हें करना होगा!" सब सम्मत हुए और शाम को पानी पीने तालाब पर गये। वहां जितने मृग थे, उनके दो हिस्से किये गये, एक हिस्सा पूर्व के किनारे पर और दूसरा पश्चिम के किनारे पर रक्खा गया। दूसरे जंगल का मृगनायक उत्तर की तरफ एक टीले पर खड़ा हो गया। प्रथम उसने पूर्व वाले मृगों से कहा कि तुम पानी

पीने जाओ। जब वे पानी पीने लगे तब मगर उनकी तरफ आने लगा। उसे आता हुआ देख मृगनायक ने पश्चिम वालों से कहा कि तुम पानी पीने जाओ और पूर्व वालों से कहा कि तुम जंगल में थोड़ी दूर हट जाओ। तब मगर ने पूर्व की तरफ मृगों को न देखा तब पश्चिम की तरफ चला। उसी समय मृगनायक ने पूर्व वालों से कहा कि तुम पानी पी आओ। जब तक मगर पश्चिम की तरफ पहुंचे तब तक पश्चिम के सब मृग पानी पीकर भाग गये उधर पूर्व वालों ने भी पानी पी लिया था, वे भी भाग गये। इस प्रकार एक भी मृग मगर के हाथ न आया, मृग इस युक्ति से प्रति दिन पानी पीने लगे। जब मगर को कई दिन तक शिकार नहीं मिला तो वह तालाब को छोड़ कर भाग गया। दूसरे जंगल वाले मृगकी की युक्ति से वे सब मृग सुखी हुए।

इन्द्रियों सहित मन मृग की टोली है, तालाब संसार है, मगर कामना है, राग द्वेष दो किनारे हैं और दूसरे जंगल का मृग गुरु अथवा जीव साक्षी है। जब सद्गुरु अथवा साक्षी रूप दूसरे जंगल के मृग से संग होता है तब वह राग द्वेप हटाने की युक्ति बताता है। जब राग की तरफ कामना दौड़े तब द्वेप के किनारे पर आ जाना और जब द्वेष की तरफ कामना जावे तब राग की तरफ भाग जाना, इस युक्ति से कामना रूप मगर मध्य में ही ठहरा रहता है और मध्य में टिके रहने से विषयासक्त बना कर किसी को खा नहीं सकता। अन्त में काम की पूर्ति न होने से वह चला जाता है; इसी प्रकार सत्संग मुमुक्षुओं को निर्भय करने वाला है।

ब्रह्म प्राप्ति के साधनों में दान दूसरा साधन है। जिसने जो कुछ अपना माना है वह सब प्रकृति का है, उसका कुछ नहीं है। प्रकृति को किंचित् भी अपने पास न रखना उसका नाम महात्याग है, महात्याग में दान उपयोगी है। प्रजापति ने जब देवता, मनुष्य और दैत्यों को उपदेश दिया था तब मनुष्यों ने द का अर्थ दान समझा। दान प्रकृति का विकार हटाने में मदद देने वाला है इसलिये उत्तम है। बुद्धि के अनुसार पात्र की परीक्षा करके दान देना चाहिये कुपात्र को न देना चाहिये। यदि उतना उत्तम पात्र न हो तो भी देश कालादिक के विचार सहित यदि पात्र उत्तम समझा जाय तो दान देना चाहिये। धन के मुख्य उपयोग दो हैं, एक दान दूसरा अपना उपयोग। जो मनुष्य इन दोनोंमें धन का उपयोग नहीं करता उसके धन की तीसरी गति होती है, तीसरी गति नाश है। देश, काल और स्थिति के अनुसार धन का उपयोग करते हुए दान अवश्य करना चाहिये। औदार्य वृत्ति विना दान नहीं किया जाता। जैसे जैसे दया युक्त दान वृद्धिको प्राप्त होता है तैसे तैसे अन्तः-करण निर्मल होता जाता है और ब्रह्ममें प्रीति बढ़ती जाती है। प्रकृति के गुणोंके अनुसार दान तीन प्रकार का है:—देश, काल और पात्र के विचार सहित, फल की इच्छा रहित, अनुपकारी को दिया हुआ दान सत्विक है। ऐहिक अथवा स्वर्गादिक फल की इच्छा सहित, कामना सहित, बदला लेने की इच्छा से देश काल पात्रादिक का ठीक ठीक विचार न करके दिया हुआ दान राजस कहा जाता है, इसका फल क्षणिक है और नीच अपात्र को देश, कालादि के विरुद्ध होते हुए त्रास पूर्वक अवज्ञा करके दिया हुआ दान तमोगुणी दान

है, इसका फल नहीं होता। जो दान श्रद्धा पूर्वक दिया जाता है उसका फल होता है। जो पुरुष दान कभी नहीं देता, ऐसा पुरुष यदि श्रद्धा से अथवा विना श्रद्धा दे तो भी अच्छा है। यदि न देने वाला विना विचार देने लगता है तो कभी न कभी विचार से भी देने लगेगा, ऐसा सम्भव है इसलिये उसके लिये ऐसा देना भी कल्याणकारक है। जिसको दान लेने का अधिकार नहीं है, उसे दान न लेना चाहिये, जिसमें दान लेकर दान पचाने की सामर्थ्य नहीं है उसे भी न लेना चाहिये। जो ऐसे लेते हैं, वे ऋणी हो जाते हैं और अनन्त गुणा करके उन्हें ऋण चुकाना पड़ता है।

ब्रह्म प्राप्ति के साधनों में तीसरा विचार है, जिसका विवेचन प्रथम हो चुका है। विवेक और विचार में वहुत कम अन्तर है, विचार से विवेक होता है और विवेक से विचार होता है। भिन्न २ करना—समझना विवेक है, यह विचार से होता है। जब विचार करने लगते हैं तव विचार से विवेक की उत्पत्ति होती है। नित्य और अनित्य वस्तु का यथार्थ विचार ही विवेक है। विवेक और विचार अपने साथ तीन सहायक रखते हैं, तव ही सिद्धि को प्राप्त होते हैं, सद्‌गुरु, सत्शास्त्र और महत् पुरुषों का समागम रूप सत्संग ये तीनों उन दोनों के सहायक हैं। जगत् में दो पदार्थ हैं, वे दोनों एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि सामान्य बुद्धि वाले की समझ में नहीं आते। एक क्षर है दूसरा अक्षर है; क्षर को माया और अक्षर को ब्रह्म कहते हैं। इन दोनों का समझना विचार से होता है। नाम रूप वाले जितने पदार्थ हैं वे सब क्षर-

माया हैं और न दीखता हुआ भी सबमें अनुस्युत जो एक अविचल पदार्थ है वह अक्षर ब्रह्म है। इस प्रकार का भेद जब विचार से मालूम होता है तब उनका विवेक किया जाता है। नाशवन्त जितने पदार्थ हैं वे सब ही दुःख रूप हैं और एक अक्षर दुःख रहित अपनी महिमा में टिका हुआ है यह उनका विवेक है। अविवेक-अविचार से संसार और संसार का बंधन है। जब विवेक-विचार किया जाता है तब बंधन निवृत्त होजाता है। जैसे एक आम है, एक होते हुए भी उसमें तीन चीजें हैं, छिलका, रस और गुठली, यह विचार हुआ। छिलका और गुठली खाने योग्य नहीं हैं, रस खाने योग्य है यह विवेक है इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थमें तीन २ वस्तुयें हैं:-नाम, रूप और आत्मा। अस्ति, भाति और प्रिय यह विचार है। नाम रूप नाश वाले हैं इसलिये ग्रहण करने योग्य नहीं हैं और आत्मा सुख स्वरूप, अविनाशी होने से ग्रहण करने के योग्य है यह विवेक है। जिस प्रकार धान में से चांवल निकाला जाता है तब खाने योग्य होता है। चांवल के ऊपर तीन छिलके हैं और मध्य में चांवल है, धानों में छिलके दीखते हैं, चांवल नहीं दीखते तो भी छिलकों को हटाने से चांवल निकल आते हैं। चांवल भिन्न करने में तीन पदार्थों की आवश्यकता है, ऊखली, मूसल और सूप। इसी प्रकार आत्मा को माया से अलग करने के लिये तीन पदार्थों की आवश्यकता है, वैराग्य, विचार और विवेक। वैराग्य और विचार से कूटा जाता है और विवेकरूपी सूप आत्मा को माया से भिन्न करता है। इस प्रकार नाम, रूप और अनित्यता से आत्मा को पृथक् कर लेना चाहिये

अथवा शरीर ही संसार है, उसमें से आत्मा को भिन्न करना चाहिये। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीररूप तीन छिलके या उपाधियों को हटा कर आत्मा को उनसे भिन्न समझना चाहिये। जो कोई तीनों देह के अभिमान को त्याग देता है वह जीवन्मुक्त होता है, यह विचार-विवेक का फल है।

ब्रह्म प्राप्ति का चौथा साधन संतोष है। जब संतोष अन्तिम सीमा को पहुँच जाता है तब जीवन्मुक्त का स्वरूप होजाता है। आरम्भ से अन्त पर्यन्त संतोष का देश, जाति, वर्ण, आश्रम, अवस्था, पराक्रम आदि के साथ सम्बन्ध है। इन सब सम्बन्धों सहित संतोष संकुचित संतोष है और इसका विधान शास्त्रादिकों में मिलता है। संतोष का सामान्य स्वरूप सबमें एक ही प्रकार का है। मायिक भाव में टिक कर व्यवहार करने से संतोष का यथायोग्य पालन नहीं होता तो भी जितने अंश में जिस किसी से उसका पालन होगा उतना ही उसे सुख होगा, सुख संतोष में ही होता है। जगत् के पदार्थ अनेक हैं, एक से एक बढ़कर हैं, चाहे जितने प्राप्त हो जांय, परन्तु 'बस अब नहीं चाहिये ऐसा न होना' इसका नाम असंतोष है। शास्त्रानुकूल व्यवहार करते हुए खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने आदि जिन वस्तुओंकी प्राप्ति हो उनमें संतुष्ट रहना, जो प्राप्त हुआ है, सो ठीक ही है, ऐसा समझना अथवा अपनी स्थिति-कर्मानुसार जो प्राप्त होता है वह ठीक ही है, ऐसा समझना यह संतोष है। जैसा प्राप्ति में संतोष होता है इसी प्रकार यदि कोई वस्तु प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न हो तो उसके लिये

दुःखी न होना किंतु ऐसा समझना कि 'वह पदार्थ प्राप्त होने योग्य न था इसलिये प्राप्त न हुआ, हमारे लिये ईश्वर का ऐसा ही संकेत होगा' ऐसा मान मन में दुःखी न होना इसका नाम संतोष है। संतोष भौतिक पदार्थों की प्राप्ति और अप्राप्ति में उपयोगी है। मुमुक्षुओं को आत्म प्राप्ति के लिये श्रवण, पठन आदिक में संतोष न करना चाहिये क्योंकि आत्म प्राप्ति प्रयत्न रहित नहीं होगी। जब आत्म साक्षात्कार हो जायगा तब आत्म—प्राप्ति की तरफ से भी संतोष हो जायगा। इसी प्रकार कर्मिष्ठ पुरुषों को शास्त्र विधि युक्त सामर्थ्य सहित शुभकर्म करने में संतोष न करना चाहिये क्योंकि वे आगे बढ़कर ज्ञान का अधिकारी बना देंगे। संतोष बाहर की क्रिया नहीं है किंतु आंतरिक क्रिया है, अंतःकरण में होती है। संतोष में दम्भ न होना चाहिये, यदि दम्भ होगा तो दम्भ और असंतोष दोनों के अनिष्ट फल की प्राप्ति होगी। भीतर इच्छा होना और ऊपर संतोष दिखलाना दम्भ है। जब ऊपर बताये हुए तीनों साधन पूर्ण स्वरूप में आ जाते हैं तब बोध होकर पूर्ण संतोष होता है इसलिये ही संतोष आत्म स्वरूप है और असंतोष माया का स्वरूप है। जब सब कुछ एक ही पदार्थ है, इस प्रकार सब को एक आत्मा माना जाय तब असंतोष किस प्रकार करे क्योंकि दूसरे के अभाव में असंतोष नहीं हो सकता। सम्यक् प्रकार की तुष्टि को ही सन्तोष कहते हैं। चेंटी से ब्रह्मा पर्यन्त जीव के जितने दर्जे हैं उनमें एक से एक बढ़कर हैं। ऊपर की—विशेषता की इच्छा होना असंतोष है; जब परम तत्त्व को जान लिया जाता है तब उससे बढ़कर और कोई नहीं दीखता इसलिये उसमें

टिकना ही परम संतोष है। मुमुक्षुओं को सब प्रपंच और उसका कार्य हेय है, मात्र एक परम तत्त्व ही ध्येय है। सब प्रपंच एक साथ नहीं त्याग सकते इसलिये लक्ष में टिके रहने का यत्न करते हुए व्यवहार—निर्वाह आदिक में, यथा प्राप्ति में संतोष करना चाहिये, यदि उसमें असंतोष का भाव रक्खा जायगा, तो मुमुक्षु ध्येय के भाव की तरफ से हट जायगा इसलिये मुमुक्षुओं को मुमुक्षुता के निर्वाह के लिये प्रपंच की तरफ से संतोष को ग्रहण करना चाहिये। अन्य मनुष्यों को भी समझना चाहिये कि असंतोष तृष्णा स्वरूप है, प्रारब्ध का जो भोग होता है, अवश्य प्राप्त होता है उसमें असंतोष करके जी को जलाने से कुछ फल नहीं है अधिक दुःख ही होता है, तब विना फल के अधिक दुःख देने वाले दोषको ग्रहण ही क्यों करना ? असंतोष से कार्य सिद्धि कभी भी नहीं होती किन्तु असंतोष दुःख, शोक, मोह, मन की मलिनता, बुद्धि की जड़ता, अविचार, मत्सर आदिक का उत्पादक होने से सज्जनों को शास्त्र विधि अनुसार त्यागने योग्य ही है, ब्रह्म प्राप्ति में संतोष बहुत ही आवश्यक है।

संत किसको कहना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि जिसकी सब में से आसक्ति उठ गई है-वैराग्य हुआ है, मोह नष्ट हो गया है और शिव तत्त्व में जिसकी निष्ठा है, वह संत है। आसक्ति रहित-वैराग्य, मोह और शिव तत्त्व को समझना चाहिये।

जगत् दुःख रूप है, ऐसा जान कर उसकी तरफ का राग हटा देना वैराग्य है. अथवा जगत् को असत्य जान कर आत्म

भाव में राग करना वैराग्य है। वैराग्य पांच प्रकार का है:—मंद, मध्य, तीव्र, वशीकार और परवैराग्य। मुमुक्षु, जिज्ञासु, अधिकारी और विवेकी ये ही पीछे के तीन के पात्र हैं। जिसको श्मशानी वैराग्य कहते हैं, अथवा जो सामान्य वैराग्य दुःख के समय आता है और दुःख निवृत्त होने पर चला जाता है, वह मंद वैराग्य है। मध्य वैराग्य कुछ विशेष समय तक टिकता है परन्तु सुख सामने आने पर नहीं टिकता। तीव्र वैराग्य उत्तम है, ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग उसी से प्रारम्भ होता है, जब वह पक्व हो जाता है और मन इन्द्रियां सब वशीभूत हो जाती हैं, तब उसका नाम वशीकार संज्ञा वैराग्य होता है, वह ही बढ़ कर जब असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति कराता है, तब परवैराग्य हो जाता है। पूर्ण विवेकी को ही परवैराग्य की प्राप्ति होती है। वह ही जीवन्मुक्त होता है। उसमें त्याग भाव की भी आसक्ति नहीं होती, वह ही त्याग का त्याग कहलाता है।

मोह अंधेरा स्वरूप है। अंधेरे में कुछ का कुछ दीखता है इसलिये मोह रूप अंधेरे में जो सत्य नहीं है, वह भी सत्य दीखता है; इस सत्यता का नाश होना मोह का नाश होना है। नाम रूपात्मक मायिक जगत् वस्तुतः है ही नहीं तब उसका नाश ही क्या? इस प्रकार स्वरूप का बोध होकर जब निश्चल रूप से टिकाव होता है तब मोह का नाश हुआ ऐसा कहा जाता है। जब कोई भी भौतिक पदार्थ अथवा ऐश्वर्य संपूर्ण रूप से मन को न खेंचे तब मोह का नाश हुआ समझना चाहिये।

शिव तत्त्व कल्याण स्वरूप को कहते हैं। जो अन्तिम कल्याण है वह शिव तत्त्व है, परमपद, ब्रह्मप्राप्ति, स्वस्वरूप जो तत्त्व है वह ही शिव तत्त्व कहा जाता है। जो कभी भी अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता, खंडित नहीं होता, जिससे पर कोई नहीं है, वह शिव तत्त्व है। जो मन वाणी का विषय नहीं है, श्वेतादि वर्णों, शब्दादि विषयों, सत्त्वादि गुणों, कामादि षड्वर्गों, आकाशादि पंचभूतों, मन आदि ग्यारह इन्द्रियों और स्थूल सूक्ष्मादि लिङ्गों से रहित, क्षर से भिन्न और अक्षर से श्रेष्ठ है, शिव तत्त्व है। व्यक्त अव्यक्त से उत्तम, सर्वगत, स्थिर, अनादि इस प्रकार का जो अद्वैत परम तत्त्व है वह शिव तत्त्व है। ऐसा सर्व व्यापक, सनातन, परम कल्याण स्वरूप जो शिव तत्त्व है, उसमें ही प्रीति रखना, उसको ही सत्य समझ कर लक्ष्यार्थ से उसकी और आत्मा की एकता करके उसमें ही वृत्ति को तदाकार करना, इसका नाम निष्ठा है। जिसको इस प्रकार की निष्ठा है उसको भेद नहीं रहता, वह ही संत कहलाता है और शास्त्र में ऐसे जीवन्मुक्त से ही संगति करने को कहा है। जल वाले तीर्थ और मृत्तिका, पाषाण, धातु आदि की मूर्त्ति पवित्र न करते हों ऐसा नहीं है किंतु वे बहुत काल सेवन से पवित्र करते हैं और ऊपर कहा हुआ ऐसा जो संत है वह दर्शन मात्र से पवित्र करता है। अखिल ब्रह्मांड में जितने सत्वर फल-दाता संत हैं इतना अन्य कोई नहीं है।

उदयपुर के राणा की रानी, जो नाम मात्र रानी कही जाती है, वह मीरां बाई बाल्यावस्था से ही कृष्ण प्रेम में लवलीन रहने

लगी थी। माता पिता आदिक ने उसका विवाह कर दिया था परन्तु वह वैराग्यवान् होने से संसार के व्यवहार में न पड़ी रात्रि दिन कृष्ण-भगवान् के प्रेम में ही मग्न रहती। सत्संग, साधुओं को मान देना, भजन में चित्त रखना इत्यादि आचार राजपत्नी के योग्य न समझ कर राजा ने उन्हें छुड़ाने को बहुत प्रयत्न किया परन्तु मीरां ने अपने अखंडित व्यापक पति का प्रेम न त्यागा तब उसके पति ने उसे विष देकर मार देने का निश्चय किया। विष दिया गया; मीरांबाई विष को चरणामृत समझ कर पी गई परन्तु विष ने अपना काम न किया। यह चमत्कार देख कर राजा ने उसकी इच्छानुसार वर्तने में कुछ रोक टोक न की। मीरां सब स्थानों पर स्वतन्त्रता से घूमने लगी। भगवद् प्रेम होने से जगत् की आसक्ति उसमें नहीं थी, जगत् को वह तुच्छ समझती थी। भगवत् सिवाय अन्य किसी पर प्रेम न होने से वह परम वैराग्य वाली थी। भगवत् शरण से उसका सम्पूर्ण मोह निवृत्त हो गया था। उसे सब स्थानों में और सब पदार्थों में कृष्ण ही कृष्ण दीखते थे इस प्रकार वह कृष्ण-शिव तत्त्व की निष्ठा से पूर्ण थी, सब लक्षणों से युक्त पूर्ण संत थी और इच्छानुसार पृथ्वी पर्यटन करती थी। इस प्रकार घूमती हुई वह एक समय प्रयाग में पहुंची।

प्रयाग में विशुद्धानन्द नाम के एक संन्यासी रहते थे। वे विद्वान्, शास्त्र भाव वाले और ब्रह्मनिष्ठ हैं ऐसा लोग समझते थे। मध्यप्रांत में उनकी कीर्ति बहुत फैली हुई थी। अनेक साधु, वैरागी, मुमुक्षु और भक्त लोग तथा राजा महाराजा आदिक

उनके दर्शनों के लिये आया करते थे। वास्तविक वे त्यागी योग्य पुरुष थे। मीरां हमेशा साधु समाजों में जाया करती थी। यद्यपि उनकी परम तत्त्व की निष्ठा पूर्ण थी तो भी जो लोग उसे प्रिय थे, उनके दर्शन वह चाहती थी। विशुद्धानन्द की ख्याति सुन कर प्रेम सहित यह उनके दर्शनों को गई। विशुद्धानन्द एक दूर स्थान पर रहते थे जो चारों तरफ से दीवारों से घिरा हुआ और विशाल था। वहां हर किसी को सहज में जाने की आज्ञा न थी। जो कोई वहां जाना चाहता था उसे प्रथम खबर करनी पड़ती थी और आज्ञा मिलने पर जाने पाता था। स्त्रियों को भीतर जाने की बिलकुल इजाजत नहीं थी, क्योंकि विशुद्धानन्द स्त्री दर्शन नहीं करते थे। उनका निश्चय था कि स्त्रियां विकार उत्पन्न करने वाली हैं, वे ही जन्म का कारण होती हैं इसलिये उनका स्मरण, दर्शन और सम्भाषण आदिक उन्होंने छोड़ रक्खा था। मीरां ने वहां जाकर दरवान से कहा "मैं महात्मा विशुद्धानन्द के दर्शन करने को आई हूं।" दरबान ने कहा "बाई! आपकी यह इच्छा पूर्ण होना असंभव है क्योंकि हमारी जान में तो महात्मा जी ने आज तक किसी स्त्री को दर्शन नहीं दिये हैं, स्त्रियों को यहां आने की मनाई है।" मीरां बोली "मैं भी एक संत हूं, आप जाकर कह दीजिये कि मीरां बाई आपके दर्शन करने को आई है।" दरवान मीरां का नाम सुनकर चौंका और प्रणाम करके बोला "बाई जी! मेरा अपराध क्षमा कीजिये, मैंने तो महात्मा जी की आज्ञा आपको सुनाई है।" दरवान ने मीरां की ख्याति सुन रक्खी थी, अत्यन्त पूज्य भाव से बोला "मैं महात्मा

से आपके दर्शन करने की इच्छा प्रकट करता हूँ।" दरबान गया और लौटकर आकर कहने लगा "बाईजी! महात्माजी ने कहा है कि मीरां से कह दो कि मैं कभी स्त्री को दर्शन नहीं देता, मैंने सुना है कि वह भी एक संत है परन्तु स्त्री जाति होने से मैं अपने निश्चय से विरुद्ध दर्शन नहीं दे सकता।" यह सुनकर मीरां आश्चर्ययुक्त हो बोली "अहो! बड़ा आश्चर्य है। आज तक मैं जगत् में एक ही पुरुष को जानती थी, जगत् में सब स्त्रियां हैं, यह दूसरा पुरुष कहां से आया? जो स्त्री का मुख देखने से घृणा करता है, चाहे जो कुछ हो, मैं उसके दर्शन अवश्य करूंगी। यदि वह अपने को पुरुष सिद्ध कर देगा तो मैं दर्शन नहीं करूंगी। जितने शरीरधारी हैं, सब स्त्री से ही उत्पन्न हुए हैं, स्त्री से उत्पन्न हुआ पुरुष कैसा? जिसे स्त्री ने जन्म दिया है वह पुरुष कदापि नहीं हो सकता! पुरुष तो असंग, अव्यक्त और अज है, संगवाला, व्यक्तिवाला और जन्मा हुआ पुरुष कैसा!" जब दरबान ने मीरां के ये शब्द ज्यों के त्यों संन्यासी को जाकर सुनाये तो वे आश्चर्य करने लगे और मीरां की निष्ठा अपनी निष्ठा से कई दर्जे ऊंची जानकर उनमें अत्यंत पूज्य भाव उत्पन्न हुआ। "जो सब जगत् को स्त्री बता रही है; उस स्त्री को स्त्री कैसे माना जाय!" ऐसा विचार कर वे एक दम प्रेम में मग्न हो बाहर जहां मीरां खड़ी थी वहां आगये और पैरों में गिर पड़े, प्रणाम किया और नम्र भाव से बोले "मेरा अपराध क्षमा कीजिये, मेरे पुरुषत्व के अभिमान वाली तू ही हो! सच है मैं व्यक्ति वाला पुरुष नहीं हो सकता! जिसका व्यक्ति भाव निवृत्त

हो गया है, जिसकी स्त्री पुरुष की भावना जाती रही है वह ही ब्रह्मनिष्ट है ! मैं त्याग कर चुका था परन्तु त्याग का त्याग सिखलाने वाला गुरु मुझे आज मिला है !" संन्यासी के इस सच्चे भाव से मीरां भी प्रसन्न होकर गद्गद हो गई !

संन्यासी जो पंडित होकर भी, नींद में पड़ा था, आत्म तत्त्व में जाग उठा। मीरां का आत्म प्रकाश संन्यासी के हृदय में तेजी से घुस गया और उसके मोह रूप अंधेरे का नाश किया। संन्यासी मीरां को अति सन्मान सहित अपने स्थान पर लेगये। मीरां अति आग्रह से दो दिन रहकर संन्यासी को भी पवित्र कर के चली गई। वह ही सच्ची संत थी !

जिसको परब्रह्म का ही भान है और जगत् के भेद भाव पर जिसका लक्ष नहीं है वह ही संत है। जो सब प्रकार से सब का अंत कर के एक अपने ही स्वरूप में स्थित है वह ही संत है। जो अज्ञान रूप अंधेरे में भटक रहे हैं उन्हें जो ज्ञान रूप प्रकाश में ले जाते हैं वे ही संत हैं ॥९॥

को वा ज्वरः प्राण भृतां हि चिंता,
मूर्खोऽस्ति को यस्तु विवेक हीनः।
कार्या मया का शिव विष्णु भक्तिः,
किं जीवनं दोष विवर्जितं यत् ॥१०॥

अर्थः-प्रश्नः-प्राणी मात्रको बुखार कौनसा है? उत्तरः-चिंता ही बुखार है। प्रश्नः-मूर्ख कौन है? उत्तरः-जिसको विवेक नहीं है

वह मूर्ख है। प्रश्नः-मेरा कर्तव्य क्या है ? उत्तरः-शिव और विष्णु की भक्ति करना। प्रश्नः-जीवन क्या है ? उत्तरः-जो दोष रहित जीना है, वह।

छप्पय ।

ज्वर दुःख दायक कौन, कष्ट दे चित्त जलावे।
चिंता ज्वर अति दुष्ट, सर्व प्राणीन सतावे॥
मूर्ख शिरोमणि एक, कौन संतन बतलाया।
जिसको नहीं विवेक, मूर्ख सब से हि सवाया॥
क्या मेरा कर्तव्य है, हरि हर भक्ति विशेष है।
जीवन शुचि है कौनसा, दोष न जिसमें लेश है॥१०॥

विवेचन ।

जो अनेक प्रकार से जलन को उत्पन्न करे उसे ज्वर कहते हैं, उसका ही नाम बुखार है। चिन्ता सबको जलाने वाली और दुःख देने वाली होने से बुखार है। बुखार जब होता है तब ही दुःख देता है, चिन्ता हमेशा दुःख दिया करती है। अविवेकियों को किसी न किसी प्रकार की चिंता बनी ही रहती है इसलिये चिंता बुखार से भी विशेष है। जो चित्त को जलावे उसका नाम चिंता है। अज्ञान से चित्त में जलन हुआ करती है। सौन्दर्य असौन्दर्य रूप और सिद्धासिद्ध रूप जो चित्त की वृत्ति है वह ही चिंता है। 'मैं धनाढ्य क्यों नहीं हूं ? मेरा यह काम सिद्ध क्यों नहीं हुआ ? मुझे रहने को मकान

चाहिये, मेरी स्त्री मेरी आज्ञानुसार नहीं है, मालिक अच्छा नहीं है, धन्धे में नुकसान है, मुझे एक घोड़ा चाहिये, मुझे कोई अच्छा नौकर नहीं मिलता, यह दुःख किस प्रकार मिटे ? यह कार्य किस प्रकार सिद्ध हो ?" ऐसे २ अनेक विचारों से चित्त में जो जलन होती है उसका नाम चिंता है। चिंता से शरीर का रूप बिगड़ जाता है, शुभ गुणों का नाश होता है, मन मलिन रहता है, विवेक और चातुर्यता जाती रहती है; इस प्रकार चिंता में अनेक प्रकार की हानि ही हानि भरी है। चिन्ता करके किसी का भी कभी कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। किसी विद्वान् ने कहा है:—चिंता और चिता दोनों ही शब्दाकृति से समान हैं परन्तु चिता से चिन्ता में एक बिन्दु अधिक है, उस अधिक का यह फल है कि चिता जिसमें मुरदा फूंका जाता है, उसकी अग्नि मरे हुए मुरदे को जलाती है और बिन्दु की अधिकता वाली चिन्ता जीते हुए शरीर को जलाती है—बिन्दु के समान जिस शरीर में जीव का वास है उसे जलाती है। मतलब यह है कि चिता की अग्नि से भी चिन्ता की अग्नि विशेष जलाने वाली है। चिता मरे हुए को जलाती है; मरे हुए को जलने का दुःख नहीं होता परन्तु चिन्ता तो जीते हुए को जलाती है, जो जीता होने के कारण बहुत कष्ट पाता है; और कहा है:—

दोहा:—चिन्ता से सुधि बुधि घटत, घटत रूप गुण ज्ञान।
लाज, काज, विद्या घटत, चिन्ता चिता समान॥

संसार में जितने दुःख होते हैं, चिन्ता से ही होते हैं। जब मनुष्य निश्चय पूर्वक चिंता का त्याग करता है तब शांति पाता है और तृष्णा भी नहीं रहती। चिन्ता होकर जल्दी से मिटती नहीं है, जैसे किसी का शरीर किसी कारण जल जाय तो अग्नि हटा लेने से भी वहां का दुःख नहीं जाता, जब कई दिन औपधोपचार करते हैं तब शांति होती है, इसी प्रकार की चिंता है।

जिसको आशा लगी हुई है उसे चिंता लगी रहती है। चाहे कैसा भी हो, अज्ञानी की आशा की निवृत्ति नहीं होती इसलिये उसकी चिंता की भी निवृत्ति नहीं होती। जब गुरु कृपा और अपने पुण्य के प्रभाव से अज्ञान की निवृत्ति होती है तब आशा की निवृत्ति होती है और सम्पूर्ण आशा की निवृत्ति होने से स्वरूप में स्थिति होती है और स्वरूप में स्थिति होने से चिंता का समूल नाश होता है।

मूर्ख शिरोमणि—सब से विशेष मूर्ख कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि जिसको नित्य अनित्य तत्त्व का निश्चय रूप विवेक नहीं है, वह ही महा मूर्ख है और सब प्रकार के मूर्ख उससे न्यून हैं क्योंकि उन्हें मूर्खता का फल न्यून होता है और अविद्या रूप अविवेक का फल अनेक जन्मों तक भोगा जाता है इसलिये आत्म विवेक रहित अविवेकी महा मूर्ख है। जो अनन्त काल तक अपना नुकसान ही करता रहे उसे महा मूर्ख कहना चाहिये। पृथ्वी पर मूर्खता के समान मनुष्य के लिये विष, अग्नि

आदिक कोई भी अन्य व्याधि नहीं है। मूर्खता ही शरीर को दुःख देने वाली है। अंधेरे कुए की गुफा में रहना, चांडाल के द्वार पर पड़े रहना, दुतकार के साथ भिक्षा से उदर भरना यह अच्छा है, परन्तु मूर्खता अच्छी नहीं है इसलिये विवेक प्राप्त करके मूर्खता छोड़ना योग्य है। विवेक विना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान विना मोक्ष सुख नहीं होता। विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता ये ज्ञान के चार साधन हैं परन्तु इन सब की आदि विवेक है, विवेक से वैराग्य आदि होते हैं, इसलिये विवेक ही प्रधान साधन है। जो विवेक रहित है उसका कभी भी कल्याण नहीं होता। विवेक रहित मूर्ख अनेक प्रकार के कष्टों को प्राप्त होकर चौरासी लक्ष योनियों में अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। महा मूल्यवान् ऐसे मनुष्य शरीर को प्राप्त करके जिसने अपने कल्याण निमित्त विवेक नहीं किया वह महा मूर्ख है!

तीन गंजेड़ी मित्र एक समय मुसाफिरी में निकले। वे तीनों एक समान मूर्ख, ऐदी और अविवेकी थे। उनको व्यवहारिक विवेक यानी हिताहित का भी बोध न था। चलते चलते जब वे थक गये तब एक ग्राम के किनारे एक वृक्ष के नीचे विश्राम लिया और जो सामग्री उनके पास थी, उसकी तीनों ने मिल कर रसोई बनाई। अब भोजन करने की देर थी। पत्ते वहां थे नहीं, थोड़ी दूर पर केलों का एक बगीचा दीख रहा था। जब वहां से केले के पत्ते लाये जांय तब भोजन हो। एक ने अपने पास से एक छुरी निकाल कर दूसरे के हाथ में देकर कहा "पास के

वगीचे में से तू अपने लिये केले के पत्ते काट ला !" उसने तीसरे के हाथ में छुरी देकर कहा "तू अपने लिये केले के पत्ते काट ला !" उसने छुरी ले पहिले को देकर कहा "तू ही जाकर काट ला !" इस प्रकार तीनों में से कोई भी पत्ते लेने न गया। तब क्या करना चाहिये यह विचार कर तीनों ने इस प्रकार मौन्यवाद ग्रहण किया कि जो प्रथम वोले वह केले के पत्ते लावे। अब वे तीनों चुप हो गये, वोलने की मनाई थी। थोड़ी देर में कुत्ते आये। अब उनमें से जो कोई चिल्लावे उसका मौन भंग हो जाय इसलिये तीनों चुप वैठे रहे और कुत्तों ने आनन्द से रसोई का भोग लगाया। तीनों देखते रहे, कोई न वोला, न कोई हिला। रात्रि हुई और वारह वजे के अन्दाज ग्राम के चौकीदार ने आकर पूछा "तुम कौन हो ? यहां वैठने का क्या कारण है ?" जब उसे कुछ भी उत्तर न मिला तव उसने निश्चय किया कि ये चोर हैं। ऐसा विचार कर उसने सीटी वजाई, दूसरे दो चौकीदार आ पहुंचे। तीनों ने मिल कर उनमें डंडे लगाना आरम्भ किया तो भी किसी ने चूं या चां न की। चौकीदार तीनों को वांध कर पुलिस की चौकी पर ले गये और हवालात में वन्द कर दिये। रात भर तीनों हवालात में वन्द रहे, सुवह जव कचहरी खुली तव पुलिसनायक उन्हें मैजिस्ट्रेट के सामने ले चले। अभी तक किसी ने एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया था, पुलिस के मारने पर भी कोई कुछ न वोला। अन्त में पुलिस ने एक को ले जाकर मैजिस्ट्रेट के सामने खड़ा किया। मैजिस्ट्रेट ने उससे वहुत कुछ पूछा परन्तु वह न वोला ! तब मैजिस्ट्रेट ने कहा "यह पागल

है, इसे निकाल दो !" एक सिपाही धक्के मार कर उसे बाहर निकाल रहा था और दूसरा सिपाही दूसरे को लाने की तैयारी में था। अन्त में सिपाही ने पहिले को ऐसा धक्का दिया कि वह बाहर निकलता हुआ गिर गया, उसका अत्यन्त अपमान हुआ इस आवेश में वह मौन्य व्रत को भूल गया और एक दम बोल उठा "दूर हो हरामखोर ! तू किसको धक्के मारता है ?" अभी वाक्य पूर्ण होने नहीं पाया था कि दोनों गंजेड़ी दौड़ आये और विजयनाद कर, छुरी हाथ में देकर कहने लगे "हे मूर्ख ! अब तो यह छुरी ले और केले के पत्ते काट ला !" तीनों की यह चेष्टा देख कर कचहरी वाले आश्चर्य करने लगे ! मैजिस्ट्रेट ने पूछा "तुम्हारी इस चेष्टा का क्या भाव है ?" गंजेड़ियों ने अपना सब वृत्तांत सुनाया। उनका वृत्तांत सुन कर तीनों की मूर्खता पर मैजिस्ट्रेट को हंसी आई और उसने तीनों को निकलवा दिया।

यह कितनी मूर्खता थी, कितना अविवेक था। थोड़ी सी देर के काम के निमित्त मौन्य को ग्रहण किया, मौन्य की कीमत विशेष समझी, रसोई का नाश होना, रात भर भूखा मरना, बंदीवान् होना, मार खाना ये सब सहन किया-तुच्छ समझा। यह ही अविवेक है। अज्ञानी मनुष्य इसी प्रकार हैं, आत्मा की तरफ मौन्य ग्रहण किये हुए हैं, माया का गांजा पीकर गंजेड़ी बने हैं, संसार में अनेक कष्ट पा रहे हैं परन्तु आत्मा की तरफ बोलते नहीं हैं, वहां के मौन्य को त्यागते नहीं हैं। यह मूर्खता मूर्ख शिरोमणित्व ही है। मायिक तुच्छ पदार्थों को विशेष महत्त्व का समझते

हैं और जो महत्त्व का है, उसे तुच्छ—कुछ भी नहीं समझते हैं। एक ने कहा है:—"सब जगत् मूर्खों से भरा है, कोई एकाध ही मूर्खता को त्यागने में समर्थ होता है।"

मुझे क्या करना योग्य है? इसके उत्तरमें कहा है कि शिव या विष्णु की भक्ति करनी चाहिये। जो वेदान्त का ठीक ठीक अधिकारी नहीं है और जो विवेक करने में असमर्थ है, ऐसे का यह प्रश्न है। ऐसे के अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त भक्ति बताई है, भक्ति उपासना को कहते हैं। जो ब्रह्म को न जान सके उसके लिये ब्रह्म के समीप जाने का उपाय उपासना है। जैसे चाहे सैकड़ों उपाय करो, ज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो सकती ऐसे ही अन्य सैकड़ों उपाय करो परन्तु भक्ति विना ज्ञान नहीं होता ज्ञान और भक्ति एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। उपासना विना ज्ञान नहीं और सामान्य ज्ञान विना उपासना नहीं होती। उपासना दो प्रकार की है, सगुण उपासना और निर्गुण उपासना, इन्हीं का नाम अपरा और पराभक्ति है। ये दोनों प्रकार की उपासनायें साथ साथ हों ऐसा नहीं है। जो निर्गुण उपासना कर सकता हो वह उसे करे और जो उसके करने में असमर्थ हो वह सगुण उपासना करे। शिव और विष्णु की भक्ति कहने से दोनों प्रकार की उपासनाओं का भाव है। शिव का जहां जहां वर्णन है, वहां वहां बहुत करके निर्गुण रूप से है और विष्णु का सगुण भाव से है इसलिये शिव, विष्णु की भक्ति करने का अर्थ निर्गुण और सगुण उपासना का है। पुराणों में जहां शिव और विष्णु का भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन है वहां शिव की उपासना करने वाले

के लिये शिव का सगुण और निर्गुण दोनों रूप से वर्णन है, ऐसे ही विष्णु के उपासकों के लिये विष्णु का सगुण और निर्गुण दोनों रूप से वर्णन है। ऐसे स्थानों पर नाम, गुण, अगुण से भी अन्तिम तत्त्व एक ही रक्खा गया है। सगुण उपासना-भक्ति में भी साकार और निराकार दो भेद हैं। साकार गुण सहित और निराकार स्थूल गुण रहित है। जो स्थूल गुणों को धारण करता है उसके लिये साकार और जो सूक्ष्म गुणों को धारण करता है उसके लिये निराकार है। ऐसे ही निर्गुण में भी दो भेद हैं:—निर्गुण रहितत्व का जो एक गुण है वह सूक्ष्म है और सगुण निर्गुण के भाव रहित सगुण की अपेक्षा रहित निर्गुण तत्त्व रूप है। प्राचीन काल में जो उपासना विधि थी उसके बदले पुराणोक्त भक्ति की विधि हालमें विशेष प्रचलित है। उसमें अपरा भक्ति के नव भेद इस प्रकार किये हैं:—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वंदन, दास भाव, सखा भाव और आत्म समर्पण। जिसने जिस स्वरूप से ईश्वर को माना है, उसके लक्षण और चरित्रों को सुनना श्रवण है, उसके स्तोत्र कथन करना उसके गीत गाना कीर्तन है, उसको वारम्वार याद करना स्मरण है, मन्दिर को धोना, झाड़ देना, गुरु के पग दवाना पाद सेवन है, आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, गंध, पुष्प, धूप, दीप, अन्न, नमस्कार, प्रदक्षिणा इन षोडश उपचारों से पूजन करना अर्चन है, हृदय, मस्तक, दृष्टि, मन, वाणी, चरण, हाथ और कर्ण इन अष्टांगों से प्रणाम करना वंदन है, आप ही मेरे मालिक और रक्षक हैं, मैं आपका किंकर हूँ,

ऐसा भाव धारण करना दास भाव है, मित्रता की भावना सखा भाव है और मैं आपके ही अर्पण हो चुका, अब मैंने अपनी भिन्न भावना नहीं रक्खी, ऐसा भाव आत्म समर्पण है।

प्राणी मात्र पर दया, प्रिय भाषण, सबके हित में प्रेम, संत, शास्त्र पर श्रद्धा, प्राणियों के दोष न देखना, गुण देखना और ग्रहण करना, सब से मैत्री रखना, इष्ट पर पूर्ण प्रेम रखना, गुरु की तन मन और धन से सेवा ये सब भक्ति के ही लक्षण हैं। परा भक्ति-निर्गुण उपासना में विष्णु के अवलम्बन का भाव इस प्रकार होता है:—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र और मरुत देवता दिव्य स्तोत्रों करके जिसकी स्तुति करते हैं, अंग, पद, क्रम और उपनिषद् सहित सामवेद के पढ़ने वाले जिसका गायन करते हैं, योगीजन जिसमें लगे हुए निश्चल मन से जिसे जानते हैं, देव और दैत्य जिसका पार नहीं पा सकते, ऐसे विष्णुदेव को मैं प्रणाम करता हूं। शिव के अवलम्बन से भी इसी प्रकार का भाव प्रकट होता है:-पाताल में, अन्तरिक्ष में, दशों दिशाओं में, आकाश में, सब पर्वतों में, समुद्रों में, राख में, लकड़ी में, मिट्टी के ढेले में, पृथ्वी में, जल में, पवन में, असुर और देवताओं के पतियों में, औषधियों के बीजों में, पुष्पों की पंखड़ियों में, घास में और सब स्थावर जंगम में जो एक शिव व्यापक है, उसे मैं प्रणाम करता हूं। अथवा जो व्यक्त और अव्यक्त के गुणों से पर है, सुख का देने वाला है, सब तत्त्वों से पर जो एक महातत्त्व रूप है, जो योगीजनों के हृदय में ही जानने योग्य है, सूक्ष्म से

अति सूक्ष्म है, परम, शांत, चारों अवस्थाओं से रहित, पंचम स्वरूप, आकाश के समान व्यापक तेजोमय जो तत्त्व है, उसे मैं निर्मल मन से प्रणाम करता हूं।

जो अपने इष्टदेव को सर्वत्र व्यापक जानता है, वह उत्तम भक्त कहलाता है, जो परमेश्वर के भक्त की सेवा करता है और उसके ऊपर आस्था रखता है वह मध्यम भक्त कहलाता है और जो प्रतिमा में ईश्वर को एक देशी मानता है वह अधम भक्त कहलाता है और जो किसी प्रकार के भाव से भी भक्ति नहीं करता वह पामर है। सर्वत्र व्यापक एक ईश्वर को उत्तम भक्ति की रीति से भजना यह मुख्य कर्तव्य कर्म है, जिसने यह नहीं किया उसने संसार में आकर चाहे जितने शुभ कार्य किये हों, यश संपादन किया हो, द्रव्य प्राप्त किया हो या ग्राम, जमीन प्राप्त किये हों ये सब उसको वृथा हैं और इनमें से कुछ भी प्राप्त न किया हो, एक परमात्मा की भक्ति की हो, उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया है।

प्रह्लाद हिरण्यकशिपु दैत्य का पुत्र था। वह दैत्य का पुत्र होने पर भी विष्णु का परम भक्त था क्योंकि वह जितेन्द्रिय, शुशील और सत्य प्रतिज्ञा वाला था और सब प्राणियों को आत्म स्वरूप ही मानता था, बड़ों के साथ नम्रता से वर्तता था, दीन जनों पर दया करता था और बराबर वालों पर स्नेह रखता था। विद्या, धन, रूप और कुलीनता से युक्त होकर भी वह अहंकार से रहित था, विपत्ति पड़ने पर भी घबड़ाने वाला न था, देखे सुने

सब पदार्थों को मिथ्या मानता था इसलिये उसमें किसी प्रकार की कामना न थी। भगवद्भक्त में जितने गुण आवश्यक हैं वे सब उसमें थे। भगवान् के ध्यान में चित्त आनन्दित होने पर कभी वह विरह के कारण रोता था, कभी आनन्द में आकर गाना गाता था और हंसता था, कभी ऊंचे स्वर से भगवान् को पुकारता था, कभी लज्जा त्याग कर नाचने लगता था, जब कभी भगवद् लीला का अनुकरण करने लगता था तब शरीर के रोंगटे खड़े हो आते थे और कभी चेष्टा रहित ईश्वर के ध्यान में लीन हो जाता था, दृढ़ प्रेम के कारण हर्षाश्रु के जल से उसके नेत्र पूर्ण रहते थे। इस प्रकार के भागवत् पुत्र को गोद में लेकर उसका पिता पूछने लगा "हे वत्स! इतने समय में तूने गुरु से क्या शिक्षा पाई है तूने किसको उत्तम समझा है? प्रह्लाद बोला हे असुर श्रेष्ठ! लोगोंकी बुद्धि 'मैं और मेरा' इस प्रकार के असत् भाव से हमेशा उद्विग्न रहती है, यह ही आत्मा के अधःपात का कारण है, गृह अंध कूप के समान है उसे त्याग कर बन गमन पूर्वक हरिशरण ग्रहण करना ही मैं उत्तम समझता हूं।" पुत्र के इस प्रकार के वचनों से हिरण्यकशिपु क्रोधित हुआ और प्रह्लाद के गुरु के पास जाकर कहने लगा "तुमने उसे इस प्रकार का बोध क्यों दिया? यदि किसी दूसरे ने उसे बहकाया हो तो उसकी निगाह रखनी चाहिये!" गुरु ने कहा "मैंने उसे इस प्रकार का बोध नहीं दिया है और दूसरा भी न देने पावे इसकी मैं निगाह रक्खूंगा!" पश्चात् गुरु ने विष्णु का भाव छुड़ाने को प्रह्लाद को अनेक प्रकार से समझाया और ताड़ना भी दी परन्तु उसने अपने

निश्चित भाव को न त्यागा। इतना ही नहीं किंतु जब जब अवसर मिलता तब तब अन्य लड़कों को भी अपना निश्चय समझाता था। लड़कों को उसकी बात मानते देख कर गुरु अप्रसन्न होने लगे और इस प्रकार का वर्ताव पाठशाला में न करने की शिक्षा भी देते रहे परन्तु प्रह्लाद के ऊपर इस शिक्षा का कुछ असर न हुआ। धर्म, अर्थ और काम के शास्त्र जो प्रह्लाद को सिखाये गये थे वे सब उसने सीख लिये थे परन्तु उन पर उसकी निष्ठा नहीं थी। एक दिन गुरु उससे उसका निश्चय पूछने लगे तब उसने कहा "अपना पराया ये सब ज्ञान माया के कारण से है, जिसकी बुद्धि माया से मोह को प्राप्त हुई है वह ही उसे मानता है। जब भगवान् परम पुरुष का मनुष्य पर अनुग्रह होता है तब उसकी पशु बुद्धि यानी यह अन्य पुरुष है, मैं अन्य हूं, ऐसा बुद्धि भेद नष्ट हो जाता है और सम दृष्टि होती है। भेद बुद्धि मिथ्या है, अविवेकी पुरुष अपना और पराया करके उस परमात्मा का ही निरूपण करते हैं।" इस प्रकार की भक्ति देखकर गुरु ने प्रह्लाद को डाटा और कहा "सच! तू मुझे अपयश दिलाने वाला है। तू अपने कुल में कलंक रूप है! दैत्य वंश चन्द्र रूप है, तू उसमें कंटक कहां से उत्पन्न हुआ? जो दैत्यों के शत्रु विष्णु का ही भजन करता है, तुझे कुल का भी कुछ अभिमान नहीं है!" इस प्रकार कहने का भी प्रह्लाद पर कुछ असर न हुआ! कई दिन पीछे दैत्य राजा ने फिर प्रह्लाद को बुला कर कहा "हे पुत्र! अब तू बता कि तूने सब से श्रेष्ठ क्या समझा है?" तब प्रह्लाद बोला "हे पिता!

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, चरण सेवा, पूजा, वंदना, दास्यभाव, सखा भाव और आत्म समर्पण यह भगवान् विष्णु की नवधा भक्ति है, पढ़ा लिखा पुरुष यदि इसे करे और निष्काम होकर कृष्णार्पण करे तो मेरी समझ में यह उत्तम शिक्षा है, यह ही श्रेष्ठ है।" हिरण्यकशिपु बोला "यह बात तू कहां से सीखा है? विष्णु मेरा शत्रु है तू उसका गुणानुवाद करता है, तुझे जिसने यह सिखाया हो उसका नाम बता!" प्रह्लाद बोला "गृहस्थाश्रम में आसक्त पुरुषों की बुद्धि किसी के सिखाने से परमात्मा में नहीं लगती किन्तु कृष्ण कृपा से ही लगती है, माया में फँसे हुए की इन्द्रियां शान्त नहीं रहतीं इसलिये वह संसार में आकर भोगे हुए भोगों को ही बारम्बार भोगता है और मोहित होता है। जिनका अन्तःकरण विषयों में आसक्त है वे विष्णु को नहीं जान सकते। विचित्र सूत्र से ग्रथित वेद रूप ईश्वर की बड़ी रस्सी उनको कर्म जाल में जकड़े हुए है। वे जब तक विषयाभिमान से शून्य परम पुरुष की पद धूलि को अपने शिर पर नहीं चढ़ाते तब तक भगवान् का स्पर्श असंभव है। उनके स्पर्श से मनुष्य का जन्म मरण निवृत्त हो जाता है।" इन वचनों से हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रोधित होकर बोला "हे असुर गण! यह दुष्ट मारने योग्य है, इसको शीघ्र मार डालो, इसे मेरे पास से दूर ले जाओ, वह अपने कुटुम्ब को त्याग कर अपने ताऊ के मारने वाले विष्णु की उपासना करता है, मारो! मारो!" ऐसी आज्ञा पाते ही सब दैत्य प्रह्लाद को मारने लगे, मर्म स्थान में कई प्रहार किये परंतु प्रह्लाद का चित्त ईश्वर में लगा

हुआ होने से उसे कुछ भी दुःख न हुआ! जब यह उद्यम निष्फल गया तब हिरण्यकशिपु को चिंता हुई और वह उसे मारने को नये नये उपाय करने लगा, उसने मस्त गजराज को प्रह्लाद पर छोड़ा, विषधर सर्पों से कटवाने का यत्न किया, जादू टोने करवाये, पर्वत के ऊंचे शिखर पर से गिरवाया, माया से मारने का उद्योग किया, जहरीला धुवां भर के अंधेरी कोठरी में बंद किया, बरफ, वायु, अग्नि और जल से मारने का उपाय किया और पत्थर के नीचे दाब कर मारना चाहा; परंतु असुरराज निरपराध पुत्र को मार न सका! तो भी उसने मारने का उद्योग न त्यागा और चिंतावान् रहने लगा।

एक दिन हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से कहा "हे मूर्ख! तेरे मरने का समय निकट आ गया है। तब ही इस प्रकार की अंट संट बातें करता है, हे मंद भाग्य! तू मेरे सिवाय जो अन्य ईश्वर बताता है, वह कहां है? यदि तू कहे कि सर्वत्र है तो इस खम्भे में क्यों नहीं दीख पड़ता?" प्रह्लाद ने ईश्वर को प्रणाम करके कहा "इस खंभे में दीख पड़ता है!" हिरण्यकशिपु बोला "अब मैं तुझको खड्ग से मारता हूं. तेरा जो कोई रक्षक हरि हो वह आकर तेरी रक्षा करे!" इस प्रकार कहता हुआ पुत्र को पीड़ा देने को हाथ में खड्ग लेकर सिंहासन से उतर कर हिरण्यकशिपु ने बताये हुए खंभे में घूसा मारा। उसी क्षण खंभे में बड़ा भयानक शब्द हुआ और भक्तवत्सल भगवान् प्रह्लाद के वाक्य को सत्य करने के लिये खंभे में से अपूर्व रूप से प्रगट हुए! उनका आधा रूप मनुष्य का और आधा सिंह का था। उन्होंने दुष्ट दैत्य

को पकड़ लिया और उसकी वरदान में प्राप्त की हुई सब बातों को ठीक रखते हुए उसे मार डाला।

भक्ति की दृढ़ता इस प्रकार की होती है। भक्तों के दृष्टांतों में प्रह्लाद का दृष्टांत सर्वोच्च है। भक्ति अनेक कारणों से की जाती है परन्तु श्रेष्ठ भक्त वह ही होता है जो जगत् को निष्कारण-तुच्छ भाव से देखता है और वैराग्य पूर्वक ईश्वर भक्ति में लीन होता है। संसार में जब जब दुःख पड़ता है तब तब भक्ति की तरफ चित्त जाता है और कोई कोई संस्कारी भक्ति को प्राप्त भी करते हैं, अथवा किसी कामना से भक्ति की जाती है। अहेतुक निष्काम भक्ति का कहना ही क्या है। भक्ति और उपासना दोनों का एक ही स्वरूप है और उनका अन्तिम फल परब्रह्म की प्राप्ति है।

दोष रहित जीवन ही कल्याण कारक जीवन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा, ईर्षा और जुगुप्सा आदि दोष मनुष्य को त्यागने चाहिये; ये दोष अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं। क्रोध से जलन होती है, कामना में द्रव्य का व्यय और दुःख होता है, मोह से कार्य अकार्य का विवेक नहीं रहता। अपने प्रिय पदार्थ का नाश होता हो तो भी चित्त को समान रखना—शोकातुर न होना, इस प्रकार जीवन व्यतीत करना शोभा रूप है और इससे विरुद्ध जीवन बूढ़े गधे के समान दुःख रूप ही है। शास्त्र विधि निषेध से युक्त जीवन श्रेष्ठ है। कपट, चोरी, हिंसा, दंभादिक सहित किया हुआ व्यवहार और ऐसे उपायों से प्राप्त किये द्रव्य से जीवन व्यतीत करना दोष रूप है।

न्याय से पैदा किये हुए धन से प्राणकी रक्षा करनी चाहिये। अन्याय से जीवन विताना धर्म विरुद्ध है। अन्याय से पैदा किये हुए धन से जो धर्म करने में आता है, वह धर्म अधर्म रूप होने से नरक में ले जाने वाला होता है। अपने अथवा दूसरे के स्वार्थ हेतु कभी भी अन्याय न करना चाहिये। ऐसा करना उत्तम जीवन है इससे विरुद्ध यदि श्वास लेने का नाम ही जीवन हो तो लोहार की धौंकनी भी श्वास लेती ही है। जिस जीवन से ऐहिक सुख की प्राप्ति नहीं होती अन्य का लाभ नहीं होता, परमार्थ की सिद्धि नहीं होती. वह जीवन व्यर्थ है।

प्रपंच की आसक्ति से लिप्त जीवन निर्दोष नहीं होता इसलिये व्यवहारिक कार्य करते हुए, स्त्री, पुत्र, द्रव्यादि से संतोष रखते हुए कीर्त्ति प्राप्त करना चाहिए, असन्मार्ग से कीर्त्ति की इच्छा करना अच्छा नहीं है, सन्मार्ग में यदि कीर्त्ति न मिले तो भी अच्छा है। असन्मार्ग में दंभ और छल से पैदा किया हुआ लाभ और कीर्त्ति जीवन को भ्रष्ट करने वाली है इसलिये शास्त्रोक्त लौकिक सन्मार्ग में विचरना चाहिये। इस लोक की कीर्त्ति की इच्छा से आत्म प्राप्ति के मार्ग में विघ्न न आवे इसे भी विचारते रहना चाहिये। जब लौकिक जीवन शुद्ध होता है, समानता वाला होता है तब उससे पारलौकिक प्रारम्भ हो सकता है। यदि लौकिक जीवन अशुद्ध होगा—विषम होगा तो मनुष्य पारलौकिक में चल नहीं सकता इसलिये वर्णाश्रमोचित धर्म का आचरण करते हुए, इन्द्रिय निग्रह करके ईश्वर परायण होना

चाहिये, भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से भक्ति को दृढ़ करते हुए आत्म स्वरूप को जान कर मनुष्य जन्म को सार्थक करना चाहिये। जिसने इस प्रकार के मायिक भाव को तोड़ दिया है उसके जीवन को धन्य है। पूर्ण आत्मिक भाव में निर्दोष, शुद्ध जीवन, शांति का देने वाला जीवन ज्ञान प्राप्ति के बाद ही हो सकता है; तो भी जहां तक बने, व्यवहार में भी निर्दोष भाव रख कर वर्तना अच्छा ही है। काम, क्रोध और मोह की चोटें खाते हुए जीते रहना अत्यन्त दुःख रूप है। ऐसे दुःख रूप जीने से मरना भला है। क्षण क्षण में दुःख की आशंका रहती है, अनेक प्रकार के दुःखों से पीछा नहीं छूटता और चित्त में कभी शांति नहीं रहती। आंतरिक जलन नहीं बुझती, ऐसा जीवन जीने वाले को नरक का अनुभव कराता है और मरने के पश्चात् भी शुभ कर्म न होने के कारण दुःख ही प्राप्त होता है ऐसा नाम मात्र का जीना अज्ञानियों का है, विवेकी लोग मरण को और पशु आदिक के जीवन को ऐसे जीने से अच्छा बताते हैं इसलिये सदाचार युक्त निर्दोष उद्यम से, आसक्ति रहित कर्तव्य कर्म से आत्म श्रेय साधते हुए जीता रहना सुख रूप होता है ॥१०॥

विद्या हि का ब्रह्म गति प्रदा या,
बोधो हि को यस्तु विमुक्ति हेतुः।
को लाभ आत्मावगमो हि यो वै,
जितं जगत् केन मनोहि येन ॥११॥

अर्थः-प्रश्नः-विद्या क्या है ? उत्तरः-जो ब्रह्म गति को देती है, वह विद्या है। प्रश्नः-बोध क्या है ? उत्तरः-जिससे मुक्ति प्राप्त होती है, वह। प्रश्नः-लाभ क्या है ? उत्तरः-आत्म प्राप्ति लाभ है। प्रश्नः-जगत् किसने जीता है ? उत्तरः-जिसने मन को जीता है, उसने जगत् को जीता है।

छप्पय।

विद्या क्या कहलाय, पाय जिसको नर सोहे।
ब्रह्म प्राप्ति हो इष्ट, श्रेष्ठ विद्या जग सोहे॥
किसको कहते बोध, शांति अविचल का दाता।
जिससे होवे मुक्ति, बोध सम्यक् कहलाता॥
सर्व श्रेष्ठ क्या लाभ है, आत्म लाभ उत्तम महा।
जीता किसने है जगत्, मन जित जग जित है कहा॥११॥

विवेचन।

जिस विद्या से ब्रह्म की प्राप्ति हो उसे ही सर्व श्रेष्ठ विद्या कहते हैं, इसके सिवाय जितनी और विद्यायें हैं वे सब अविद्या स्वरूप हैं। योग्य शिष्य को तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा जो उपदेश मिलता है उसका नाम ब्रह्म विद्या-महा विद्या है। जिस विद्या से समग्र अविद्या और अविद्या कृत बंधनों की निवृत्ति होकर स्वरूप में स्थिति हो उसे विद्या कहना चाहिये। शौनक ने अंगिरा से कहा था कि जानने योग्य दो विद्यायें हैं, जिनको ब्रह्म-

वेत्ता पुरुष परा और अपरा विद्या कहते हैं। परा मुख्य विद्या है जो ब्रह्म का बोध कराती है। अपरा अमुख्य विद्या है जो अविद्या मय है और अविद्या का ही बोध कराने वाली है वह कर्म रूप है। यदि अपरा विद्या से निष्काम कर्म किये जांय तो वह अंतःकरण की शुद्धि रूप विद्या की प्राप्ति कराने की योग्यता दे सकती है, इस भाव से उसे जानने को कहा है। वह अपरा विद्या रूप ऋक्, यजु, साम, अथर्वण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष है। वह व्यौहार निमित्त और शुद्धि के निमित्त है।

अक्षर, ब्रह्म अदृश्य रूप, अग्राह्य रूप, अवर्ण रूप, अचक्षु रूप, पाद और हाथ से रहित, नित्य विभु, सब में व्यापक, अत्यंत सूक्ष्म, तत् यानी प्राकृत ब्रह्म रूप, अव्यय रूप, स्थावर जंगम का कारण रूप, जिसको विवेकी विचार से देखते हैं यानी आत्म साक्षात्कार करते हैं, वह पराविद्या है, वह ही विद्या है। ब्रह्म प्राप्ति के सिवाय अन्य विद्या—जगत् की विद्या जगत् की बेगार रूप है। सब का आधार रूप ब्रह्म विद्या ही विद्या है। यदि कोई वेद, शास्त्र, पुराण सब जानता हो परन्तु ब्रह्म को न जानता हो तो उसका सब जानना झूंठा है, उसका कथन कौवे के कथन के समान है। केवल वेद, शास्त्र के जानने से ही मुक्ति नहीं होती। यह सब जगत् मायामय है, जो कुछ सुनते हैं, देखते हैं वह सब नाम रूपात्मक माया रचित है इसलिये माया का कार्य है, उसमें ईश्वर व्यापक है इसलिये असत्य दृश्य का त्याग करना चाहिये। पदार्थों को फेंक देना रूप त्याग नहीं है, नाशात्मक जगत् की असत्यता ठीक ठीक समझना विद्या है इसके सिवाय अभिमान

से जो कोई जो कुछ करता है, वह अपनी आयु व्यर्थ खोता है। 'यह मैंने जान लिया है यह मुझे जानना बाकी है' ऐसा भाव जो किया करता है, ब्रह्म को जानते हुए भी करोड़ों जन्मों तक उसका मोक्ष नहीं होता इससे समझना चाहिये कि उसे वास्तविक वस्तु का बोध नहीं हुआ। अनेक जन्मों तक पढ़ने से भी शास्त्र का अन्त कभी नहीं आता। जिसने ब्रह्म को जान लिया उसने सब कुछ पढ़ लिया व्यवहारिक पदार्थों की प्राप्ति के समान ब्रह्म की प्राप्ति नहीं है ब्रह्म की प्राप्ति विलक्षण प्रकार से होती है। विद्वानों के व्याख्यान से ज्ञान नहीं होता किंतु पूर्व पुण्य की प्रबलता से पूर्ण वैराग्य से, शुद्ध सतोगुणी वृत्ति से, निर्मल बुद्धि और सत्पुरुष द्वारा होता है। जब यह सब संयोग प्राप्त हो जाते हैं तब जीव ब्रह्म की एकता होने में विलम्ब नहीं होता। जिस समय जीव ब्रह्म की एकता का बोध होता है, उसी समय जीव भाव का ब्रह्म में प्रवेश हो जाता है और सब संशय निर्मूल हो जाते हैं, पंचतत्त्वों के मेल से बना हुआ शरीर मिथ्या समझने में आता है और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक शरीर के धर्म अपने में मानने में आते हैं। देह, स्त्री, पुत्र, धनादिक में ममत्व रहता है और अन्तःकरण में विषय घूमा करते हैं। अशुद्ध अन्तःकरण में दया, दान, ध्यान, ईश्वर की आराधना, भक्ति, श्रद्धा और समता आदिक नहीं होते। विद्या बिना राग द्वेष का त्याग नहीं होता और दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती इसलिये ब्रह्म प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये। यदि प्रयत्न तीव्र होता है तो सब अनुकूलता भी प्राप्त हो जाती है।

देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण से मुक्त हुए विना, मलिन-अपक अन्तःकरण से, तीव्र वैराग्य विना, स्त्री के क्लेशों से; धन की आपत्ति से अथवा और किसी दुःख के कारण गृहस्थी का त्याग करके वैरागी बन जाना ऐसा आचरण ब्रह्म प्राप्ति कराने वाला नहीं होता। जंगल या शहर में घूमना, बड़ी बड़ी जटायें रखना, टट्टी पेशाब के मन्त्र वालना इनको विद्या नहीं कहते। मज़हब के वरंडे में कैद रखने वाली विद्या नहीं है, इससे तो गृहस्थी में रहते हुए, आश्रम धर्म करते हुए, व्यवहार करते हुए, अनेक प्रकार के साधनों से अन्तःकरण शुद्ध करना उत्तम है। जब तक तीव्र वैराग्य न हो तब तक ऐसा ही कार्य करना अच्छा है। ब्रह्मनिष्ठ होने के पश्चात् तो कोई भी आश्रम धर्म वाधक नहीं होते। प्रतापी पृथु राजा ने बोध के बाद भी राज्य किया था, जनकादि ऐसे अनेक राजा पूर्व में हुए हैं परन्तु 'मैं गृहस्थी में रह कर ही ज्ञान प्राप्त करूंगा' इस भाव वाले को कभी भी ज्ञान प्राप्त न होगा। जो वैराग्य और अन्तःकरण की शुद्धि के अनुसार समस्त अभिमानों को शिथिल करके ब्रह्म प्राप्ति के यत्न में लगते हैं, वे ही अपना कल्याण कर लेते हैं। सब प्रकार की विद्या जिसको लौकिक विद्या-अविद्या कहना चाहिये, अभिमान की वृद्धि करने वाली होती है, उससे विरुद्ध ब्रह्म विद्या अभिमान को तोड़ने वाली होती है'। अन्य विद्या पढ़ने की विद्या हैं, प्रपंच वृद्धि की विद्या हैं, ब्रह्मविद्या स्वयं अपने को जानने की और प्रपंच रूप संसार को भुलाने की विद्या है। अन्य विद्या अनेक शाखा डाल वाली है, ब्रह्म विद्या विना शाखा डाल की एक ही है और स्थिति होने पर स्वयं अपना

ही नाश करने वाली है। ब्रह्म विद्या सिवाय अन्य किसी प्रयत्न से भी जन्म मरण की निवृत्ति नहीं होती—परम कल्याण प्राप्त नहीं होता।

वृषकेतु नाम के एक ऋषि ने वेद, वेदांग आदि सब शास्त्र पढ़ लिये अनेक स्थानों में पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करके उनका पराजय किया। अनेक प्रशंसा पत्र प्राप्त किये, काशी आदिक उत्तम क्षेत्रों के पण्डितों को भी उसकी वाचा शक्ति, स्मरण शक्ति और युक्ति प्रयुक्ति से विवाद करने की शैली से परास्त होना पड़ा। बहुत समय तक इस प्रकार विचरते हुए बहुत सा धन भी उसने प्राप्त किया। अन्त में उसने अपने पिता के पास जाने का विचार किया। जहां उसका पिता रहता था वह एक विशाल शहर था, वहां भी कई नामी पंडित रहते थे। उसने विचार किया "मैं शास्त्र विशारद महा पंडित हूं, जितना मैं जानता हूं उतना कोई भी नहीं जानता, मैंने सब विद्यायें पढ़ी हैं इसलिये इस शहर के पंडितों को भी परास्त कर नाम प्राप्त करके ही पिता से मिलना ठीक है इस शहर में मेरी इस प्रकार की विशेष ख्याति से वे अत्यन्त प्रसन्न होंगे।" इस प्रकार विचार कर उसने एक मन्दिर में जाकर मुकाम किया और सब पंडितों को शास्त्रार्थ के लिये निमंत्रण किया। पंडितों से शास्त्रार्थ हुआ और शहर के सब पंडितों से वृषकेतु अधिक विद्वान् सिद्ध हुआ। सब लोग उसकी बहुत ही प्रशंसा करने लगे। जिससे सुनो वृषकेतु की स्तुति ही सुनी जाय। इच्छित कार्य सिद्ध होने से वृषकेतु अपने पिता के पास गया। वृषकेतु ने समझ रखा था कि

पिता मुझे देखकर बहुत प्रसन्न होंगे परन्तु ऐसा न हुआ। पुत्र को देखकर पिता ने कहा "हे अविद्या पात्र! क्या तू आगया?" वृषकेतु बोला "हे पिता जी! मैं सब विद्यायें जानता हूं, फिर भी आपने प्रसन्न न होकर ऐसा क्यों कहा?" वृषकेतु का पिता अनेक शास्त्र पढ़ा हुआ पंडित न था तो भी ब्रह्मनिष्ठ था उसने कहा "मूर्ख जिन विद्याओं को तू जानता है, वे वास्तविक विद्या नहीं हैं, वास्तविक विद्या तो दूसरी ही है! जिस विद्या से अभिमान बढ़े, कीर्ति की लालसा हो, जिससे जन्म मरण न छूटे, वह लौकिक विद्या है, अविद्या है और उदरपूर्णा का औजार है। जिससे ब्रह्म प्राप्ति होती है वह विद्या कहलाती है। तू चाहे जितना विद्वान् है, परन्तु ब्रह्म बोध रहित है इससे ही तू अविद्या पात्र है! जैसे बकरी के गले का स्तन देखने मात्र होता है, दूध देने वाला नहीं होता, इसी प्रकार तेरी विद्या देखने मात्र है! जिसको 'पढ़ा परन्तु गुणा नहीं' कहते हैं, ऐसा तेरा हाल है! तू तोते के समान बोलना जानता है किंतु रहस्य नहीं जानता! करछुली सब रसोई में घूमती है परन्तु स्वाद को नहीं जानती! तूने विद्या पढ़ी परन्तु उससे होने वाला आत्मबोध न हुआ तब वह विद्या विद्या नहीं है किंतु अविद्या ही है!" सच कहा है—

दोहा—जीते पंडित सैकड़ों, जग में हुए प्रसिद्ध।
जो नहिं जाना आपको, कार्य हुआ नहिं सिद्ध॥

जिस शिक्षा से बोध की प्राप्ति हो जो बोध मुक्ति का देने वाला हो उसका नाम बोध है। वारम्वार जन्म मरण और उनके

मध्य में जो अनेक प्रकार के कष्ट प्राप्त होते हैं जिनकी गिनती नहीं हो सकती उन सब कष्टों को जो मूल सहित नाश करने की सामर्थ्य रखता हो उसका नाम बोध है। जो समग्र दुःखों का नाशक नहीं है उसका नाम बोध नहीं है। उच्चार किये हुए शब्दों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसका नाम बोध है। शब्द का अर्थ से और अर्थ का शब्द से सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का ज्ञान व्यवहार में बारम्बार अभ्यास होने से होता है। यह शब्द का बोध है परन्तु परम बोध नहीं है। परम बोध में इससे कुछ विलक्षणता है। जो बोध अपने को भिन्न रख कर होता है वह परोक्ष बोध है और जो बोध अपने को भिन्न न रखते हुए होता है वह अपरोक्ष है। अपने आत्मा को भिन्न रखते हुए आत्मा परमात्मा का ज्ञान होना बोध है और अपने सहित आत्मा परमात्मा की एकता का बोध होना परम बोध है। समग्र दुःखों की निवृत्ति एकता के सिवाय नहीं हो सकती। एकता का बोध ही परम पद है इसीलिये कहा है कि बोध तो अनेक हैं परन्तु वास्तविक बोध वही है जिससे परम पद की प्राप्ति हो। स्वस्वरूप का बोध ही बोध है।

जो युक्ति वाला वचन हो, जिससे किसी प्रकार संशय न रहे; ऐसे बालक के वचन को भी मान्य करना चाहिये, जिससे अपने आत्मा का बोध हो ऐसे नीच के वाक्य को भी ग्रहण करना चाहिये और जो युक्ति रहित, संशय को न छेदने वाले, द्वैत को स्थिर करने वाले वाक्य स्वयं ब्रह्मा भी कहे तो भी मुमुक्षुओं को

मानने योग्य नहीं हैं। जिस शिक्षा से चौरासी लक्ष योनियों में भटकना पड़े, अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ें वह शिक्षा मोक्ष दायक शिक्षा नहीं है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, सम्बन्धी आदिक की शिक्षा जिससे तीव्र मुमुक्षुता वाले को मोक्ष की प्राप्ति न हो, अथवा जो मोक्ष में सहाय रूप न हो उस शिक्षा को मानना न चाहिये। प्रपंच के दुःख भोगते रहने की जो शिक्षा दे उसे माता, पिता अथवा गुरु कैसे कहा जाय, वह तो शत्रु ही है, हित करने वाला नहीं है वे सगे संबन्धी नहीं हैं जो अज्ञान के परदे को दृढ़ करते हैं, वे मुमुक्षुओं के पूर्ण शत्रु हैं इसलिये प्रयत्न पूर्वक उनके वाक्यों को छोड़कर सद्गुरु द्वारा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से बोध प्राप्त करना चाहिये। 'मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूं, जन्म मरण मेरा नहीं होता, मैं असंग, अक्रिय, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, सुख, दुःख शरीर आदि मैं नहीं मेरा नहीं है, उनसे होने वाले दुःख मुझमें नहीं हैं' योग्यता सहित इस प्रकार के दृढ़ निश्चय-साक्षात्कार को बोध कहते हैं। जिस बोध से कृतार्थ हो, अन्य बोध की आवश्यकता न रहे, ऐसा परम शांति रूप जो अपना ज्ञान है उसे बोध कहते हैं।

व्यवहारिक माता पिता का उपदेश व्यवहार में ग्राह्य है परन्तु परमार्थ से उलटा उनका उपदेश मुमुक्षुओं को त्याग करना चाहिये, उनका ऐसा उपदेश त्याग करने से दोष नहीं लगता। प्रह्लाद ध्रुवादिक ने ईश्वर प्रेमार्थ माता पिता का उपदेश नहीं माना इससे उनको कोई दोष न लगा, आज भी उनकी निन्दा न करते हुए सब

प्रशंसा ही करते हैं परन्तु इसमें अपनी योग्यता का विचार अवश्य करना चाहिये।

एक गड़रिया जंगल में बकरियां चराया करता था। वह जंगल जंगल घूमता और पहाड़ों पर भी अपनी बकरियां ले जाया करता था। एक समय उसे एक पहाड़ की तराई में एक सिंह का छोटा सा बच्चा मिला। उसे उसने उठा लिया और बकरियों का दूध पिला पिला कर बड़ा किया, उसे वह बकरियों के साथ ही रखता था। जब बकरियां चरने जातीं तब उनके साथ सिंह का बच्चा भी जाया करता और उनके साथ ही लौटा लाया करता। बकरियों से उसका मेल हो गया था वे उसे अपने में का एक समझ कर प्रेम रखती थीं। वह उनके साथ खाता पीता और खेल कूद किया करता था। शाम को जब सब बकरियां बाड़े में बंद की जातीं तब उनके साथ सिंह का बच्चा भी बंद किया जाता। जब गड़रिया उसे बकरा कह कर पुकारता तब वह उसके पास आता इस प्रकार के समागम से वह सिंह अपने को बकरा समझने लगा 'मैं बकरा हूं' ऐसा जानने लगा 'मैं सिंह हूं' ऐसी न तो उसे खबर थी, न गड़रिये ने कभी उसे सिंह के नाम से पुकारा। सिंह को 'मैं सिंह हूं' ऐसा स्वप्न में भी विचार न था। बकरियों के सहवास से उसने उलटा यह समझ रक्खा था कि हम बकरियां सिंह की खुराक हैं, वह हमको मार खाता है। जब कभी सिंह देखने में आता तो वह अपनी जान बचाने को भाग जाता। इस प्रकार सिंह को बकरा होने का दृढ़ अभ्यास हो गया।

एक दिन जब जंगल में सिंह सहित बकरियों का झुण्ड चर रहा था तब सामने से एक जंगली सिंह आया। बकरियों के साथ सिंह को चरता हुआ देख कर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। जंगली सिंह ने गर्जना की, गर्जना सुनते ही सब बकरियां भागने लगीं, उनके साथ सिंह भी भागने लगा। जंगली सिंह ने पालतू सिंह को पुकार कर कहा "हे मित्र! खड़ा रह, बकरियों के साथ मत भाग मैं तुझसे एक बात कहना चाहता हूँ!" पालतू सिंह ने कहा "नहीं! मैं खड़ा कैसे रहूँ? मैं बकरा हूँ, तू सिंह है, तू मुझे मार डालेगा!" पहाड़ी सिंह ने कहा 'मैं तुझे नहीं मार सकता, मैं तुझे नहीं मारूंगा, मुझ पर थोड़ा विश्वास रखकर खड़ा रह!" पालतू सिंह न ठहरा, तब पहाड़ी सिंह ने कहा "देख तुझे शरम नहीं आती। तू सिंह है, तू अपने को बकरा समझ कर क्यों भागता है?" तब पालतू सिंह खड़ा होकर बोला "मैं सिंह नहीं हूँ, तू ही सिंह है, मुझसे ऐसी झूठी बात मत कह। क्या तू मुझे मार खाने को धोका दे रहा है?" पहाड़ी सिंह विचारने लगा "बकरों के संग रहने से अपने को बकरा समझ कर बन्धन में पड़ा है, इसको सच्चा उपदेश देकर इसके बकरेपने के अध्यास को छुटा देना चाहिये।" ऐसा विचार कर उसने पालतू सिंह से कहा "मित्र! विचार कर देख, बकरे तो सब छोटे हैं, फिर तू बकरा कैसा?" पालतू सिंह बोला "वे छोटी बकरियां हैं, मैं बड़ा बकरा हूँ।" पहाड़ी सिंह बोला 'तू मेरी तरफ देख, मेरे और तेरे सब लक्षण एक से हैं मैं सिंह हूं और तू भी सिंह है। बकरों के लक्षण तुझसे नहीं मिलते, बकरों के दो दो खुर हैं, मेरे और तेरे पांच

पांच नाखून हैं, बकरों के छोटी छोटी दुमें हिला करती हैं; मेरी और तेरी दुम बड़ी हैं।' पालतू सिंह ने लक्षण मिलाये तब उसे कुछ निश्चय हुआ कि हां! ठीक है, सिंह से मेरे लक्षण मिलते हैं बकरों से नहीं मिलते। वह कहने लगा "बात तो कुछ ठीक सी मालूम होती है परन्तु मुझे अभी पूरा विश्वास नहीं आता।" पहाड़ी सिंह ने कहा "तू मेरे साथ तालाब के निकट चल, मैं तुझे अपनी और तेरी दोनों की आकृति दिखलाऊं।" पालतू सिंह को कुछ विश्वास आगया था वह बकरियों को छोड़ कर सिंह के साथ होलिया। सिंह उसे एक तालाब के किनारे ले गया, दोनों एक साथ खड़े हुए, दोनों का प्रतिबिम्ब जल में पड़ा। पहाड़ी सिंह ने कहा "मेरा और अपना मुख देख, बकरों का मुख लम्बा है, मेरा और तेरा गोलाई लिये हुए है, बकरों के गले में दो दो स्तन है, मेरे और तेरे गले में पुष्कल बाल हैं। कमर, बाल, कान और शरीर का रंग हम दोनों का समान है। बकरों के शिर पर सींग हैं, हम दोनों के शिर पर सींग नहीं हैं, अब बोल तू कौन है सिंह या बकरा।" पालतू सिंह को विश्वास आगया, वह कहने लगा "मैं सिंह हूँ, ऐसा मालूम पड़ता है परन्तु तू यह बता कि मैं बकरा कैसे होगया!" पहाड़ी सिंह बोला "तू बकरों के साथ रहता है इसलिये अपने को बकरा समझने लगा है। "मैं बकरा हूँ" इस मिथ्या अभिमान को छोड़दे और अपनेको सिंह जान।" पालतू सिंह गर्जना करके बोला "सच है! मैं सिंह हूँ, अब मैं स्वतंत्र जंगल में विचरूंगा, बकरियां मेरा भोजन हैं।" ऐसा कह कर वे दोनों जंगल में चल दिये।

दोहा:—सिंह रह्यो बकरीन में, सिंहन देख डराय।
सिंह बतायो सिंह जब, तब बकरिन कूं खाय ॥

अनादि काल के अज्ञान के कारण कर्मादि संग के संबन्ध से आत्मा अपने को अल्पज्ञ, तुच्छ और विकारी मानता है। वह अपने को स्त्री, पुत्र वाला, शरीरधारी, ब्राह्मण आदि वर्ण वाला, आश्रम वाला भूल से मान रहा है और अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल कर भटक रहा है। गड़रिये समान भेदवादी गुरु उसे संसारी कहते हैं, 'तू कर्ता है, भोक्ता है' इत्यादि समझाते हैं। जब अपने पूर्व पुण्य और पुरुपार्थ से वेदांत का ज्ञाता कोई ब्रह्मनिष्ठ गुरु मिलता है तब उसे अधिकारी देखकर उपदेश देता है। जिस उपदेश से उसे अपने सच्चे अविचल रूप का बोध होता है, उसी का नाम बोध है। बोध पाकर वह स्वतंत्र सुख स्वरूप हो जाता है। सद्गुरुओं की बोध कराने की युक्तियां अनेक हैं। जिसमें जिस प्रकार का दोष समझा जाता है उस दोष को निवृत्त करके, जिससे स्वरूप का बोध हो, इस प्रकार का उपदेश दिया जाता है। उस उपदेश से जाना गया जो अपना स्वरूप है उसका नाम बोध है।

आत्म स्वरूप में स्थिति होना ही सब से विशेष लाभ है। उसके समान और कोई भी लाभ नहीं है, अन्य जितने लाभ हैं सब उसके अंतर्गत हैं। ऐहिक और स्वर्गादि का लाभ लाभ नहीं है, व्यापार में लाखों रुपये मिल जायं वह भी लाभ नहीं है। वह लाभ प्रत्येक को होना संभव है, जो पामर है उसे भी हो सकता है परन्तु इस लाभ से कोई ठीक तात्पर्य सिद्ध नहीं होता,

ऐसा लाभ दुःख का कारण है, क्षणिक है और उसके पश्चात् इससे विशेष लाभ होने की कामना भी होती है, कामना से दुःख होता है। यह लाभ इस प्रकार का समझो कि जैसे कौए को निबोली में दाख की भ्रांति होती है। जिस लाभ को प्राप्त करके उससे अधिक और कोई भी लाभ न हो और किसी लाभ के प्राप्त करने की इच्छा न रहे वह ही पूर्ण लाभ है। उस लाभ को प्राप्त करके चाहे जैसे महान् दुःख आ पड़े तो भी उनसे पुरुष विचलित नहीं होता—उसे दुःख मालूम ही नहीं होता, वह ही ठीक लाभ है। जिस लाभ से विशेष कोई लाभ नहीं है, जिस सुख से कोई विशेष सुख नहीं है, जिस ज्ञानसे विशेष और कोई ज्ञान नहीं है वह ब्रह्म स्वरूप है। इस लाभ को संपादन करने के लिये अनेक महर्षि, राजर्षि और ब्रह्मर्षि धरा, धन, धाम आदिक ऐश्वर्य का त्याग कर वन में गये हैं, राज पाट सुख का त्याग उसके निमित्त किया है। तब विचारना चाहिये कि वह लाभ कितना महान् है। सगर राजाने पुत्र लाभको लाभ समझा, उसका नाश हुआ। रावण ने ऐश्वर्य को लाभ माना, उसका नाश हुआ। नहुष ने इन्द्रियों के विषय को श्रेष्ट समझा उसका नाश हुआ। लाभ आनन्द को कहते हैं और आनन्द की अधिकता इस प्रकार है:—

जिसने वेद का अध्ययन किया हो, जो युवा और शरीर से पुष्ट हो और अखंड चक्रवर्त्ती राज्य करता हो—उसे जो सुख है, वह एक मनुष्य आनन्द है, उससे सौ गुणा आनन्द मनुष्य गंधर्व को है, मनुष्य गंधर्व के आनन्द से सौ गुणा आनन्द देव गंधर्व को है, देव गंधर्व के आनन्द से सौ गुणा आनन्द

पितृ आनन्द है, पितृओं के आनन्द से सौ गुणा आनन्द आजान देवताओंको है, आजान देवताओंके आनन्दसे सौ गुणा आनन्द कर्म देवताओंको है, कर्म देवताओंके आनन्द से सौ गुणा आनन्द देवताओं को है, देवताओं के आनन्द से सौ गुणा आनन्द इन्द्र को है, इन्द्र के आनन्द से सौ गुणा आनन्द बृहस्पति को है, बृहस्पति के आनन्द से सौ गुणा आनन्द प्रजा पति को है, प्रजापति के आनन्द से सौ गुणा आनन्द प्रत्य-गात्मा का है, वह ही आनन्द परब्रह्म की स्थिति रूप सब से श्रेष्ठ और अनन्त है।

सब प्रपंच की रचना मन से हुई है, मन के संकल्प ही दृढ़ि भूत भाव से जगत् हो प्रतीत हो रहे हैं। प्रपंच के भाव से भावित मन प्रपंच में घूमा करता है और घूमने से कभी थकता नहीं है। जाग्रत् में और सोने में भटकता ही रहता है; शायद सुषुप्ति में दब जाने से उसकी चाल मालूम नहीं होती परन्तु क्षण भर भी वह स्थिर नहीं रहता। जितना जितना वह घूमता है उतना उतना अनर्थों को ही पैदा करता है जिसका मन संसार में जीता है वह संसारी है। जब मन आत्म भाव को प्राप्त होता है-जीत लिया जाता है तब मोक्ष का भागी होता है। मोक्ष निमित्त मन को अवश्य जीतना चाहिये। जिसने मन को जीत लिया उसने चौदह लोकों को जीत लिया समझना। जिसने अनेकों को जीता परन्तु अपने मन को नहीं जीता वह हारा हुआ है! आश्चर्य है कि मन को जीतना कठिन मालूम होता है। अपना ही मन अपने वश नहीं, यह कितनी मूर्खता है! मन को

जीते बिना सब का दास बनना पड़ता है, मन के नाच से नाचना पड़ता है, मन के किये हुए टोटे को भुगतना पड़ता है! विषयों की तरफ भटकने वाले ऐसे दुष्ट मन को पूर्ण प्रयत्न से स्वाधीन करना चाहिये। इसके लिये वैराग्य और अभ्यास की अति आवश्यकता है, वैराग्य और अभ्यास से भी मन जल्दी से वश में नहीं आता। बहुत समय से बिगड़े हुए स्वभाव को सुधारने के लिये सतत प्रयास की आवश्यकता है। ॐकार आदिक की उपासना भी मन को वश करने में मदद देती है और बाह्येन्द्रियों का दमन भी उपयोगी है। मन के साथ ही मनुष्यत्व और शुभ अशुभ कर्मों का संचय रहता है। यदि वह वश हो जाय तो इस सब के रहने का स्थान न रहे। जब मन अपने अधिष्ठान को प्राप्त हो जाता है तब सब आपत्तियों की निवृत्ति और परम कल्याण होता है। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध में लिखा है:—हिरण्यकशिपु ने जब अपने पुत्र प्रह्लाद से कहा कि मैंने चौदह लोकों को जीत लिया है, इसलिये मैं सर्व से बलवान् हूं, तब प्रह्लाद ने कहा कि हे पिता! जो आपका मन है, यदि आप उसे जीत लोगे तो सब से बलवान् हो जाओगे, जब तक मन को न जीत सकोगे तब तक कायर गिने जाओगे और सब स्थानों में हारे हुए ही बने रहोगे क्योंकि जिसने मन को जीता है उसने घर में बैठे हुए ही सब को जीत लिया है। जिसने मन को जीता उसने समग्र ब्रह्माण्ड और देवताओं को जीत लिया।

छोटा सा मन जिसके वश में नहीं है उसके वश में कुछ भी नहीं है। वह विषयासक्ति में फंसा हुआ मन आत्मा का शत्रु है।

मन की मीठी मीठी बातों से उसके कहने में न आना चाहिये। जिस समय मन अपना कार्य करता है तब ऐसी मोहिनी डालता है कि आत्मा आत्मभाव से रहित होकर मन को मदद देता है, और आत्मा की मदद से मन प्रबल होता है। जब आत्मा की पहिचान हो जाती है तब मन की एक भी नहीं चलती। मन की हमेशा निगाह रखना चाहिये परन्तु मन के लालच में फंस कर उसका साथी न होना चाहिये मन राग से प्रवृत्त होता है, जहां जहां मन जाता है, वहां वहां राग अवश्य होता है। मन को लौटाने के लिये राग के स्थान में द्वेष अवश्य करना चाहिये। मन को प्रवृत्ति की तरफ से हटाने की द्वेष ही चाबी है। जितने लौकिक अथवा पारलौकिक महान् सामर्थ्य वाले हुए है, होते हैं, या होंगे; उन सब का मन किसी न किसी अंश में अवश्य वश होता है तब ही वे महानता को प्राप्त होते हैं। परम पद साध्य करने में तो मन के ऊपर ही सब आधार है। जिससे मन वश में न किया जायगा वह अनेक प्रयत्न करने पर भी परमपद का भागी नहीं होगा। कहा भी है:—

दोहा:—मन से हारे हार है, मन को जीते जीत।
माने नहीं तो देख कर, कर बाकी परतीत ॥११

शूरान्महा शूरतमोस्ति को वा,
मनोज बाणैर्व्यथितो न यस्तु।
प्राज्ञोतिधीरश्च समोस्ति को वा,
प्राप्तो न मोहं ललना कटाक्षैः ॥१२॥

अर्थः—प्रश्नः-शूरवीरों में महान् शूरवीर कौन है ? उत्तरः-जो कामदेव के बाणों से पीड़ित न हो, सो। प्रश्नः-प्राज्ञ, धीर और समदर्शी कौन है ? उत्तरः-जो स्त्री के कटाक्ष से मोह को प्राप्त न हो, सो।

छप्पय।

शूरवीर नर कौन ? महा शूरों के माहीं।
कामदेव के बाण, जिसे पीड़ा दें नाहीं॥
कौन कहावे प्राज्ञ, धीर इस जग में को है।
समदर्शी है कौन, नित्य ही इकरस जो है॥
सो ही नर है शूर, जो नारि कटाक्ष न मोहता।
वही प्राज्ञ, वही धीर नर, समदर्शी वहि सोहता॥१२॥

विवेचन।

जिसमें शौर्य अथवा वीरत्व होता है, वह शूर है। शूर बहुतों के पराजय करने में समर्थ होता है। जिस समय शूर युद्ध में चढ़ता है, उस समय किसी की भी परवाह नहीं करता, अपने शरीर को तृण समान समझता है। ऐसे बलिष्ठों से भी एक और बलिष्ठ है जो सब से विशेष है; वह कौन है ? उसके उत्तर में कहा है कि मन से ही जिसकी उत्पत्ति है ऐसा मनोज यानी कामदेव के बाणों से जो पीड़ा को न प्राप्त हो वह महा शूरवीर है। उत्पादन, स्तापन, शोषण, स्तम्भन और सम्मोहन ये पांच कामदेव के

बाण हैं। ये बाण जिसके न लगें, जिसको दुःख देने में निष्फल हों; वह महा शूरवीर है। कोई पुरुष महा बलवान् हो, बड़े बड़े युद्धों में सन्मुख युद्ध करके कीर्ति फैलाने वाला हो, बन्दूक, तोप, भाला, किसी की भी परवाह न करके शत्रु के सन्मुख लड़ता हो, ऐसा पुरुष भी कामदेव के बाणों से क्षोभित होकर स्त्री के आधीन होजाता है। मदोन्मत्त हाथी के गंडस्थल का विदारण करने वाले, अनेक प्रचंड सिंहों के वध करने वाले अनेक होते हैं परन्तु मैं सत्य कहता हूँ कि कामदेव का घमण्ड तोड़ने वाला कोई विरला ही होता है। स्त्री के मन्द हास्य, हावभाव, लज्जा, भय, बांकी दृष्टि, अर्ध मुंदे हुए नेत्र, ईर्षा, क्लेश और विलास इन भावों से पुरुष स्त्री के वश होजाता है।

एक पुरुष की नई विवाहिता स्त्री को आये हुए थोड़ा ही समय हुआ था। वह श्रीमान् था, उसके कई दास दासियां थीं और बड़ा मकान था, उसकी कई कोठियां चल रही थीं, व्यापार के निमित्त उसे देशांतर जाने का काम पड़ा। यद्यपि वह जाना नहीं चाहता था परन्तु उसके जाये विना व्यापार का काम चल नहीं सकता था। वह देश बहुत दूर था। तीन चार वर्ष विना वहां से लौट कर आना कठिन था, समुद्र में मुसाफिरी करनी थी। अपनी गैर हाजिरी में किस प्रकार रहना चाहिये यह बात उसने अपनी स्त्री को सब प्रकार से सिखाई थी तो भी उसके चित्त में शंका रही आई कि युवावस्था में मेरे विना उसका निर्दोष रहना कठिन है। घर में कोई है नहीं, युवावस्था में काम विकारों

को सँभालना उसके लिये कठिन होगा। ऐसी शंका कर चलते समय स्त्री को समझाते हुए वह कहने लगा "स्त्री के लिये उसका पति ही परमेश्वर है, उसके सिवाय किसी और पर चित्त वृत्ति न जाने देना चाहिये। अपने पति को ही भजना स्त्रियों का भूषण है। प्रसंगवशात् मुझको परदेश जाना है, जब तक मैं लौट कर न आऊं तब तक तुझे ब्रह्मचर्य अवस्था में रहना उचित है; फिर भी मैं तुझे एक बात की आज्ञा देता हूँ कि जवानी के मद से मस्त होने के कारण यदि तुझसे रहा न जाय तो अपनी छत बहुत ऊंची है उसके ऊपर चढ़कर देख लेना, जो पुरुष तुझे सब से विशेष दूर टट्टी फिरने जाता दीखे उसे बुला लेना, यह भी तुझे तब करना चाहिये जब तुझसे रहा ही न जाय। इस प्रकार के पुरुष सिवाय अन्य को भाई पिता ही समझना। तेरी पूर्ण युवा-वस्था देख कर मैंने तुझे इतनी छुट्टी देदी है। मेरी आज्ञानुसार वर्तने से परसंग करने पर भी तुझे दोष नहीं लगेगा!" स्त्री बोली "वाह! यह क्या कहते हो? मैं ऐसी नहीं हूं! मैं अपने मन को सँभाले रहूंगी!" पति बोला "ठीक है! तू ऐसी ही है, मुझे तेरा पूरा भरोसा है परन्तु यह छूट जो दी है वह आपत्ति के निमित्त है, मुझे विश्वास है कि इस प्रकार के पुरुष को बुलाने का अवसर तुझे मिलना ही नहीं है। जहां तक बन सकेगा वहां तक मैं बहुत जल्दी लौट कर आऊंगा।"

पुरुष देशान्तर को चला गया, स्त्री मकान पर अकेली रहने लगी। कितनेक मास तक उसका मन विकार को प्राप्त न हुआ। अच्छा अच्छा खाना पीना, युवा अवस्था, घर में दास दासी

होने से काम काज कुछ नहीं, खाली बैठे बैठे करना क्या ! विषय वासना की तरफ उसका चित्त जाने लगा; दिन रात उसका ही विचार, उसका ही संकल्प करते करते मन बहुत विकार वाला हो गया, रात में नींद न आवे, दिन रात वह का वह ही ख्याल बना रहे। ऐसा ख्याल करते करते उसकी नीति, रीति आदिक चली गई और उसके शरीर के रोम रोम में विकार फैल गया।

अभी तक सेठानी [illegible]ार मन में ही किया करती थी। अब उसने अपने इन स[illegible]िचारों को अपनी एक दासी से प्रगट किया और कहा "गौरा ! अब मुझसे रहा नहीं जाता, किसी पुरुष से मेल किये विना मुझे चैन नहीं पड़ेगा !" गौरा बोली "बाईजी ! यह विचार आपको योग्य नहीं है, समय निकल जाता है, कलंक बना रहता है, इतने दिन धैर्य्य रक्खा है तब थोड़े दिन और धैर्य्य रक्खो, इतने में सेठ जी आ जायंगे।" सेठानी बोली "सेठ के आने का कोई भरोसा नहीं है। यदि जल्दी से जल्दी आवें तो भी दो वर्ष तक नहीं आ सकते ! जाते समय वे मुझे आज्ञा दे गये थे, उनकी आज्ञा के अनुसार ही मैं वर्तना चाहती हूं, इसलिये पति की आज्ञानुसार वर्तने से मुझे दोष न लगेगा !" गौरा बोली "अजी ! यह क्या कहती हो ? ऐसा कौन सा पुरुष होगा जो अपनी पत्नी को अपनी गैर हाजिरी में दूसरे पुरुष से संग करने की आज्ञा दे !" सेठानी बोली "हे सखी ! मैं ठीक ही कहती हूं, मुझे आज्ञा मिली है, मुझसे उन्होंने एकान्त में ऐसा कहा था, तुझे मेरे इस मनोरथ के

पूर्ण होने में मदद करना चाहिये, तू मेरी दासी है, मेरे कहे अनु-
सार करना तेरा कर्तव्य है !" ऐसे शब्द सुन कर दासी शान्त
हो गई। पश्चात् सेठानी दासी को लेकर मकान की जो छत सब
से ऊंची थी उस पर चढ़ी। सुबह का समय होने से बहुत मनुष्य
जल पात्र लेकर शहर के बाहर दिशा जङ्गल जा रहे थे। सेठानी
ने दूरबीन लगाकर देखा तो सब से दूर टट्टी जाने वाला एक
ब्रह्मचारी उसे दिखाई पड़ा। युवा अवस्था वाला और वीर्य रक्षा
के कारण वह ब्रह्मचारी अ[illegible] था। उसे देख कर
सेठानी बोली "गौरा ! मेरे पति की आज्ञानुसार यह पुरुष संग
योग्य है, तू उसे मेरे पास बुला ला !" दासी की इच्छा न होते
हुए भी सेठानी की आज्ञा माननी पड़ी ! सेठानी ने कहा "यह
पुरुष साधु मालूम होता है, साधु को अपने मकान में आने से
किसी को शक न होगा, साधु को भोजन के निमित्त मेरे पास
बुला लाना भी सुलभ है ! तू जा, उसके पीछे पीछे उसके मकान
पर पहुंच जा और भोजन के लिये निमंत्रण दे आ। जिस समय
वह आने को कहे उस समय जाकर उसे बुला लाइयो।" सेठानी
की आज्ञानुसार दासी ब्रह्मचारी के पास गई, भोजनों का निमं-
न्त्रण देकर बारह बजे उसे सेठानी के मकान पर ले आई।
सेठानी ने ब्रह्मचारी का पूजन करके भोजन करने को बैठा
दिया, आप सामने बैठ गई और हाव भाव वाली कई
चेष्टा करने लगी। ब्रह्मचारी मात्र नामधारी ब्रह्मचारी नहीं था।
उसने सेठानी के चेहरे और चेष्टाओं की तरफ निगाह भी नहीं
की ? भोजन करा कर सेठानी उसे अपने रंग महल में ले गई

और वहां जाकर ताम्बूल देने लगी। ब्रह्मचारी ने पान न लिया, सेठानी ने पलंग पर बैठने को कहा, ब्रह्मचारी न बैठा।

दास दासी हटा दिये गये। जब ब्रह्मचारी ने संज्ञा द्वारा कुछ न माना तब सेठानी निर्लज्ज होकर बोली "हे परोपकारी पुरुष! मैं काम करके व्याकुल हूं, मेरी संतुष्टि कीजिये। जो पुरुष समर्थ होते हुए भी योग्य स्त्री की विषय वासना की याचना पूर्ण नहीं करता उसे दोष लगता है। मेरा यह व्यवहार मेरे पति की आज्ञानुसार होने से शास्त्र विरुद्ध नहीं है।" इस बात को सुनते ही ब्रह्मचारी वहां से जाने को सीढ़ी की तरफ चलने लगा। सेठानी ने उसका हाथ पकड़ लिया, ब्रह्मचारी हाथ छुड़ाने लगा। दोनों की खेंचातान में बहुत पुरानी तूंबी जो ब्रह्मचारी के हाथ में थी, गिर गई और संगमरमर की सीढ़ी से टकरा कर टूट गई। ब्रह्मचारी अपनी टूटी हुई तूंबी के पास बैठ गया और रो रो कर कहने लगा "हाय मेरी प्रेमपात्र तूंबी! तू मुझे छोड़ कर कहां चली गई? हाय री तूंबी! अब तेरे विना मेरा जीवन किस प्रकार व्यतीत होगा? हाय री तूंबी! तू मेरे बहुत काम की थी। तेरा मेरा संग बहुत रहा है। हाय री मेरी तूंबी!" सेठानी ब्रह्मचारी को पैसे दो पैसे की तूंबी के लिये रोता हुआ, विलाप करता हुआ देख कर बोली "अजी! इतनी तुच्छ तूंबी के लिये तुम क्यों रुदन करते हो? ऐसी अनेक तूंबियां मैं तुमको दिलवा दूंगी। यदि जवाहरात से मढ़ी हुई तूंबी कहोगे तो मैं तुमको बनवा दूंगी।" ब्रह्मचारी बोला "नहीं! नहीं! जवाहरात की, चांदी सोने की अथवा ऐसी अनेक तूंबियों से मुझे क्या काम है? मैं तो अपनी

पुरानी तूंबी के लिये रो रहा हूँ। मैं दूसरी तूंबी नहीं चाहता।" सेठानी बोली "यतीजी! इस तूंबी में ऐसी क्या विशेपता थी?" ब्रह्मचारी बोला "हाय री मेरी तूंबी! मेरे सब दोष तूने ही देखे थे। दूसरे किसी ने नहीं देखे थे। अब मेरी नग्न अवस्था दूसरी तूंबी देखेगी। (सेठानी से) यह तूंबी मेरे सब अवगुणों को जानती थी, मैं उसे जानता था इसलिये मैं रो रहा हूं। हाय री मेरी तूंबी!" सेठानी सोचने लगी "बात ठीक ही है। जब वह टट्टी जाता था तब उसे ले जाता था; उससे अपना काम लेता था, तूंबी ही उसकी नग्नावस्था को देखती थी। यह पुरुष होकर भी अपनी नग्नावस्था दूसरे को दिखाना नहीं चाहता, मैं कैसी मूर्ख हूँ। स्त्री जाति होते हुए भी अपनी नग्नावस्था का पर पुरुष को भान कराने को तैयार हूँ, मुझको धिक्कार है।" सेठानी को सोच करती हुई देखकर ब्रह्मचारी बोला "हाय! तूने मेरी तूंबी का नाश किया है, बहुत अनुचित किया है; अब मैं अपने अवगुण दूसरे को दिखाना नहीं चाहता, तूंबी के पीछे मैं आपघात करूंगा; हाय मेरी प्यारी तूंबी!" सेठानी लज्जित होकर बोली 'हे साधो! मेरा अपराध क्षमा कीजिये। आपघात करके मुझ पर अपराध न चढ़ाइये। तुम्हारी तूंबी परोपकारी थी, आप तो नाश को प्राप्त हुई परन्तु उसने मुझे बचा लिया है, मुझे अपने कर्त्तव्य का पश्चात्ताप होता है। मैं पर पुरुष की इच्छा वाली हुई थी, तुम्हारी तूंबी के टूटने और तुम्हारे विलाप ने मेरी दुष्ट इच्छा का नाश किया है। आपका मुझ पर महान् उपकार हुआ है।" सेठानी को ठिकाने आई हुई देखकर ब्रह्मचारी बोला "हे सेठानी! जिस

प्रकार मैं अपनी तूंबीका सोच कर रहा हूँ, इसी प्रकार तेरी भ्रष्टता से तेरा पति भी सोच करेगा। इस तूंबी ने मरने तक किसी के अवगुण नहीं देखे, भला! यह तो तूंबी थी, तू तो स्त्री है, थोड़े समय का आनंद जिंदगी भर कलंकित रक्खेगा, मेरी तूंबीके नाश से तुझे उपदेश मिला इससे मैं प्रसन्न हूँ; अब तू मेरे सामने प्रतिज्ञा कर कि 'अपने पति सिवाय अन्य में मेरा चित्त कभी न जायगा!" सेठानी ने लज्जित हुई जिस जिस प्रकार ब्रह्मचारी ने शपथ दी, स्वीकार की। यह कह कर ब्रह्मचारी चला गया और सेठानी सेठ के आने तक सदाचारिणी रही। सेठ के आने पर सेठानी ने सब वृत्तान्त उसे सुनाया। सेठ प्रसन्न होकर बोला "प्रिये! मैंने सोच कर ही तुझे आज्ञा दी थी, जिसको बहुत ही लज्जा होती है वह ही बहुत दूर टट्टी जाता है, ऐसे पुरुष से पर स्त्री संग होना अशक्य समझ कर ही मैंने तुझे आज्ञा दी थी।"

इस ब्रह्मचारी को धन्य है! एकान्त कामोद्दीपक स्थान, कुलीन युवावस्था वाली स्त्री और उसकी इच्छा होते हुए अनेक हाव भाव करते हुए भी कामदेव के बाण से पीड़ित न हुआ। वह हीं शूरवीरों में महान् शूरवीर था। दुष्ट वासना से भी सत्पुरुष का संग सेठानी को दोष से बचाने वाला हुआ।

जो पुरुष स्त्री के कटाक्ष यानी प्रेम भरी तिरछी चितवन से मोह को प्राप्त नहीं होता वह पुरुष प्राज्ञ यानी ज्ञानी, धीर-धैर्य वाला और समदर्शी यानी समान चित्त वाला है। यदि स्त्री के कटाक्ष से मोह को प्राप्त हो जाय तो प्राज्ञ हो तो भी प्राज्ञ नहीं है

क्योंकि वह प्रज्ञा की कसौटी में टिक न सका। इस प्रकार पूर्ण धीर और समदर्शी की कसौटी स्त्री का कटाक्ष में ही है।

धीरता, वीरता, गंभीरता और विद्वानों की विद्वत्ता का दर्शन तभी तक होता है जब तक स्त्री की प्रेम भरी चितवन की दृष्टि नहीं पड़ती! स्त्री के कटाक्ष से महाप्रतापियों का विवेक भी न मालूम कहां चला जाता है, कुछ पता नहीं लगता! स्त्री के कटाक्ष ने महाप्रतापी, योगी, यती, सिद्ध और मुनीश्वरों को भी कलंकित कर डाला है! इसलिये उससे सचेत रहना चाहिये।

युवा स्त्री मन को मलिन कर डालती है, एकांतता उसमें मदद देती है और जब दोनों ही पदार्थ मिल जाते हैं तब पुरुष को विह्वल कर डालते हैं और विह्वलता होने से अधर्म होता है, उस समय हृदय चक्षु काम के बाणों से पीड़ित होकर अन्धे बन जाते हैं, सत्यासत्य, ग्राह्याग्राह्य और विधि निषेध का कुछ भी भान नहीं रहता! पुत्री बहिनादिक का विचार भी चला जाता है इसलिये मुमुक्षुओं को-अपक्व मन वालों को कामोत्तेजक सब पदार्थों से बचते रहना चाहिये।

एक समय राजा भोज ने महाकवि कालिदास से प्रश्न किया कि मन युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच विषय काम वृत्ति को उत्तेजन करने वाले हैं, इनके सिवाय तुरन्त ही प्रगट करने वाला इनका पिता कौन है? पंडित कालिदास ने इसका उत्तर ढूंढ़ा परन्तु न मिला तब उसने राजा से कहा कि इसका उत्तर एकान्त में विचार कर कल ही मैं आपको दूंगा।

इस प्रकार कह कर कालिदास घर आकर अपने विचार भवन में राजा के प्रश्न का उत्तर खोजने लगा परन्तु युक्ति पूर्वक किसी उत्तर का स्फुरण न हुआ। उस उत्तर की खोज करने में वह ऐसा एकाग्र चित्त हो गया था कि भोजन का समय व्यतीत हो गया, इसकी भी उसे खबर न रही। जब भोजन का समय व्यतीत होने पर भी वह भोजन करने न गया तब उसकी पुत्री प्रभावती उसे बुलाने को उसके पास आई और थोड़ी देर तक उसके सामने खड़ी होकर देखती रही परन्तु कालिदास की दृष्टि पुत्री की तरफ़ न हुई। पिता का चित्त भारी विचार में ग्रथित और चिन्तातुर देखकर प्रभावती ने जोर से आवाज देकर भोजन करने को कहा तब भी कालिदास ने कुछ उत्तर न दिया। तब प्रभावती पिता को शून्य मन वाला देखकर उसके पास गई और बहुत विनती करके चिंता का कारण जानने को कहा। तब कालिदास ने भोज का प्रश्न कहा। प्रभावती बोली "वाह! यह कोई बड़ा भारी प्रश्न थोड़ा ही है, आप भोजन कर लीजिये, मैं विचार कर सुबह होते ही आपको इसका उत्तर बता दूंगी।" प्रभावती विदुषी थी, 'वह भी उत्तर दे सकती है' ऐसा कालिदास जानता था इसलिये भोजन करने को उठ बैठा। भोजन करने के बाद भी उसका चित्त उत्तर ढूंढ़ने में लगा रहा इस कारण उसके शरीर में पीड़ा होने लगी, किसी प्रकार भी उसे चैन न आया।

रात होते ही प्रभावती जो भरी युवावस्था और सौन्दर्यता की मूर्ति थी नित्य नियम के अनुसार सोलह शृङ्गार धारण करके

ससुरार जाने को तैयार हुई वह आभूषणों से शोभा देती हुई, हाव भाव करती हुई कालिदास के शयन गृह में ससुरार जाने की आज्ञा मांगने आई और पिता से विदा मांगने लगी। प्रभावती को देखते ही कालिदास के चित्त को काम ने अपनी तरफ खेंच लिया। वह बोला कि रात बहुत हो गई है, अब ससुरार जाने का समय नहीं रहा, तूने मेरे प्रश्न का उत्तर सुबह देने को कहा है इसलिये आज तू मत जा, मेरा चित्त भ्रमित है, चल मेरे साथ शतरंज खेलने को बैठ। इस प्रकार शतरंज खेलने में कालिदास का हेतु विकार ही था। प्रभावती का शृङ्गार में सज कर पिता के शयन गृह में जाना इस विकार का हेतु था। कालिदास का मांगा हुआ उत्तर इस युक्ति से देने का विचार प्रभावती का था। उसने प्रथम से ही विचार रक्खा था कि मेरे पिता कालिदास के मन में विकार अवश्य उत्पन्न होगा इसलिये कपड़े लत्ते पहिना कर एक दासी उसने तैयार कर रक्खी थी और इशारे के साथ शयन गृह में आने को और प्रसंग आने पर कालिदास के साथ योग्य वर्ताव करने को कह रक्खा था। पिता का विकारी हेतु देखकर शतरंज की बाजी चालू की गई। खेलते खेलते प्रभावती अपनी मोहक चेष्टा और कामकटाक्ष कालिदास के ऊपर फेंकती रही। बाजी खेलते २ कालिदास का विकार बढ़ता गया और वह उन्मत्त होता गया। जब प्रभावती ने देखा कि अब वह पूरे रंग में रंग गया है और मुझको आलिंगन करने की तैयारीमें है त्यों ही उसने दीपक गुल कर दिया और वह चालाकी से शयन मंदिर में से चली गई। उसी समय दासी जो कपड़े

पहिने तैयार खड़ी थी शयन मंदिर में दाखिल हो गई। मोहांधता में कालिदास को योग्य अयोग्य का कुछ विचार न रहा। जब सुबह हुई तब अपने अनुचित वर्ताव का उसे पश्चात्ताप होने लगा परन्तु जब उसने अपनी शैया पर से दासी को उठते देखा तब उसके मन में कुछ शांति आई और उसी समय भोज के प्रश्न का उत्तर उसे मालूम हो गया कि एकांत ही कामवृत्ति का पिता है इसके सिवाय सब साधन निष्फल हैं।

कालिदास शृंगार रसिक कवि था इसमें तो कुछ संदेह ही नहीं है परन्तु यह घटना वास्तविक है कि नहीं यह देखने का अपना काम नहीं है। मदांध पुरुषका ऐसा वर्तावहोना असंभव नहीं है। मदांधता में पुत्री, बहिन आदिक का भान ही नहीं रहता। जब कालिदास समान पंडितों का भी यह हाल है तब सामान्य मनुष्य का कहना ही क्या है। अनेक दृष्टान्तों से मालूम होता है कि महान् २ तपस्वी पंडित होकर भी स्त्री के कटाक्ष से अपनी वर्षों की कमाई को पल भर में खो देते हैं।

प्राज्ञ यानी ज्ञानियों को भी घमंड करना उचित नहीं है। कटाक्ष ऐसी प्रबल चीज है कि जिससे शंकर जैसे भी परास्त हो गये हैं। जो इसे सह लेता है, इससे पीड़ित नहीं होता, अपने भान को नहीं खोता वह ही ज्ञानी होने के और कहने के योग्य है, धीर भी वही होता है। जिसको स्त्री पुरुष की दृष्टि है, जो अपने को पुरुष मान कर स्त्री के कटाक्ष से पीड़ित होता है भला वह समदर्शी किस प्रकार कहा जाय ? समदर्शी को किसी कालमें किसी प्रकार भी विकार होना संभवित नहीं है ॥१२॥

विषाद्विषं किं विषयाः समस्ता ।
दुःखी सदा को विषयानुरागी ॥
धन्योस्ति को यस्तु परोपकारी ।
कः पूजनीयो ननु तत्त्व निष्ठः ॥१३॥

अर्थः—प्रश्नः—विष से भी अधिक विष कौनसा है ? उत्तरः—सब प्रकार के विषय विष से भी अधिक विष हैं। प्रश्नः—हमेशा दुःखी कौन है ? उत्तरः—जो हमेशा विषयों में प्रेम करने वाला है, सो। प्रश्नः—धन्य कौन है ? उत्तरः—जो परोपकारी पुरुष है वह धन्य है। प्रश्नः—पूजन करने योग्य कौन है ? उत्तरः—जिसकी आत्म तत्त्व में निष्ठा है वह पूजन करने योग्य है।

छप्पय।

विष से भी विष तीक्ष्ण, कौन छूवत ही मारे।
विषय सभी विष घोर, जन्म जन्मन संहारे॥
सदा दुःखी है कौन, मूढ़ सब से हत भागी।
दुःखी जानिये सोहि, नित्य विषयन अनुरागी॥
पुरुष कौनसा धन्य है, पर उपकारी धन्य है।
पूजनीय नर कौनसा, तत्त्वानिष्ठ जग मन्य है॥१३॥

विवेचन।

जो मारने वाला हो, दुःख पहुँचाने वाला हो अथवा हानि करने वाला हो उसे विष कहते हैं। औषधियों में लता, कंद, फल,

मूलादिक में तथा खानिज पदार्थों में स्थावर विष होता है और प्राणियों में रहा हुआ विष जंगम होता है। ऐसे बहुत प्रकार के विष संसार में हैं, जो खाने, पीने, काटने आदिक से दुःख और मृत्यु के दाता हैं। इनसे भी जिसमें अधिक विषैलापन हो, ऐसा कौनसा विष है जिसको खाने पीने अथवा काटने आदिक की जरूरत नहीं है किंतु जिसके दृष्टि मात्र अथवा छूने से ही मरण होता है? स्थावर जंगम विष तो एक समय ही मार कर अपना सामर्थ्य पूर्ण करते हैं परन्तु महाविष अनेक जन्मों तक मारता ही रहता है, ऐसा महाविष कौन है? ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि विषय विष ही पूर्ण दुःख का भरा हुआ है। जगत् पञ्च भौतिक है। पांचों तत्त्वों में से एक एक तत्त्व की विशेषता से बना हुआ एक एक विषय है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच विषय कहलाते हैं। जब जीव इन्द्रियों द्वारा उन विषयों का ग्राहक होता है तब वे हलाहल विष रूप हो जाते हैं। विषयों में रहा हुआ विष विषय सेवन करने वाले को बारम्बार जन्म मरण का कष्ट भुगवाता है। १ ऐहिक और २ आमुष्मिक् विषय दो प्रकार के हैं। स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा ऐहिक विषय हैं और अनेक प्रकार के विहारादिक आमुष्मिक् हैं।

दोहा:—विष से विषय विशेष हैं, विष नहिं विष कहलाय।
जन्म जन्म मारें विषय, विष हर एक हि खाय॥

विषयों का विष सुनने, स्पर्श, देखने आदि इन्द्रियों के संबंध से मारता है इतना ही नहीं किंतु ध्यान करने मात्र से ही मारता

है। वास्तविक रीति से देखा जाय तो संसार है ही नहीं, परन्तु विषयों के चिंतवन करने वाले को कभी भी संसार की निवृत्ति नहीं है। जैसे यद्यपि स्वप्न मिथ्या है तो भी स्वप्नावस्था वाले को स्वप्न दुःख की निवृत्ति नहीं है उसको भोग अवश्य भोगना पड़ता है वैसे ही विष को उतारने वाली बहुत सी औषधियां शास्त्र और लोक में प्रसिद्ध हैं परंतु विषयों के विष की निवारण करने वाली एक भी औषधि नहीं है। जिसको विषय का विष चढ़ जाता है ऐसा मनुष्य कान होते हुए बहिरा, आंखें होते हुए अंधा हो जाता है। उसके हृदय चक्षु भ्रमित हो जाते हैं, ऐसी हालत में उसे सन्मार्ग कैसे प्राप्त हो? विषयों के संग वाले पुरुष को विषय आदि, मध्य और अंत में कष्ट ही देते हैं। मृत्यु मृत्यु नहीं है क्योंकि वह तो कभी कभी प्रयत्न से छूट भी जाता है परन्तु विषयों के चढ़े हुए विष को रोकने में महान् देवता भी समर्थ नहीं हैं। जिस किसी ने विषयों का अशेष संग छोड़ दिया है, वह ही दुष्ट विकराल विषय रूप राक्षस से बच सकता है। अधर्म, दुःख; शोक, पापादि जितने कष्ट और अनर्थ हैं उन सभी का मूल कारण विषय ही है। जिसको विषयोंका वायु नहीं लगता वह कभी संकट में नहीं पड़ता। इतिहासों में सूक्ष्मता से खोज किया जाय तो सब आप-त्तियों का कारण विषय ही निकलेंगे। विषय विषयासक्त बुद्धि वाले को आरंभ में मिष्ट, सौन्दर्यता वाले और सुख का भंडार दीखते हैं किंतु उनकी लज्जत मनुष्य तो क्या, देवताओं तक की बुद्धि को भ्रष्ट कर देती है, जिससे विषयों में रहा हुआ विष-दोष दिखाई नहीं देता। जिस समय विषय सुख रूप, हितकर

प्रतीत होते हैं उसी क्षण मनुष्य मनुष्य न रहते हुए विषयों का गुलाम बन जाता है। यद्यपि विषय उसे बहुत कष्ट देते हैं तो भी विषयाकार वृत्ति ने जिसकी बुद्धि हरण कर ली है उसे कुछ भी बोध नहीं होता। इस प्रकार विषय ही महा विष हैं।

शंकाः—जब विषयों में ही सब प्रकार से विशेष विष भरा हुआ है, तो विषयों के सेवन किये बिना मनुष्य किस प्रकार रह सकता है? जगत् में विषय सेवन ही सुख रूप है, विषय सेवन से ही शरीरादिक का निर्वाह होता है। जब सब इन्द्रियां विषय से रुक जाती हैं तब मरण हो जाता है।

समाधानः—विषय महा विष रूप तब होते हैं जब उनका संग होता है, संग रहित विषयों में विष नहीं है। विषयों के साथ लगी हुई मनुष्य की आसक्ति से विष प्रकट होता है और वह विष आसक्ति वाले को मारता है। जो विषयासक्ति छोड़ देता है और निर्वाह के योग्य विषय इन्द्रियों से ग्रहण करता है उसके लिये विषयों में विष नहीं है। जैसे सामान्य विष के ग्रहण से कोई नहीं मरता, किन्तु खाने से ही मरता है; इसी प्रकार विषयों में विष उत्पन्न करने वाली विषयों की आसक्ति है। जैसे संखिया प्रमाण से विशेष खाने वाले को ही मारता है परन्तु योग्यता से ग्रहण किया हुआ अथवा वायु के शूलादि रोगों में ऊपर लगाया हुआ आरोग्यता करता है; इसी प्रकार आंतरासक्ति रहित प्रवाह रूप भोग में विषय कष्टदायक नहीं होता। विषय सुख रूप नहीं हैं, विषयों में दीखता हुआ सुख आत्मा का है। विषय सेवन दो प्रकार होता है, आसक्ति रहित और आसक्ति सहित। आसक्ति

रहित विषय सेवन निर्वाह रूप है, विष दुःख रूप नहीं है। ऊपर जितने दुःख बताये हैं ये सब आसक्ति सहित विषय सेवन में ही दिखलाये हैं। आसक्ति रहित व्यवहार हो सकता है परन्तु ऐसा व्यवहार ज्ञानी ही कर सकता है, अज्ञानी नहीं कर सकता।

हमेशा दुःखी कौन है ? इसके उत्तर में विषयासक्ति वाला ही दुःखी कहा है। जिसको विषयों में प्रेम है, वह विषयानुरागी कहा जाता है। दुःख तीन प्रकार के हैं:—अध्यात्मिक, अधिदैविक और अधिभौतिक। अध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के हैं, शारीरिक और मानसिक। वात पित्त अथवा कफ से उत्पन्न हुआ दुःख शारीरिक और काम, क्रोध, लोभ, मोह और ईर्षा से उत्पन्न हुआ दुःख मानसिक है। यक्ष, राक्षस, पिशाचावेश, ग्रह पीड़ा, अति वृष्टि, अवृष्टि, अति उष्णादिक अधिदैविक (देवताओं की तरफ से प्राप्त हुए) दुःख हैं और मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, स्थावर आदिक के निमित्त से होने वाले दुःख अधिभौतिक हैं। इन सब दुःखों का मूल कारण विषयों का अनुराग है इसलिये विषयों की आसक्ति वाला हमेशा दुःखी रहता है विषय भोग की इच्छा से जिसका मन विषयों में युक्त है, वह विषयासक्त है। 'अमुक भोग मुझको प्राप्त हो, सदैव रहे, नाश न हो' ऐसी दृढ़ इच्छा करने वाला महा दुःखी होता है। पतंग, मातंग, कुरंग, भृङ्ग और मीन एक एक विषय की आसक्ति की अधिकता वाले हैं, ये सब अपने अपने विषय में ही अपने प्राण खोते हैं। जिस मनुष्य में इन पांचों की अधिकता हो, ऐसा लुब्ध अन्तःकरण वाला महा

दुःखी क्यों न होगा, अवश्य ही होगा। वह कष्टों से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। जैसे असाध्य व्याधि वाला मनुष्य मरने की तैयारी पर अन्न, जल का त्याग कर देता है इसी प्रकार विपय के असाध्य रोगी—विपयी की भी अन्न जल पर रुचि नहीं होती, उसको कुछ नहीं सुहाता, उसका शरीर सूखता जाता है, शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियां घुस जाती हैं, वह शरीर की योग्यता आदिक को भूल जाता है, उद्यम शून्य होजाता है, विनय और विवेक भाग जाते हैं, ऐसा विपयी अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है, पशु समान जीवन व्यतीत करके महा दुःखदायक ऐसे नरक में जन्म मरण के प्रवाह में बहता रहता है। इसलिये हमेशा रहने वाले महा दुःखी से भी विषयानुरागी अधिक दुःखी होता है।

दूसरे के उपकार करने वाले को परोपकारी कहते हैं; परोपकारी पुरुष धन्य है। दूसरे की आवश्यकता देख धन वस्त्रादिक देने की वृत्ति को परोपकार कहते हैं। जिस पदार्थ, ज्ञान आदिक करके दूसरे का हित हो वह परोपकार है। उपकार कई प्रकार के हैं जैसे जिसने हमारा उपकार किया है उसके ऊपर उपकार करना, जिस पर हम उपकार करते हैं वह भी हमारा बदला चुका देगा, इस इच्छा से उपकार करना, अपनी हानि न करके दूसरे का उपकार करना, अपनी हानि होते हुए भी दूसरे का उपकार करना, अपने साथ जिसने सभ्यता से बर्ताव नहीं किया या अपनी हानि की है उस पर उपकार करना। इन सब प्रकार के उपकारों से ब्रह्मविद्या का उपदेश करना परम उपकार

है। इस उपकार के करने वाले और ग्रहण करने वाले दोनों को अखंडित फल होता है। इस प्रकार के उपकार के समान अन्य श्रेष्ठ धर्म नहीं है, ऐसा परोपकारी पुरुष धन्य होता है। जो अपने उपयोग में नहीं आते और दूसरे का जिससे हित होता हो, उसे अवश्य देना चाहिये। जो अपने पास से न्यून नहीं होता ऐसे ज्ञान के दान से अधिकारी का उपकार करने में जाता ही क्या है? रत्नाकर-समुद्र में रत्न पैदा होते हैं, उनका समुद्र क्या करता है? विंध्याचल पर्वत में हाथी उत्पन्न होते हैं, विंध्याचल हाथियों का क्या करता है? मलयाचल में चन्दन बहुत होता है, मलयाचल चन्दन का क्या करता है? ये सब दान ही करते हैं, उनकी वस्तुयें परोपकार के काम में ही आती हैं इसी प्रकार महात्माओं की विभूति परोपकार के अर्थ ही है। कान का भूषण कुंडल नहीं है, ब्रह्मविद्या का श्रवण करना ही कान का भूषण है। हाथ दान से शोभते हैं, कंकण से नहीं। शरीर करुणायुक्त होकर परोपकार करने से शोभा पाता है, चंदन के लेप से नहीं। जो अपकारी प्राणी का भी उपकार करता है उसने तीनों लोकों में यशमंडली के स्तंभ को धारण किया है। जिसके हृदय में परोपकार वृत्ति जाग्रत है उसकी विपत्ति का नाश होता है, उसको पैर पैर पर संपत्ति मिलती है। जैसे पारा अपना नाश करके प्राणियों को जीवन देता है, दधीचि ऋषि ने देवताओं को अपने अस्थि दिये थे, पक्षी ने अपने घर आये हुए व्याघ्र को अपना शरीर दिया था और शिवि राजा ने कपोत के उपकार के लिये अपना मांस दिया था। इस प्रकार उपकार करने वाले धन्य हैं।

सोरठी सोमनाथ के पास के समुद्र में एक ब्राह्मण की यमुना नाम की युवा स्त्री प्रातःकाल में अपने छोटे बच्चे को लेकर एक दिन स्नान करने आई; स्नान करने वालों के आने से कुछ प्रथम वह वहां पहुँच गई थी। पास की जमीन पर कपड़े में बालक को रखकर उसने स्नान किया और स्नान करके वह एकाग्र चित्त से खड़ी होकर वह ईश्वरकी प्रार्थना कर रही थी। और बारम्बार उस बालक के ऊपर निगाह करती जाती थी; बालक खेल रहा था। कुछ और स्त्रियां भी आकर स्नान कर रही थीं। इतने में जंगल में से भेड़िया निकल आया और जल्दी से बालक को उठा कर भागा और स्त्रियां चिल्लाने लगीं और माता भेड़िये के पीछे चिल्लाती हुई भागी। कितनी स्त्रियां भी पीछे दौड़ीं परन्तु भेड़िया बालक को लेकर भाग ही गया। यमुना जंगल में दूर तक चली गई और स्त्रियां रुक गईं, भेंड़िया झाड़ी में घुस गया। उधर से एक घोड़े पर सवार आ रहा था, उसने भेड़िये को बालक ले जाते हुए देखा। घोड़े पर से उतर कर उसने पीछे से एक तलवार मारी जिससे भेड़िये के दो टुकड़े होगये। सवार ने बालक को ले लिया और उसकी माँ को जो इधर से रोती हुई जा रही थी, दे दिया। यमुना ने हर्पित होकर और आभार दर्शक नेत्रों से सवार की तरफ देखते हुए बालक को हृदय से लगा लिया। एक उत्सुक प्रेम वाली युवा माता को अपने छोटे से बच्चे के दुःख दावानल से मुक्त होने के बाद भेंट होने के अवर्णनीय आनन्द का प्रसंग सवार देख रहा था। अपने ऊपर उपकार करने वाले को किन शब्दों से क्या कहे, यमुना की समझ में कुछ

न आया तो भी वह इतना तो समझ गई थी कि महमूद गजनवी के आने का समाचार मैंने सुना है, हो न हो यह मुगल कोई उनमें से ही होगा। ऐसा विचार कर यमुना को कुछ भय हुआ। वह पुरुष कुछ पास आकर बोला "बहिन! तेरे बच्चे की जान बचाने और तुझे सुपुर्द करने से मेरे दिल में बहुत खुशी है। मेरा और तेरा मजहब अलहदा अलहदा है तो भी सच बोलना, दूसरे पर अहसान करना, खुदा से डरना हमारे मजहब में भी है। हिन्दू मजहब में ही सब गुण हों और दूसरे मजहब में गुण न हों, यह बात नहीं है।" यमुना बोली "आप सच्चे और वीर पुरुष हैं। आपने मेरे बच्चे को मौत से बचाकर मुझे सोंप दिया है, आपका यह उपकार मैं कभी भी भूल नहीं सकती। आप परधर्मी हो तो भी जीव के रक्षण करने से मैं सुखी हूँ, मैं आपका अत्यन्त आभार मानती हूँ और चाहती हूँ कि आपको अपने कार्य में विजय प्राप्त हो।" सवार बोला "बहिन! तुझ जैसी पाक, खूब-सूरत, बे ऐब, जवान औरत की दुआ सच्चे होने में मुझे कुछ भी शक नहीं है लेकिन तू नहीं जानती है कि मुगल किसको जीतना चाहता है, जब तू यह जानेगी और मैं कौन हूँ यह भी जानेगी तब तू अपनी दी हुई दुआ को याद करके पछतावेगी।" यमुना बोली "सरदार, क्या आप नमकहराम, अभागी स्त्रियों में मेरी गिनती करते हैं, ऐसा न समझिये यदि आप सोमनाथ के मंदिर के ऊपर चढ़ाई करने वाले महमूद गजनवी भी होंगे तो भी आपने जो उत्तम बर्ताव करके दिखलाया है और उत्तम वचन कहे हैं उनसे यह एक उत्तम कुल की ब्राह्मणी आपको घातकी

और अन्यायी न कहेगी परन्तु हमेशा दयालु परोपकारी और ईश्वर से डरने वाला ही कहेगी।" सवार बोला "तेरे ख्याल को मैं उम्दा मानता हूँ, अगर तेरी सी ही सब औरतें इस मुल्क में हों तो सचमुच यह बहिश्त ही है। जिस मुगल के साथ तू बात चीत कर रही है वह और कोई नहीं है महमूद गजनवी ही है, घबरा मत, मैं तुझे ईजा नहीं पहुँचाऊंगा।" ऐसा कह कर वह घुटनों पर झुका और फिर बोला "जो मेरी इज्जत तेरे दिल में कम न हुई हो तो मैं खुश हूँ, मैं थोड़े दिनों में सोमनाथ पर चढ़ाई करूंगा तब तेरे खानदान की सलामती रखना मुझे याद रहेगा।" ऐसा कह कर वह घोड़े पर बैठ कर चलता हुआ।

जब महमूद गजनवी ने सोमनाथ को घेर लिया और मन्दिर को तोड़ कर लूटने लगा, उस समय एक दुष्ट पुजारी ने यमुना को बदनीयती से एक तहखाने में बन्द कर रक्खा था। महमूद गजनवी की दृष्टि उस पर पड़ी, उसने यमुना को पहिचान लिया और यमुना ने भी अपने उपकार करने वाले को पहिचाना। महमूद गजनवी ने उसे दुष्ट से छुड़ा लिया और उसके लड़के को मंगवा कर बड़े प्रेम से उसे प्यार किया। यमुना को आग्रह करके धन की सारी रकम महमूद गजनवी ने दी। परोपकार उच्च वर्ण, उच्च जाति और आश्रम वाले ही कर सकते हैं, ऐसा नहीं है किंतु कोई भी मत वाला हो, प्रत्येक कर सकता है। सब मजहब वालों ने परोपकार को उत्तम समझा है।

ऊपर का दृष्टान्त लौकिक परोपकार का है ऐसे अनेक दृष्टांत मिलते हैं। वास्तविक तो परम उपकार को ही परोपकार कहना

चाहिये। जो अपने को भिन्न और ईश्वर को अपने से भिन्न समझ रहा है, उस योग्य अधिकारी के साथ ऐसा उपकार करना कि उसके चित्त से पर का भाव निकल कर वस्तु रूप से एक ही तत्त्व प्रकाशित हो। इस प्रकार आत्मा के बोध कराने को ही परोपकार कहना चाहिये क्योंकि लौकिक उपकार का फल नाशवन्त है और आत्म बोध रूप परोपकार का फल अक्षय है—मोक्ष है। ऐसा उपकार करने वाला ही परोपकारी है और सब प्रकार के परोपकार आत्म बोध रूप परोपकार के सामने तुच्छ हैं परंतु सब इस परोपकार को नहीं कर सकते। उनका किया हुआ लौकिक परोपकार भी शुभ फल का देने वाला है।

जो परब्रह्म सब स्थानों में, सब अवस्थाओं में अविकार भाव से व्यापक है वह ही परम तत्त्व होने से एक तत्त्व है। उस तत्त्व में जिसकी निष्ठा, प्रेम, टिकाव है वह तत्त्वनिष्ट कहा जाता है। तत्त्वनिष्ठ, स्थितप्रज्ञ, गुणातीत, तुर्य ज्ञानी और जीवन्मुक्त पर्यायवाचक शब्द हैं; ऐसा ज्ञानी पुरुष ही पूजन करने के योग्य है। जिसकी पूजा से विशेष फल हो, निर्मलता हो, सद्बोध की प्राप्ति हो वह पूजनीय कहा जाता है। माता, पिता, बड़े, राजा, विद्वान्, ब्राह्मणादिक भी पूजनीय हैं परन्तु पूर्ण पूजनीय तत्त्वनिष्ठ ज्ञानी पुरुष ही है। ज्ञानी पुरुष शरीर में टिका हुआ दीखता है तो भी उसकी स्थिति सर्वत्र है, ऐसे ज्ञानी के पूजन से सबका पूजन हो जाता है। उसका महत्त्व ईश्वर से भी विशेष है क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष पूजा का विषय नहीं है परन्तु ज्ञानी प्रत्यक्ष पूजा का विषय है। ज्ञानी का पूजन ही ईश्वर का

पूजन है। साकाराकृति में प्राप्त हुआ ईश्वर ज्ञानी है क्योंकि तत्त्वज्ञानी का 'ब्रह्मांड ही शरीर है' ऐसा भाव होने से वह खेद को प्राप्त नहीं होता। उसके पूजन से ब्रह्मांड भर का पूजन होता है। जो मनुष्य मन, वाणी और शरीर से तत्त्वज्ञानी की प्रेम से भक्ति करता है वह तत्त्वज्ञानी की प्रसन्नता से संसार से मुक्त होता है। जैसे उत्तम भूमि में बोया हुआ बीज लाखों गुणा हो जाता है इसी प्रकार तत्त्वनिष्ठ का किया हुआ पूजन करोड़ गुणा होता है; तत्त्वज्ञानी को ठीक रीति से समझना भी बहुत कठिन है। अपारता को प्राप्त हुए ज्ञानी को समझने में समझने वालों की तुच्छ बुद्धि समर्थ नहीं है। ज्ञानी के कर्मों की तरफ दृष्टि न करनी चाहिये क्योंकि ज्ञानी शरीर के पूर्व प्रारब्ध के अनुसार कर्म करता है। कर्म की भिन्नता होते हुए भी सब ज्ञानियों की निष्ठा एक ही होती है, जैसे भिन्न भिन्न रंगों से रंगे हुए अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न निकाले हुए बूटे भिन्न भिन्न दीखते हैं परंतु सब की छाया एक ही प्रकार की होती है अथवा सब का अधिष्ठान रूप सूत एक ही होता है इसी प्रकार ज्ञानियों के कर्म भिन्न भिन्न होते हुए वृत्ति ब्रह्माकार ही होती है। वे विधि निषेध से रहित होते हैं अर्थात् विधि निषेध से उनको लाभ हानि नहीं है। उनके शरीर की चेष्टा जैसी होने वाली होती है इसी प्रकार हुआ करती है। ज्ञानी के कर्मों का कोई नियम नहीं है। दुर्वासा ज्ञानी होकर भी महाक्रोधी थे, राजा जनक ज्ञानी होकर भी रागी रहा, शुकदेव त्यागी हुए श्री कृष्ण भोगी थे और वसिष्ठ कर्मी थे, इस लिये ज्ञानी के कर्मों का कोई नियम नहीं है। ज्ञानी न होकर

इच्छानुसार विरुद्धाचरण करने वाले दांभिक लोग अवश्य नरक में पड़ते हैं। ज्ञानी के पूजन से अनेक फल होते हैं, दर्शन से लाभ होता है, स्पर्श से पवित्रता होती है, बात चीत से विमलता होती है, आधीनता से ज्ञान प्राप्त होता है, समागम से दोष नाश होता है, सेवा से प्रमोद होता है। सब कुछ प्राप्त होने का एक ही मार्ग है और वह तत्त्वनिष्ठ की तन, मन, धन से सेवा ही है। इस प्रकार जो सन्त का सेवन करता है वह तीनों लोकों को जीत लेता है और परम पद को प्राप्त होता है ॥१३॥

सर्वास्ववस्थास्वपि किं न कार्यं ।
किंवा विधेयं विदुषां प्रयत्नात् ॥
स्नेहश्च पापं पठनं च धर्मः ।
संसार मूलं हि किमस्ति चिन्ता ॥१४॥

अर्थः—प्रश्नः-सब अवस्थाओं में न करने योग्य कार्य क्या है ? उत्तरः—स्नेह और पाप। प्रश्न—प्रयत्न पूर्वक विद्वान् पुरुषों को क्या करना चाहिये ? उत्तरः—ब्रह्म विद्या का अध्ययन और धर्म। प्रश्नः-संसार का मूल क्या है ? उत्तरः—चिन्ता।

छप्पय।

क्या है करने-योग्य, अवस्था सब के माहीं।
स्नेह पाप दो कार्य, योग्य करने के नाहीं॥

किसके लिये प्रयत्न, नित्य पंडित को करना ।
पालन सदा स्वधर्म, ब्रह्म विद्या का पढ़ना ॥
है जड़ क्या संसार की, जन्म मरण दुखदायिनी ।
चिन्ता जग की मूल है, योनि अनेक भ्रमावनी ॥१४॥

विवेचन ।

शिष्य का प्रश्न है कि बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था तथा श्रीमान् अवस्था, कंगालावस्था, आरोग्यावस्था, रोगावस्था जाग्रतावस्था और स्वप्नावस्था आदिक सब अवस्थाओं में स्त्री पुरुष दोनों को ही न करने योग्य कार्य कौन सा है। जो कार्य दुःखदायक और अनहित करने वाला होता है वह करने योग्य नहीं होता, ऐसा कार्य कौन सा है, उसको बताइये। उसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि स्नेह और पाप करने योग्य नहीं है। स्नेह चिकनाई को कहते हैं, जो चिपटने वाला है सो स्नेह है। स्नेह को ही प्रेम, आसक्ति, लगाव, सम्बन्ध, ममत्व, वासना आदिक शब्दों से समझाया गया है। स्नेह की चिकनाई जिन जिन पदार्थों में लगती है उन उन पदार्थों के संस्कार अंतःकरण में जमते हैं और अनेक प्रकार के दुःख और जन्म मरण का कारण होते हैं इसी कारण जिसको मोक्ष की इच्छा हो ऐसे मुमुक्षु को मान, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, जमीन, जागीर, कुटुम्ब आदिक अनेक पदार्थों में से किसी में स्नेह न करना चाहिये। प्रापंचिक स्नेह रहते हुए कोई भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। सब दुःखों का मूल स्नेह ही है। मनुष्य जन्म रूप उत्तमता प्राप्त करके जो घर आदिक में

आसक्त हैं, उन्हें नरकका कीट ही समझना चाहिये। जिस प्रकार नरक का कीट नरक में से निकलना नहीं चाहता इसी प्रकार उन मनुष्य रूप नरक के कीड़ों की गति है। भय, चिंता, कष्ट, शोक, मोह, लोभादिक सब स्नेह से होते हैं। भय आदिक में रहा हुआ जो तेल-चिकनाई है उसे स्नेह कहते हैं। जिस प्रकार तेलके कारण तिल घानी में पेले जाते हैं इसी प्रकार जिनमें स्नेह रूप तेल है, ऐसे मनुष्य संसार रूप घानीमें पेले जाते हैं। महाराजा भरत जिसने सब कुछ त्याग दिया था और ब्रह्म चिन्तवन में लगा रहता था, संयोगवश मृग का स्नेह होने से उसके कारण विकल रहा करता था और इसी अवस्था में मरजाने से मृग योनि को प्राप्त हुआ। यद्यपि बन्धन अनेक प्रकार के हैं किंतु स्नेह रूप बन्धन सब में शिरोमणि है। स्नेह के अभाव में अन्य बन्धन शिथिल हो जाते हैं। भ्रमर को लकड़ी में छेद कर देने की महाशक्ति है और वह इस कार्य में निपुण है परन्तु जब वह कमल में घुस जाता है तब उसके रस में मग्न और प्रेम से ऐसा आच्छादित हो जाता है कि उसमें से निकलना नहीं चाहता; जब सूर्य अस्त हो जाता है, कमल मुंद जाता है तब भ्रमर रस लिया करता है परन्तु प्रेम के कारण कमल जैसे कोमल पदार्थ को भी काट नहीं सकता इसलिये रात्रि भर उसी में रहता है बाहर नहीं निकलता। प्रातःकाल में हाथियों के झुण्ड आकर तालाब के कमलों को तोड़ खाते हैं और कमलों के साथ प्रेम के बन्धन में पड़ा हुआ भ्रमर भी स्नेह के कारण हाथियों के उदर में चला जाता है। जो स्नेह करता है सो अपने को बांध लेता है और जो स्नेह को तोड़ देता है, वह संसार को तोड़ देता

है; अन्य में तो क्या अपने शरीर में भी स्नेह करना दुःख दायक है। स्नेह सब पापों की जड़ है, स्नेह विना कोई भी पाप किसी से नहीं होता। वड़े वड़े शूरवीर स्नेह के कारण तुच्छ हुए हैं। भले भले तपस्वी स्नेह के कारण ही अपनी स्थिति से गिर चुके हैं। स्नेह के कारण दूध में उफान आता है, स्नेह अन्तःकरण में उफान उत्पन्न करने वाला है और स्नेह ही समाधी को तोड़ने वाला है। अपना माना हुआ स्नेह ईर्षा को उत्पन्न करता है; जैसे चिकनाई छूते ही चिपट जाती है सहज में नहीं छूटती और जिसमें लगती है, उसे अपने भाव वाला वना लेती है इसी प्रकार थोड़ा सा भी लगा हुआ स्नेह छूटना कठिन है। जो अपने को भूल कर स्नेह मय हो रहे हैं. उनका कष्ट अनन्त है।

जिन कर्मों का फल दुःख हो ऐसे कर्मों को पाप और जिनका फल सुख हो उनको पुण्य कहते हैं। पाप और पुण्य अनेक प्रकार के हैं। सामान्य दुःखकारक कर्म सामान्य पाप है और महान् दुःख का हेतु रूप महान् पाप है। ब्रह्महत्या, मद्यपान, गुरुपत्नि गमन, मातागमन आदिक महापाप हैं। शरणागत का वध. रजस्वला और गर्भिणी स्त्री का वध, गुरु से द्वेष करना, नास्तिकता, वेद निंदक, कुशास्त्र का अध्ययन, वितंडावाद आदिक ब्रह्महत्या के समान हैं। अभक्ष्य का भक्षण, मित्र वध, अपने उत्कर्ष के निमित्त अनृत भाषण, वेद का त्याग, वेद की निन्दा इत्यादि पाप मद्यपान के समान हैं। मनुष्य, रत्न, स्त्री, गौ इत्यादि का हरण करना, बेटी, बहिन, भानजी, सगोत्री कन्या,

आचार्य की स्त्री अथवा पुत्री, चाचा ताऊ, मामा, नाना, उपाध्याय, मित्र की स्त्री तथा कन्या, ब्राह्मणी, ऋषिपत्नी, रानी. पुत्र की पुत्री, पुत्री की पुत्री आदिक में गमन गुरु पत्नी के गमन के समान है। ऐसे और इनसे न्यून अनेक प्रकार के पाप हैं। इन सब को त्यागना चाहिये। जिसको अपने श्रेय की इच्छा हो उसे कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के पापों को त्यागना योग्य है। पाप मैल रूप हैं; जिसके पाप विशेष होते हैं उसके अन्तःकरण पर बहुत सा मैल चढ़ जाता है इसलिये वह अपने स्वरूप के बोध करने में असमर्थ होता है, नरक में पड़ता है और लोगों में धिक्कार को प्राप्त होता है इसलिये सज्जनों को सचेत रहकर ऐसे पापों से बचना चाहिये। स्नेह से और पाप से परस्पर संबंध है. स्नेह पाप कराता है और पाप स्नेह करने में समर्थ करता है। इन सब महान् पापों से भी महान् पाप अपने स्वरूप का अज्ञान है क्योंकि पाप एक वार ही फल देता है और स्वरूप का अज्ञान रूप महापाप तो अनेक जन्मों में फल देकर निवृत्त नहीं होता। इसलिये ऊपर बताये हुए पापों से बचकर स्वरूप के अज्ञान रूप महापाप को भी निवारण करना चाहिये। ऐसा करने से ही यथार्थ शुद्धि हो सकती है।

स्नेह किस प्रकार दुःखदायक है, इसका एक ऐतिहासिक दृष्टांत इस प्रकार है:—पूर्व समय में मालवा देश में सिंहदन्त नाम का एक राजा था। वृद्धावस्था होने को आई तो भी उसके जब कोई संतान न हुई तब उसने मंत्रियों से सम्मति करके रानी

सगर्भ है. ऐसा प्रकट किया। इस बात को नव मास हुए होंगे, राजा राजभुवन में टहल रहा था और प्रातःकाल का समय था। उस समय उसने बाहर के मुंज में पड़ा हुआ तुरत का जन्मा हुआ एक बालक देखा। उसने बालक को उठा लिया और अन्तःपुर में भेज कर ऐसा प्रकट किया कि राजपुत्र का जन्म हुआ है। राजा और प्रजा ने बहुत उत्सव किया; उस बालक का नाम मुंज हुआ। पश्चात् रानी के गर्भ रहा और पुत्र का जन्म हुआ वह राजकुमार सिंधुल कहलाया। सिंधुल की बुद्धि मंद देखकर राजा ने मुंज को राज्याभिषेक किया और उससे सिंधुल के ऊपर प्रेम रखने को कहा और मुंज किस प्रकार प्राप्त हुआ था, यह भी उससे कह दिया। पश्चात् राजा ने भजन करके अपना प्राण त्याग दिया। मुंज बहुत पराक्रमी था और उसे राज्य का अत्यन्त लोभ था; मुंज की स्त्री मदन मंजरी एक तेज मिजाज स्त्री थी, वह गुजरात के राजा भीमदेव की पुत्री थी। मालवा के राजा से गुजरात के राजा का कुल हलका समझा जाता था। एक दिन मुंज और उसकी स्त्री हास्य कर रहे थे। मुंज ने 'मालवा से गुजरात का कुल हलका है' ऐसा कहते हुए वंश परंपरा की ईर्षा का भाव दिखलाया। रानी से यह सहन न हुआ वह मुंज की प्राप्ति की गुप्त बात जानती थी। कहने लगीः—आप अपना ही विचार कीजिये कि आप कौन हैं? मेरे माता पिता तो कलंक से भरे हुए हैं! हीन कुल के नहीं आप तो भटकती रांड के लड़के हो; तुम्हारी शेखी मेरे सामने नहीं चल सकती! चुप रहने में ही मेरी और आपकी शोभा है। मुंज ने क्रोधित होकर उसी क्षण तलवार से

रानी का शिर काट डाला। मुंज की प्राप्ति का हाल सिंधुल को भी मालूम था इसलिये राजा का वचन न मानकर मुंज ने सिंधुल को नेत्र फोड़कर और बहुत दुःख देकर मार डाला। सिंधुल का पुत्र भोज था, जब वह कुछ बड़ा हुआ तब मुंज ने उसे भी मार डालने का यत्न किया परन्तु वह ईश्वर कृपा से बच गया। कुछ समय पीछे दक्षिण देश के राजा तैलिपदेव ने मुंज पर चढ़ाई की और उसे जीतकर कैद करके अपने पाट नगर में ले गया। वहां ले जाकर उसने उसे एक राजमहल में नजर कैद रक्खा। राजा तैलिप की एक बाल विधवा बहिन थी उसका नाम मृणालवती था। मुंज की देख भाल का काम उसको दिया गया। मुंज स्वरूप वाला था मृणालवती उससे प्रेम करने लगी। कुछ दिनों तक दोनों का गुप्त सम्बन्ध चालू रहा। मालवे के प्रधानों ने मुंज को छुड़ाने का प्रयत्न किया; जब कोई प्रयत्न काम न आया तब उन्होंने मुंज के शयनगृह तक एक गुफा बनाना आरम्भ किया। वह गुफा वहां आई हुई नदी के नीचे २ बनाई गई; गुफा मार्ग तैयार होने के बाद मुंज को गुफा के मार्ग से अकेला भाग आने के लिये सूचना दी गई परन्तु भ्रमर के समान लोलुप हुआ मुंज मृणालवती में अत्यन्त आसक्त था इसलिये उसे मृणालवती को छोड़कर अकेला भाग जाना ठीक न लगा; वह चिंता में रहने लगा। मृणालवती ने मुंज को स्नेह के कार्य में मोहित करके सब बात उससे पूछ ली। स्त्री का विश्वास न करना चाहिये ऐसा मुंज जानता था परन्तु स्नेह सब बात को भुला देता है। मुंज बोला:—प्रिये, तूने बहुत प्रेम से मेरी सेवा की है। कैद में भी तेरे

समागम से सब दुःख भूल गया हूँ; यदि मैं दूसरे स्थान पर जाऊं तो मेरा जाना तेरे बिना अच्छा नहीं है इसलिये यदि तू मेरे साथ भाग चले तो मैं तुझे पटरानी बनाऊंगा। लुच्ची मृणालवती ने प्रेम सहित मुंज की यह बात उसके सामने तो स्वीकार कर ली किंतु सब बात जाकर अपने भाई से कह दी। तैलिप यह सुनकर बहुत क्रोधित हुआ और उसने मुंज को अपने सामने बुलवा कर उसका बहुत अपमान किया अर्थात् दो बदमाशोंको बुलाकर कुत्ते के समान हाल किया, पैरों में भारी लोहे की बेड़ियां डालीं, एक मजबूत लोहे के पिंजरे में बंद कर दिया। सात दिन तक कुछ खाने को न दिया, आठवें दिन गले में रस्सा बांध कर और हाथ में ठीकरा देकर घर घर भिक्षा मंगवाई। सब लोग बहुत तिरस्कार करते थे। झरोखे में से मृणालवती मुंज की दुर्दशा देखकर हंसती थी। अन्त में मुंज को शूली पर चढ़ाकर उसके प्राण लिये गये।

मुंज ने जितने पाप के कर्म किये उतने स्नेह से ही किये थे और अन्तिम दुःख भी स्नेह से ही भोगा। प्रतिष्ठा के प्रेम के कारण रानी को मार डाला, राज्य स्नेह-मैं ही राजा बना रहूँ-इस भाव से सच्चे राज्याधिकारी सिंधुल को पिता की आज्ञा तोड़कर मारा। इसी प्रकार वह मृणालवती में स्नेह करने से कैद से न छूट सका और फजीते सहित शूली पर चढ़ाया गया। इस प्रकार सब पाप स्नेह से ही होते हैं इसलिये स्नेह कभी भी न करना चाहिये।

प्रयत्न पूर्वक विद्वानों को क्या करना चाहिये, उसके उत्तर में कहा है कि ब्रह्मविद्या का पढ़ना और धर्म का आचरण करना चाहिये। यहां विद्वानों को अवश्य करने की वस्तु पूछी है। नित्य अनित्य का जानने वाला ही विद्वान् कहा जाता है। व्यवहार के अनेक प्रकार के ज्ञान वाला, अनेक भाषाओं के ज्ञान वाला विद्वान् नहीं है क्योंकि जानने योग्य मुख्य वस्तु अपना स्वरूप ही है, जो उसे जानता है वह ही विद्वान् है। उसका कर्त्तव्य सत् शास्त्र का पढ़ना है, सत् शास्त्र से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है। ब्रह्मविद्या का स्वस्वरूप—आत्मा में स्थिति रूप फल है जिस कर्त्तव्य से आत्मा का बोध हो उस कर्त्तव्य को धर्म कहते हैं। जो अपने स्वरूप को धारण करावे वही मुख्य धर्म है। तुच्छ विषयों की तरफ से चंचल मन को रोक कर ब्रह्म में स्थिर करना यह ही विद्वानों का पठन है। ब्रह्मनिष्ठ से ब्रह्म का श्रवण करना, श्रवण किये हुए का मनन और मनन किये हुए का निदिध्यासन करना यह ही अध्ययन करने योग्य विद्वानों का अध्याय है। इसके सिवाय जिनमें आत्म बोध कथायें हों, ऐसे पुराण, इतिहास आख्यानों को तथा महात्माओं के चरित्रों को हमेशा पढ़ते रहना, इत्यादि जो ज्ञान के अधिकारी होने के लक्षण हैं उनको धारण करना भी धर्म है, जो अविचल धर्म—आत्म धर्म के धारण करने में अन्तःकरण की शुद्धि रूप हैं। यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ विधि सहित ग्रहण करना भी मुमुक्षुओं का धर्म है। ज्ञान सहित किये हुए सब कर्म बलिष्ठ होते हैं यानी

वे क्षणिक फलको नहीं देते और किसी प्रकार के पापों की उत्पत्ति भी नहीं करते, इसलिये ईश्वरार्पण बुद्धि तथा श्रद्धा से उन धर्मों का आचरण करना चाहिये।

ब्रह्म विद्या महा विद्या है, उसकी प्राप्ति से सब विद्याओं की समाप्ति हो जाती है। ब्रह्म विद्या सब प्रकार के दुःखों को नाश करने वाली और अखंड सुख को देने वाली है इसलिये आत्म ज्ञानी उसको धारण करते हैं। स्वधर्मोचित कार्य करते हुए इस विद्या की प्राप्ति सुलभता से होती है। मन, वचन और कर्म करके किसी का अकल्याण न करना, इस प्रकार का वर्ताव यम नियमादिक तथा सत्यता के पालन सहित करना चाहिये। किसी से विरोध न करना, मन को उद्वेग में जाने न देना, सब के साथ सम भाव से वर्तना और अहंता ममता का परित्याग करना इन्हीं को धर्म कहते हैं।

चाहे जितने शास्त्र पढ़ जांय, चाहे जितनी प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय, चाहे जितना ऐश्वर्य बढ़ाया जाय, इससे कोई विद्वान् नहीं होता, आत्म विद्या ही विद्या है और उसीको जानने वाला विद्वान् है। मतलब यह है कि बुद्धिमान् मनुष्यों को आत्म अध्ययन-चिंतवन ही करना योग्य है। जो मनुष्य अपनी बुद्धि का सदुपयोग नहीं करता वह विद्वान् नहीं है। जिसको अपने कल्याण का मार्ग नहीं सूझता, जो कल्याण करने में प्रवृत्त नहीं होता, ऐसे को विद्वान् नहीं कह सकते किंतु वह खिलोने के घोड़े को सवारी का घोड़ा कहने वाले के समान है।

कोई एक ब्राह्मण काशीजी में जाकर बहुत प्रकार के शास्त्रों को पढ़ कर 'मैं पंडित हूं' ऐसा अभिमान बढ़ाकर विचर रहा था। बहुत शास्त्र पढ़ने के साथ उसमें वाणी की चातुर्यता भी थी। एक समय वह घूमता हुआ एक शहर में पहुंचा। वहां उसने कथा कहना आरंभ किया। बहुत से मनुष्य कथा सुनने के लिये आने लगे और सत्कार भी भली प्रकार करने लगे। कथा सुनने वालों में एक सीधा सादा मनुष्य था। वह ज्ञानी था, कहने मात्र का ही ज्ञानी नहीं परन्तु पूर्ण अनुभवी था। उसकी रीति, भांति वस्त्रों से उसे कोई ज्ञानी नहीं जान सकता था। वह उस पंडित को ठीक ठीक पहिचान गया और इसके ऊपर उसको दया आगई। एक दिन उसने पंडित को अपने घर भोजन करने को निमंत्रण किया और वह उसे बुला कर ले जा रहा था। मार्ग में थोड़ी दूर पर एक मकान पर एक तोता पिंजरे में बंद दिखाई दिया। वहां एक मनुष्य ने कहा "आज भगतराम पंडितजी को भोजन कराने के लिये ले जा रहा है!" तोता बोला "सच है!" मनुष्य ने कहा "पंडितजी बहुत विद्वान् हैं!" तोता बोला "सच है" पंडित ने तोते को इस प्रकार बोलता हुआ सुन कर कहा "भगतजी! तोता बोलता तो खूब है, पढ़ा हुआ है!" भगतराम ने कहा "महाराज! यह तोता पचास रुपये में आया है।" पंडित बोला "पचास!" भगतराम ने कहा "पंडितजी! यह तोता अब जिसके घर में है, उसने एकवार इस तोते को एक बेचने वाले के पास देखा और उसका मूल्य पूछा तो बेचने वाले ने पचास रुपये कहा। यह सुन कर लेने वाला आश्चर्य करने लगा और तोते की

तरफ देखने लगा ! तोता बोला 'सच है' लेने वाला तोते की बोली पर मुग्ध हो गया और पचास रुपये देकर खरीद लाया। उसे लेकर वह घर को आ रहा था, मार्ग में उसके एक मित्र ने तोते के दाम पूछे। जब लाने वाले ने पचास रुपये बताये और तोते ने 'सच है' कहा तब मित्र कहने लगा 'लेने वाला मूर्ख है !' तब भी तोता बोला 'सच है' इस प्रकार अपने मालिक को मूर्ख बना कर पिंजरे में पड़ा हुआ है। आप ही कहिये, यह पढ़ा है या नहीं ?" पंडित दिल में कुछ सकुचा कर बोला "पढ़ा तो है। परन्तु उच्चारण मात्र करता है, शब्द का बोध नहीं है।"

पंडित था कुछ संस्कारी, इन बातों से उसे अपनी पढ़ाई पर भी शंका हो आई, जी में कहने लगा "मैं पढ़ा हूं, शब्दार्थ जानता हूं, परन्तु वास्तविक उपयोग नहीं कर सकता !" इस प्रकार विचारता हुआ वह भोजन करने गया। भगतराम ने सत्कार सहित भोजन कराया और ताम्बूल दिया; तब पंडित बोला "भगतजी ! आप तो मुझे दश बजे बुलाने आने वाले थे, देरी क्यों हुई ?" भगतराम बोला "पंडितजी ! रात्रि को हमारे पास के मकान में चोरी हो गई, पुलिस आई थी इसलिये देरी हो गई।" पंडित बोला "चोरी किस प्रकार हुई ?" भगतराम ने कहा "रात्रि को कोई एक बजे चोर छत पर से नीचे उतरा। पति पत्नी घर में थे और बाहर कई और मनुष्य भी सोये हुए थे। पति पत्नी जाग रहे थे। चोर छत पर से उतरने लगा तब पत्नी ने पति से कहा 'छत पर से चोर उतर रहा है।' पतिने कहा 'मैं जानता हूं!!' थोड़ी देर में पत्नी फिर बोली 'देखो, हमारे

किवाड़ों के भीतर आ रहा है।' पति ने कहा 'देखता हूं।' पत्नी ने कहा 'अब समीप आ गया है।' पति ने कहा 'मुझे खबर है।' पत्नी ने कहा 'देखो! अलमारी खोल रहा है!' पति ने कहा 'मैं अलमारी खोलने की आवाज़ सुन रहा हूं।' पत्नी ने कहा 'दागी ने निकाल रहा है।' पति ने कहा 'मुझे इस बात का ज्ञान है।' पत्नी ने कहा 'अब गठरी बांध कर जा रहा है।' पति ने कहा 'हां मैं देख रहा हूं।' पत्नी ने कहा 'अब वह चला।' पति बोला 'हां! हां!! मुझे सब खबर है।' चोर भाग गया। अन्त में पत्नी झुंझला कर बोली 'धूल पड़े तुम्हारे जानने में, ऐसा जानना किस काम आया!' पंडितजी बोलिये, उसने जाना था या न जाना था? पण्डित सब बातें अपने ऊपर लगातेहुए खिन्न होकर बोला "उसका जानना न जानना ही था। जैसा तोते का पढ़ना था इसी प्रकार उसका जानना था।" भगतराम हाथ जोड़ कर बोला "आप शुद्ध मालूम होते हैं, बुरा न मानिये, आपका पढ़ना जानना इस प्रकार न हो, ऐसा मैं चाहता हूं।" पण्डित के नेत्रों में पानी भर आया और कहने लगा "भगतराम! सच मुच आप पूर्ण भक्त ज्ञानी हैं, आपके प्रसंग से मुझे अपनी भूल मालूम हुई है। आज तक मैंने जो पढ़ा या जाना है, वह ऊपर के समान ही है—आपका कल्याण हो, आपने मुझे जगा दिया है। अब मैं सब उपाधियां हटा कर जंगल में एकान्त स्थान में बैठ कर पढ़े और जाने हुए का स्वयं अनुभव करूंगा।"

तोते के समान ब्रह्म विद्या का पढ़ना और पड़ोसी के समान काम क्रोधादिक विकार रूप चोर को घुस कर चोरी करते हुए

भी कुछ प्रयत्न न करना इस प्रकार ब्रह्म के जानने में भूल है। ब्रह्म भाव में स्थित होना चाहिये—दृढ़ अपरोक्ष अनुभव होना चाहिये।

संसार की मूल चिंता कही है। संसार अज्ञान से है, चिंता ही अज्ञान है। यदि परब्रह्म का अपरोक्ष बोध हो जाय तो किसी प्रकार की चिंता न हो। अपने को व्यक्ति भाव वाला मानने से चिंता होती है इसलिये चिंता को संसार का मूल कहा है। जब सब प्रकार की चिंतायें निवृत्त हो जाती हैं तब परब्रह्म का बोध होता है। जब नाम रूपात्मक पदार्थ प्राप्त नहीं होते तब उनको प्राप्त करने की चिन्ता होती है, मिल जाने के बाद उनके रक्षण की चिन्ता रहती है। संसार चिन्तामय है। संसारी कोई भी चिन्ता से रहित नहीं हो सकता। एक प्रकार की चिन्ता हो तो हटा दी जाय, जब संसार चिन्ताओं का ही ढेर है तब संसार की आसक्ति होते हुए चिन्ता रहित किस प्रकार हो सकते हैं, आधि, व्याधि और उपाधि का योग हमेशा ही हुआ करता है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ताप चिंता को कराते ही रहते हैं। शरीर रोगों का घर होने से शरीराभिमानी को चिन्ता कभी नहीं छोड़ती। अज्ञान की समूल निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति सिवाय चिन्ता की समूल निवृत्ति कभी नहीं होती। चिन्ता मन में होती है और कर्ता भोक्ता के भाव वाले को जलाती रहती है। यह बात दशवें पद्य में कही है। चिन्ता से कभी भी किसी फल की प्राप्ति होती हुई नहीं दीखती इसलिये चिन्ता की निवृत्ति का उपाय अवश्य करना चाहिये। कार्य्य करने

के विचार और चिन्ता को एक कर देना न चाहिये। विवेक बुद्धि सहित कार्य करने को विचार कहते हैं और लोभ, मोह अथवा कामना से दुःख होने के विचार को चिन्ता कहते हैं। विचार कार्य करने के निमित्त है और चिन्ता हृदय को जलाने वाली है। जन्म मरण चिन्ता से ही होते हैं; ऐसी चिन्ता जिससे निवृत्त हो इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। सत्यासत्य के विवेक से जगत् को भ्रमात्मक, क्षणिक समझने से चिंता का त्याग होता है। संसार परिवर्तन वाला है, इच्छानुसार किसी के सब कार्य नहीं होते, इस प्रकार सुख दुःख हुआ ही करते हैं। ऐसा समझ कर चिन्ता को छोड़ना चाहिये।

एक मनुष्य प्रथम श्रीमान् था, पीछे कंगाल हो गया। यह मनुष्य था बुद्धिशाली। एक दिन उसकी झोंपड़ी में एक मनुष्य गया तो उसने चारों तरफ की दीवारों पर "यह दिन भी जायगा।" ऐसा लिखा हुआ देखा। उसने कहा "आप को ऐसी तंग हालत में बड़ा कष्ट होता होगा, बहुत चिन्ता होती होगी।" बुद्धिशाली कंगाल मनुष्य बोला "मित्र! मेरे कमरे में चिन्ता घुस नहीं सकती। उसके घुसने न देने को मैंने चार चौकीदार बैठा रक्खे हैं। पूर्व की स्मृति आते ही मेरी दृष्टि दीवार पर जाती है। 'यह दिन भी जायगा' यह पढ़ते ही चिन्ता भाग जाती है। जब मेरे अच्छे दिन न रहे तो बुरे दिन भी क्यों रहेंगे। उदय और अस्त होते ही रहते हैं, फिर मैं चिन्ता क्यों करूं?" कंगाल की बुद्धि को धन्यवाद देता हुआ वह मनुष्य चला गया॥१४॥

विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा,
नार्या पिशाच्या न च वंचितो यः।
का शृंखला प्राण भृतां च नारी,
दिव्यं व्रतं किं च निरस्त दैन्यम् ॥१५॥

अर्थः—प्रश्नः–ज्ञानियों में भी महान् ज्ञानी कौन है ? उत्तरः–नारी रूप पिशाचिनी से जो ठगा गया न हो सो। प्रश्नः–प्राणियों को बेड़ी रूप कौन है, उत्तरः–स्त्री बेड़ी रूप है। प्रश्नः–दिव्य व्रत कौनसा है ? उत्तरः–दीनपने से मुक्त होना उत्तम व्रत है।

छप्पय।

ज्ञानिन मध्य विशेष, कौन ज्ञानी कहलावे।
दुष्ट पिशाचिनि नारि, कभी न जिसे ठग पावे॥
बेड़ी ऐसी कौन, बांधि प्राणिन जो राखे।
नारी बेड़ी कठिन, नरक में पुरुषन नाखे॥
दिव्य व्रतों में दिव्य अति, व्रत कौनसा कहाय है।
सोहि व्रतों में दिव्य व्रत, जो दीनत्व मिटाय है॥१५॥

विवेचन।

जिसको अपने स्वरूप का बोध हो, वह ज्ञानी कहलाता है; ऐसे बोध वाले ज्ञानियों में भी महान् ज्ञानी कौन है, यह पूछा है। ज्ञानी से विशेष ज्ञानी कौन होगा जो महा ज्ञानी कहा जाय, जिसका मनोनाश और वासना नाश नहीं हुआ है, वह ज्ञानी

होते हुए भी वास्तविक ज्ञानी नहीं है; जिसके मन और वासना का पूर्ण नाश होगया है वह ही वास्तविक ज्ञानी होने से महान् ज्ञानी है। यदि स्त्री से ठगा जाय तो जानना चाहिये कि उसका मन विषयों की तरफ से पूर्ण कुंठित नहीं हुआ है और इसीलिये उसमें वासना भी है। स्त्री को पिशाचिनी की उपमा दी है। स्त्री माया का स्वरूप, अज्ञान की मूर्ति, मूर्खता से साहस करने वाली, लोक मर्यादा त्याग कर व्यवहार करने वाली, अपने वशवर्ती का रक्त चूसने वाली और चुड़ैल के समान चिपटने वाली है इसीसे वह पिशाचिनी है। दर्शन से चित्त का, स्पर्श से बलका और संग से वीर्य्य का हरण कर लेती है। जिसका मन स्त्री ने हरण कर लिया ऐसे पुरुष को विद्या से, तप से, त्याग से, श्रवण से, एकांत में बसने से अथवा मौन रहने से कुछ फल नहीं होता। स्त्री ने जिसको ठग लिया है ऐसा पुरुष चाहे जितना विद्वान्, चाहे जितना वक्ता, लेखक, कवि, शूरवीर, दानी, चतुर अथवा ज्ञानी भी हो वह महा मूर्ख है क्योंकि स्त्री रूप मदारी के हाथ में वह बन्दर के समान नाचने वाला है। जिसको स्त्री की तरफ कुछ भी प्रेम भाव होगा उसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती क्योंकि मुक्ति को रोकने वाले कारणों में सबसे बलिष्ठ कारण स्त्री है इसलिये अन्तःकरण में स्त्री का भाव रहते हुए मुक्ति किस प्रकार हो सकती है। सब संसार संसार नहीं है किंतु एक स्त्री ही सब संसार है। नरक का बोध कराने वाला एक स्त्री का शरीर ही है, वह ही प्रत्यक्ष नरक है। स्त्री को जितना लाड़ लगाया जायगा उतनी ही वह विशेष बिगड़ेगी और परिणाम में हानि ही होगी।

स्त्री के प्रेम पाश में पड़ कर लोग अपनी प्रतिष्ठा को गुमाते हैं। गई हुई प्रतिष्ठा किसी प्रयत्न से फिर प्राप्त नहीं होती। स्त्री की आसक्ति वाला मनुष्य जन्म को सार्थक नहीं कर सकता। स्त्री की आसक्ति रुलाने वाली है इसलिये मुमुक्षुओं को उसके वश कभी न होना चाहिये किंतु मलमूत्र की खानि समझ कर उससे दूर ही रहना चाहिये। स्त्री रूप पिशाचिनी ने योगियों के मन को चलित कर दिया है, उनको छल लिया है और क्षण भर में मोह पाश में फँसा कर अनेक वर्षों के किये हुए परिश्रम को मिट्टी में मिलाकर दूषित किया है। महान् बुद्धिशाली विद्वान् और राजाओं को भी इस पिशाचिनी ने ठग लिया है। अवंतिकापति राजर्षि भर्तृहरि का दृष्टांत जगत् में प्रसिद्ध है। राज्य की व्यवस्था करना, महान् शत्रुओं से निर्भय होकर युद्ध करना, शास्त्रार्थ में महान् पंडितोंको जीतना, उपदेश करना अथवा दूसरे के मन की अटपटी शंकाओं का समाधान करना, यह सब सुगम है परन्तु स्त्री के मन को समझना महा कठिन है। स्त्री अपने पंजे में फंसाने के लिये अनेक प्रकार के प्रपंच रचने में महा निपुण होती है। सहज बात में दीन बन जाना, नेत्रों में जल ले आना, झूठी कसम खाना और 'मैं तुम्हारी ही हूँ, तुम्हारे विना जी नहीं सकती' ऐसा पुरुष को सिद्ध कर दिखलाना, ये स्त्री के स्वाभाविक कर्तव्य हैं। स्त्री अपने दुष्ट कार्य को सिद्ध करने के निमित्त, पति, पुत्र, भाई अथवा पिता का घात करने में नहीं सकुचाती। ऐसी दुष्टा पिशाचिनी रूप स्त्री जन्म मरणादि अनेक कष्ट देने वाली है. उसके संसर्ग से मुमुक्षुओं को अवश्य दूर रहना चाहिये।

एक संत के यहां नित्य प्रति सत्संग हुआ करता था। एक पंडित भी वहां आया करता था, वह शुद्ध बुद्धि वाला था और भक्ति, ज्ञान की तरफ उसका कुछ प्रेम भी था। एक समय साधु और पण्डित दोनों ही थे और कोई वहां न था। तब उन दोनों में यह बातचीत हुई:-पण्डित:-महाराज! शास्त्र में स्त्री के बहुत दोष वर्णन किये हैं परन्तु मेरा विचार यह है कि सब स्त्रियां दूषण रूप नहीं हैं। संत:-ठीक है, सृष्टि निर्बीज नहीं है। महान् सती भी इस संसार में ही हैं परन्तु ऊपर के हाव भाव से स्त्री को शुद्ध प्रेम वाली समझने में बड़ी भूल होती है। स्त्री का मन और चरित्र जाने नहीं जाते। यदि वह शुद्ध रहे तो अपने आप भले रहे और यदि बिगड़ना चाहे तो बाप से भी बिगड़ जाती है। साहस और मूर्खता ये दो दोष स्त्री में स्वाभाविक विशेष रहते हैं। पण्डित:—आपका कहना सत्य ही होगा। आज्ञानुसारिणी, पति भक्ति वाली स्त्री मिलने से मैं तो अपने को भाग्यशाली समझता हूँ। मेरी स्त्री मेरी आज्ञा भली प्रकार उठाती है और मेरी इच्छानुसार सब काम मेरे कहने से प्रथम ही कर देती है, उसका प्रेम मुझ पर अपूर्व है, मेरा जीवन ही उसका जीवन है। कई बार मैं सामान्य परीक्षा भी कर चुका हूँ। संत:-(मन में हँसकर) भाई! यदि तेरे निश्चय के अनुसार तेरी स्त्री हो तो तू अवश्य पूर्ण भाग्यशाली है, परन्तु मेरे विचार से जैसा तू समझता है, ऐसी वह है नहीं, मैं तुझे एक युक्ति बताता हूं, इस युक्ति से अपनी स्त्री की परीक्षा कर। युक्ति यह है कि तू बीमार पड़ जाने का ढोंग कर, भोजन कम करते करते छोड़ दे, कुछ दिन तक खाट में ही

पड़ा रह, अन्त में मर जाने तक का स्वांग पूर्ण कर, इस प्रकार तुझे अपनी स्त्री का स्वभाव यथार्थ मालूम हो जायगा। पण्डितः- महाराज! मुझे मरा हुआ समझ कर कहीं वह मर न जाय। संतः-नहीं! घबरा मत, वह मरेगी नहीं। तू देखता रहियो, जब उसे मरती देखे तब उठ बैठियो।

पंडित को संत पर विश्वास था। घर जाकर दूसरे दिन से वह बीमार पड़ गया। स्त्री सेवा करने लगी, जब तक पण्डित जागता रहे तब तक खूब सेवा करे, जब आंख बन्द देखे तो अच्छे अच्छे भोजन बनाकर खा लिया करे। पति भोजन करने के लिये कहे तो कह देवे कि आपने भोजन नहीं किया है, मैं कैसे करूं। जब पति आग्रह करे तो उसके सामने थोड़ा सा भोजन कर लिया करे। खाट में पड़ा हुआ पंडित उसकी चेष्टा देखता रहता था और मन में दुःखी हुआ करता था परन्तु मरने तक का स्वांग करने का उसने निश्चय किया था इसलिये पांचवें दिन मंद श्वास लेते हुए वह अपने श्वास को खेंच गया। स्त्री ने पास आकर देखा तो उसे नाड़ी न मिली, मर गया समझ कर उसने घर के किवाड़ बन्द कर दिये, जाकर हलवा बनाया, उसमें से कुछ खाया और कुछ ढांक कर रख दिया। उसने सोचा था कि जो मैं अभी मरने की खबर कर दूंगी, तो सब आकर रोने पीटने लगेंगे, मुझे भी रोना पड़ेगा और शाम तक मुझे खाने को न मिलेगा इसलिये प्रथम ही भोजन कर लूं, फिर उसका मरण प्रगट करूं। इस प्रकार खा पी निश्चिन्त होकर ज्योंही वह किवाड़ खोलने जाने लगी त्योंही पंडित ने एक श्वास ली। स्त्री घबराती

हुई उसकी खाट के पास पहुँची और पूछने लगी। "क्या हाल है? आपकी नाड़ी वन्द हो गई थी, मैं घवरा गई थी, मुझे भी मूर्छा आगई थी। कुछ होश आया तो किवाड़ खोलकर रामशंकर वैद्य को बुलाने जा रही थी।" पंडित वोला "अव वैद्य को बुलाने की जरूरत नहीं है। मैंने कई दिन से कुछ खाया नहीं है, आज मुझे आराम है, मैं भोजन करना चाहता हूँ।" स्त्री प्रसन्न होती हुई बोली "ईश्वर ने मेरी सुनली! आपकी वीमारी देखकर मैं मरण तुल्य होगई थी। अव आपकी हालत अच्छी देखकर मेरी जान में जान आई है। आप जो कहो सो भोजन तैयार करदूं।" पंडित वोला "नहीं! मेरी बीमारी से तू भी वीमार सी पड़ गई है, वहुत कमजोर दीखती है, तुझसे भोजन वन न सकेगा। मुझे स्वप्न में खबर पड़ गई है कि ताजा बना हुआ गरमागरम हलवा आलमारी में रक्खा है, उसीको लेआ, थोड़ा खा लूंगा।" स्त्री चोंक कर वोली "आपको भ्रम होगया होगा! आलमारी में हलवा कैसा?" पंडित वोला "मुझे सब हाल मालूम है। जा ले आ।" स्त्री चुपचाप खड़ी रही; पंडित खाट में से उठा और जाकर आलमारी में से हलवा निकाल लाया, स्त्री को दिखाकर वोला "रंडा। देख यह क्या है? हाय! तुझमें इतना छल! भला! मैं भोला भाला कैसे समझ सकूं? संत की कृपा से आज तेरा कपट खुल गया है। परमात्मा तुझ जैसी से वचावे। सच कहा है:—

त्रिया चरित्र जाने नहिं कोय। खसम मार के सत्ती होय॥

हलवा खाते तो मैंने स्वयं देखा है। तेरे झूंठे हाव भाव को अब कभी न मानूंगा, आज से मैंने तेरा त्याग किया। अब मैं जाता हूं।" स्त्री खड़ी लज्जित हुई सुनती रही। पंडित वहां से चल दिया और संत के पास पहुंचा, प्रणाम करके बोला "महाराज। आपका कहना सच है। स्त्री मुझको ठगा करती थी, मैंने उसकी परीक्षा करली है, बड़ी दुष्टा निकली। मैंने आज से उसका त्याग किया है। आपकी कृपा से मैं उसके पंजे से मुक्त हुआ हूं, अब मैं कभी स्त्री का विश्वास न करूंगा, न कभी उसका संग करूंगा। आपका मुझ पर परम उपकार है।" इस प्रकार कह कर पंडित संत के शरण हुआ और उनकी कृपा से कुछ दिनों में कृतार्थ हुआ।

विषयाकार बुद्धि स्त्री का स्वरूप है। वह ही पूर्ण पिशाचिनी, ठगिनी है। जो उससे ठगा नहीं जाता वह ही महाज्ञानी है। बुद्धि अनेक प्रकार का प्रलोभन देकर आत्म भाव की तरफ जाने नहीं देती।

स्त्री बेड़ी रूप है; जैसे कैदी के पैर में बेड़ी होती है ऐसे ही शरीर सहित सब इन्द्रियों और मन को बांधने वाली स्त्री रूप बेड़ी है। पांचों विषय जो मनुष्य को बंधन करने वाले हैं, वे सभी एक स्त्री में भरे हुए हैं। बेड़ी जिस अंग में पड़ती है उसको ही बोझा रूप है—बंधन रूप है उस अंग को स्वतन्त्र क्रिया करने से रोकती है परन्तु स्त्री रूप बेड़ी तो दूर से ही खेंच लेती है। खाते, पीते, सोते, बैठते, उठते, चलते, काम करते किसी समय भी स्त्री

का बंधन नहीं छूटता। सभा में बैठे हुए, मित्रों से बात चीत करते हुए भी पुरुष को स्त्री का स्मरण बना रहता है, स्त्री में चित्त खिंचा रहता है। इस प्रकार स्त्री रात दिन की दृढ़ बेड़ी है। शृंगी ऋषि स्त्री के कारण भ्रष्ट हुए; प्रियव्रत राजा का पुत्र आग्नीध्र पूर्वचित्ति नाम की अप्सरा में लुब्ध होकर उपहास को प्राप्त हुआ। ऐसे अनेक दृष्टांत और भी हैं इसलिये स्त्री और स्त्री के संगी के संग को त्याग कर सुख पूर्वक ईश्वर की आराधना करनी चाहिये, ईश्वर की शरण में क्लेश नहीं होता। स्त्री अथवा स्त्री के संगी से जिस प्रकार का कठिन बंधन होता है ऐसा और किसी से नहीं होता। स्त्री पुरुष को ही बेड़ी रूप हो ऐसा नहीं है किंतु सब प्राणियों को बंधन कराने वाली है। हथिनी की इच्छा से हाथी बंधन में पड़ता है, कबूतर मादा को देखकर पकड़ा जाता है। जब मन स्त्री में बंध जाता है तब वहां से फिर नहीं निकलता, उसे सर्वमयी आनन्ददायिनी स्त्री ही दीखती है। पुरुष को चाहे जितना कष्ट हो तो भी स्त्री की भावना नहीं छूटती। यदि कोई जेलखाने में हो, खाने को पूरा अन्न न मिलता हो तो भी यदि स्त्री पास हो तो जेलखाने के दुःख को भूल जाता है। स्त्री के कारण पुरुष जन्म मरण की बेड़ी को भोगता है, स्त्री की इच्छा पूर्ण करने में चोरी करके जेलखाने में जाता है। स्त्री महान् मोहिनी है, उसके बंधन से छूटना महा कठिन है। लोहे अथवा लकड़ी की बेड़ी से मनुष्य मुक्त हो सकता है परन्तु स्त्री और द्रव्य में बंधा हुआ मनुष्य नहीं छूट सकता। कुटिलता से भरी हुई, मिथ्या धर्म वाली जिसमें किंचित् भी पवित्रता और

सत्यता नहीं है, ऐसी नारी सर्व प्राणियों को बंधन करने वाली है। अन्य बंधनों से थोड़े बहुत समय में मुक्ति मिल सकती है परन्तु स्त्री के बन्धन से तो चौरासी लक्ष योनियोंका दुःख भोगना पड़ता है। जो स्त्री के बन्धन से मुक्त हुआ है वह ही मुक्त है, अन्य अपने को भले ही मुक्त मानने लगे परन्तु स्त्री के बन्धन सहित वह कभी भी मुक्त न होगा। मुमुक्षु स्त्रियों को इस प्रकारके सब दोषों का आरोपण पुरुष में करना चाहिये। जिस प्रकार पुरुष को स्त्री मोहक और बन्धन रूप है इसी प्रकार स्त्री को पुरुष मोहक और बंधन का हेतु है। पुरुष की कामना स्त्री को मुक्ति मार्ग से रोकने वाली है।

जिस एक व्रत में सब व्रतों का समावेश हो जाय इस प्रकार का महाव्रत कौनसा है? इसके उत्तर में कहा है कि दीनता से रहितपना ही महाव्रत है, इस व्रत में महा प्रकाश है। दूसरे के सामने दीन होने को दीनता-गरीबाई कहते हैं। दीन होना अपने को दूसरे के सामने तुच्छ सिद्ध करना है। जब किसी प्रकार की कामना होती है तब जिससे अपना कार्य होता दीखता है, उसके सामने दीनता की जाती है। जिसमें जितनी कामनायें कम होंगी, उतनी ही दीनता भी कम होगी। दीनता धारण करने से ही महान् व्यापक क्षुद्र जीव भाव का अनुभव कर रहा है। देने वाले की तरफ मांगने वाले का जो भाव होता है उसे दीनता कहते हैं; दीनता बिना मांगना नहीं होता। हुकुम से लेना और है और दीन होकर मांगना और है। दीन होकर मांगने को दीनता कहते हैं। जो सम्पूर्ण निस्पृही होता है, उसकी दीनता

निवृत्त हो जाती है। निर्बल को दीनता होती है, पराक्रमी को नहीं। दीन होना सब से तुच्छ बनना है, अपनी प्रतिष्ठा गुमाना है या यों कहो कि एक प्रकार का भिखारी बनना है। चाहे कैसा भी श्रीमान् हो, यदि किसी से किसी प्रकार की याचना करेगा तो उसे दीन ही होना पड़ेगा। दीनता स्वतन्त्रता के भाव को डुबाने वाली और पराक्रमहीन बनाने वाली है। कुत्ते को देखो कि अपने मोहल्ले में दूसरे मनुष्य पर सिंह के समान उछल कर भोंकता है, यदि वह ही मनुष्य रोटी का टुकड़ा दिखादे तो उसी क्षण दीन होकर दुम हिलाने लगता है। जो कुत्ता सिंह समान था, उसे रोटी की इच्छा दीन बना डालती है। ज्ञानी पुरुष में कोई इच्छा नहीं होती, उसे जगत् के किसी पदार्थ का अवलम्बन नहीं होता इसलिये वह स्पृहा रहित-दीनता रहित होता है। इसी कारण जिसको दीनता न होने रूप व्रत की प्राप्ति होती है, उसे श्रेष्ठ कहा है। मूर्ख, जड़, लापरवाह में भी कभी कभी दीनता नहीं दीखती परन्तु वह आन्तर में दीनता रहित नहीं होता, संपूर्ण दीनता रहित ज्ञानी ही होता है। वस्तुओं की इच्छा में रहा हुआ भाव दीनता है। इच्छा कामना से और कामना अज्ञान से होती है। अज्ञान अँधेरा रूप है इसलिये जो माया के अँधेरे में पड़ा हुआ है और जिसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है, उसे कामना-वस्तुओं की इच्छा होती है, इस कारण वह ही दीन होता है। जो स्त्री की वासना के आधीन है, वह दीन है। ज्ञान, कीर्ति, विद्या, हुनर, धन आदिक की इच्छा भी दीन

वनाती है। दीनता स्वमान को गुमाती है इसलिये जिसको मोक्ष की इच्छा हो, उसे भौतिक पदार्थों की इच्छा छोड़नी चाहिये और उसके निमित्त दीनता के भाव को भी छोड़ना चाहिये। जब तक ज्ञान प्राप्त न हो तब तक ज्ञान प्राप्ति की इच्छा रखनी चाहिये और जब ज्ञान प्राप्त हो जाय, तब जिससे ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसके सामने दीनता वाला भाव-सेवक भाव रखना चाहिये। जब तक पूर्ण बोध न हो तब तक ज्ञान प्राप्ति की दीनता करनी चाहिये। परमबोध की स्थिति में दीनता नहीं रहती।

जिस प्रकार सिंह भूख से मर जाना अंगीकार करता है परन्तु घास खाने की इच्छा नहीं करता इसी प्रकार पराक्रमी पुरुष कष्ट सहना अच्छा समझता है परन्तु कष्ट की निवृत्ति के लिये दीन होना नहीं चाहता। संवत् प्रवर्तक महा पराक्रमी विक्रम के सम्बन्ध में एक दृष्टांत इस प्रकार है:—

राजा विक्रम भर्तृहरि का छोटा भाई था। स्त्री के मोह में पड़ने से भर्तृहरि ने विक्रम को देश निकाला दे दिया था। कुछ दिनों तक वह जंगल में भटकता रहा और राज पुत्र होने पर भी दारिद्र्य के दुःख से पीड़ित रहा। उसने द्रव्य प्राप्ति के अनेक यत्न किये परन्तु सफल न हुए। एक दिन एक ब्राह्मण जो उसका बाल मित्र था, मिला। वह भी दरिद्री था; उस ब्राह्मण से यह समाचार पाकर कि रोहण पर्वत पर रत्न मिलते हैं दोनों मित्र रत्नों की इच्छा से वहां जाने लगे। रात्रि में एक कुंभार के घर पर मुकाम हुआ; दूसरे दिन दोनों रोहण पर्वत पर पहुंचे। वहां जाकर मालूम हुआ कि रत्न खोदने से मिलते हैं इसलिये

विक्रम ने ब्राह्मण को कुंभार के यहां कुदाल लेने भेजा। ब्राह्मण ने कुंभार से कुदाल मांगी और अपना विचार कहा। कुंभार बोला "मिसुरजी ! पहाड़ पर रत्न मिलते जरूर हैं परन्तु उसमें एक युक्ति है, माथे पर हाथ रख कर 'हे दैव !' ऐसा कह कर खोदने से दरिद्री मनुष्य को तुरन्त ही रत्न मिल जाते हैं। इस प्रकार कह कर कुंभार ने कुदाल फावड़ा ब्राह्मण को दे दिये और फिर कहा "पांडेजी ! मेरे कहे अनुसार कहे विना खोदने से रत्न नहीं मिलेंगे !" ब्राह्मण कुदाल फावड़ा लेकर विक्रम के पास पर्वत पर पहुंचा। वह जानता था कि पराक्रमी, गुणवान् राजपुत्र विक्रम रत्न की इच्छा से भी 'हे दैव !' ऐसी दीन वाणी का उच्चारण नहीं करेगा और ऐसे कहे विना रत्न मिलेंगे भी नहीं ! यह भी उसका निश्चय था इस-लिये उसने कुंभार के कहे हुए वचन विक्रम से न कहे, कुदाल फावड़ा उसके सामने रख दिये। विक्रम कुदाल हाथ में ले खानि में उतर कर खोदना आरम्भ किया चाहता था। ब्राह्मण ने उसे रोका और कहा "हे मित्र ! ठहर ! हम जहां उतरे हैं, वहां मुझे उज्जयनी से आया हुआ एक मनुष्य मिला था, उस समय तू मेरे पास न था, मैंने उससे तेरे घर का समाचार पूछा था; उसने मुझसे कहा कि सब तो कुशल हैं परन्तु विक्रम की मातुश्री का स्वर्गवास होगया है, यह समाचार दुःखदायक समझकर मैंने तुझसे संकोच के कारण अभी तक नहीं कहा था !" इस प्रकार के वचन सुनकर विक्रम अतिशय दुःखी हुआ और उसने दुःख के आवेश में माथे पर हाथ रखकर 'हे दैव' ऐसा कहकर कुदाल

हाथ में से नीचे फेंक दी। ब्राह्मण ने जो समाचार सुनाया था वह झूंठ था परन्तु उसका उद्देश ठीक था और पूर्ण हुआ। विक्रम ने सहज ही कुदाल फेंक दी थी परन्तु वह रत्न प्राप्ति का सच्चा उपाय था। ज्यों ही विक्रम ने कुदाल नीचे पटकी त्यों ही उसकी नोंक जमीन में लगी और उसमें से एक अलौकिक अपने तेज से अंधकार को दूर करने वाला ऐसा उत्तम रत्न ऊपर निकल आया। वह रत्न कम से कम सवा लाख रुपये की कीमत का था। विक्रम का लक्ष कुदाली की नोंक से निकले हुए रत्न पर नहीं था परन्तु ब्राह्मण का लक्ष था, उसने रत्न को देख लिया और कार्य सफल होने से उसे अति आनन्द हुआ। विक्रम इस समय दुःखी है यदि मैं उसे अभी रत्न दिखला दूं तो कदाचित् वह उसे न ले ऐसा विचार कर ब्राह्मण ने धीरे से रत्न उठा लिया। कुदाल फावड़ा लेकर दोनों वहां से लौटे। खानि से थोड़ी दूर बाहर जाकर ब्राह्मण ने विक्रमको रत्न दिखला कर और उसकी प्राप्ति का उपाय बता कर कहा "हे मित्र! मैंने यह विचार कर कि तुझसे ऐसे दीन वचनों का उच्चारण नहीं होगा, तेरी माता की मृत्यु का झूठा समाचार तुझे दिया था। माता के दुःख से तूने माथे पर हाथ रखकर 'हे दैव!' ऐसा कह कर ज्यों ही कुदाल फेंकी, त्यों ही उसकी नोंक जमीन में लगी और उसमें से यह अमूल्य रत्न निकल आया।" इस प्रकार के वचन सुन कर विक्रम ब्राह्मण के वर्ताव को बहुत अयोग्य समझ कर विचारने लगा "ब्राह्मण ने धोखा देकर रत्न प्राप्ति के लिये मुझसे दीन वचन उच्चारण करवाया, यह ब्राह्मण है ब्राह्मण बहुल करके स्वभाव से लोभी हुआ करते हैं, उसने

अपने स्वभाव के अनुसार वर्ताव किया है। मुझे यह रत्न लेना योग्य नहीं है क्योंकि चाहे जो कुछ हो जाय, दीन होकर अन्य की याचना न करना चाहिये, यह महा पुरुषों का दृढ़ संकल्प होता है!" ऐसा विचार कर विक्रम ने ब्राह्मण से कुछ न कहा किन्तु उसके हाथ में से रत्न छीन लिया और बहुत दूर जाकर खानि में उसे फेंक कर कहा "हे रोहण पर्वत! तुझे धिक्कार है! तू दरिद्री के दारिद्र्य रूप घाव को बढ़ाने वाला है! कारण कि 'हे दैव' ऐसा दीनता प्रदर्शक वचन कहला कर ही रत्नार्थी को तू रत्न देता है!"

वीर पुरुषों का वर्ताव वीरतायुक्त ही होता है। कैसी भी हालत में हों, वे दीन होना नहीं जानते। जो परम पद की प्राप्ति रूप महा साम्राज्य को प्राप्त कर चुका है और अभेद्य ऐसे माया के महान् गढ़ को जीत चुका है, ऐसे ज्ञानी पुरुष के पड़ोस में भी दीनता आने नहीं पाती। ज्ञानी का तीनों लोकों में भी कोई अवलम्बन नहीं रहता फिर उसके पास दीनता आने का क्या काम? इसी कारण कहा है कि दीनता न होना ही महा व्रत है ॥१५॥

ज्ञातुं न शक्यं हि किमस्ति सर्वै-
र्योषिन्मनो यच्चरितं तदीयम् ॥
का दुस्त्यजा सर्वजनैर्दुराशा ।
विद्या विहीनः पशुरस्तिको वा ॥१६॥

अर्थः—प्रश्नः—किसी से भी जाना न जाय, ऐसा क्या है? उत्तरः—स्त्री का मन और उसका चरित्र। प्रश्न—सब मनुष्यों से

कठिनाई से त्यागी जाय, सो क्या है? उत्तरः-दुराशा। प्रश्नः-पशु कौन कहलाता है? उत्तरः-जो विद्या से रहित है।

छप्पय।

ऐसा जग में कौन, नहीं जाना जो जावे।
नारी मन कर्तूति, जानि कोई नहिं पावे॥
वस्तु ऐसी कौन, त्याग मुश्किल है जिसका।
दुष्ट दुराशा एक, त्याग मुश्किल है इसका॥
पशु कहलाता कौन नर, आदर कहीं न पावता।
विद्या भूषण से रहित, पशु सोही कहलावता॥१६॥

विवेचन।

जगत् में अनेक पदार्थ हैं, बहुत से पदार्थों का जानना कठिन है, तो भी उनको जान सकते हैं परंतु सब से विशेष कभी किसी से जाना न जाय, ऐसा पदार्थ क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि ऐसा पदार्थ स्त्री का मन और चरित्र हैं जो किसी के जानने में नहीं आते। केवल मूर्ख मनुष्य ही उनको न जानते हों ऐसा नहीं है किंतु बहुत बुद्धिशाली और विद्वान् तपस्वी लोग भी स्त्री के मन और उसके चरित्र को जानने में असमर्थ होते हैं। ज्ञानी पुरुष माया और उसके तीन गुणों से बने हुए चौदह भुवनों को जानने में समर्थ होते हैं, परन्तु अनर्थ की मूल रूप स्त्री के चरित्र को न जान कर भूल खा जाते हैं। स्त्री माया की प्रत्यक्ष चैतन्य मूर्ति है, जड़ माया तो प्रयत्न से जान भी ली जाती है परंतु चैतन्य माया वाली स्त्री का चरित्र जानना कठिन है। स्त्री का मुख कमल के समान और उसके वचन अमृत के

समान होते हैं परंतु उसका हृदय अस्त्र के धार के समान होता है। स्त्रियों को कोई भी प्रिय नहीं होता किंतु अपना स्वार्थ ही प्रिय होता है और स्वार्थ के निमित्त पिता, पुत्र, पति, मित्र और भाई तक के मार देनेका उनमें साहस होता है। उनमें झूंठ बोलना, ढोंग करना, बिना विचारे कार्य करना, झूंठी माया फैलानी, मूर्खता, अति लोभ, अपवित्रता और निर्दयता इतने स्वाभाविक दोप होते हैं। तुलसी-दास कहते हैं:—

दोहा:—नाक छिदाई छणिक में, रती कनक के काज।
तुलसी त्रिय के वदन में, कहां शरम कहँ लाज॥
पनघट गये से पन घटे, पन घट वाको नाम।
तुलसी कबहुँ न जाइये, पनिहारिन के धाम॥

स्त्री के आचरण से, बोल चाल से, निश्चय से और कसम खाने से भी सच्ची न समझना चाहिये। वे आज तक न किसी की हुई हैं और न होने वाली हैं। वे हमेशा पुरुप और माता पिता आदिक को ठगती हैं, जो उनका भरोसा करते हैं अवश्य हानि उठाते हैं, लाखों करोड़ों में एक पतिव्रता का होना अपवाद रूप है। पुरुप स्त्री को अपनी समझता है परन्तु स्त्री के मन में पुरुप कुछ नहीं है, एक गुलाम है। वह स्वच्छंद वर्तने के स्वभाव वाली होती है, उसमें जो बाधा पड़ती है उसके निमित्त अनेक ढोंग फैलाती है। कुलटा स्त्रियों के चरित्र वारम्वार सुनने में भी आते हैं।

एक कुलीन छत्री को एक स्त्री प्राप्त हुई थी। वह बोलने में चतुर, सबके साथ मेल रखने वाली, मधुर भाषिणी और घर के

काम काज में भी हुशियार थी। ऐसी सुलक्षिणी स्त्री प्राप्त होने से क्षत्री अपने को भाग्यशाली समझता था। स्त्री पति की आज्ञा का यथार्थ रीति से पालन करती थी। पति को उससे कहने का कोई भी अवसर नहीं मिलता था। क्षत्री के घर पर उसका पिता और एक छोटी वहिन थी, स्वसुर और ननद स्त्री से खुश रहते थे। उसे बाहर जाते हुए किसी ने नहीं देखा था। आस पास वाले भी उसे चतुर और सद्‌गुणी समझते थे। उसने हाव भाव से पति को वश में कर रक्खा था। वह उसे पतिव्रता समझता था और देवी के समान मान देता था। स्त्री बाहर से इस प्रकार योग्य वर्ताव रखती थी कि उसकी तरफ से किसी को लेश भी शंका नहीं होती थी। बाहर के सब वर्ताव ऐसे होते हुए भी, जैसी वह बाहर दीखती थी, वास्तविक वैसी न थी। उसकी एक मनुष्य से मित्रता होगई थी और रात्रि के समय अक्सर मिला करती थी परन्तु उसकी मित्रता का और रात्रि में यार से मिलने का गंध भी किसी को न था। उसके मकान से थोड़ी दूर पर ही उसके यार का मकान था। क्षत्री को अफीम खाने का शौक़ था जब स्त्री देखती कि अब अफीम के नशे में पड़ा हुआ है, तब वह पिछले मार्ग से निकल जाती और यारसे मिलकर आकर सो जाती थी। वहुत दिनों तक ऐसा व्यवहार चलता रहा। कभी कभी ऐसा भी प्रसंग हुआ था कि उसके चले जाने के बाद पति जाग पड़ा था किंतु उसे शंका तो थी ही नहीं इसलिये कुछ न पूछता। जब कभी सामान्यता से पूछता भी तो स्त्री उत्तर देतीं थी कि टट्टी को गई थी, अमुक वस्तु ढांके विना रह गई थी, उसे ढांकने दूसरे कमरेमें

गई थी; इत्यादि। इस प्रकार की बनाई बातों से पति का समाधान होजाता था। एक दिन स्त्री रात्रि को यार के पास गई, वहां उसने सुना कि परदेश के तमाशा करने वाले नट आये हैं, तमाशा बहुत उत्तम करते हैं उसकी भी इच्छा हुई कि मैं तमाशा देखूँ। उसने यार से कहा "मुझे तमाशा दिखला लाओ।" यार ने कहा "तमाशा देखना कठिन है, मनुष्य बहुत हैं।" स्त्री ने हठ की, अंत में यार तमाशा देखने ले गया। बहुत मनुष्य होने से स्त्री तमाशा नहीं देख सकती थी। उसने यार से कहा "मुझे कंधे पर बैठा लो, तब ही मैं तमाशा देख सकूँगी।" यार ने उसे कंधे पर बैठा लिया और वह तमाशा देखने लगी। उस तमाशे में उसका स्वसुर भी आया था, उसने उसको एक मनुष्य के कन्धे पर चढ़ी हुई देखा। प्रथम उसे शंका हुई कि मेरी वधू ऐसी निर्लज्ज नहीं है परन्तु जब ठीक रीति से देखा तो निश्चय हुआ कि सचमुच वधू ही है। उसने स्त्री के पास जाकर उसके पैर का झांझन उतार लिया। स्त्री ने देखा परन्तु कुछ न बोली, जीमें विचारने लगी "बुरी हुई ! स्वसुर ने झांझन उतार ली ! खैर ! देखा जायगा !" उसका स्वसुर झांझन लेकर दूसरी तरफ चला गया। स्त्री ने यार से कहा "बस ! अब मैं तमाशा देख चुकी, अब मुझे उतार कर घर ले चलो।" यार उसे वहां से ले आया और वह अपने मकान पर पहुंच कर सोते हुए पति को जगाकर बोली "देखो ! तमाशे की आवाज़ आ रही है, मैंने कभी तमाशा नहीं देखा है मुझे तमाशा दिखा लाओ।" पति ने कहा "स्त्रियों का तमाशा देखना हम कुलीन लोगों का काम नहीं है।" स्त्री बोली "रात्रि का समय है,

दिन में कभी तमाशा नहीं देख सकती, रात्रि में कौन जानने को बैठा है। मुझे तमाशा देखने की बड़ी लालसा लग रही है।" स्त्री की हठ से पति उसे लेकर तमाशा दिखाने ले गया, वहां बहुत भीड़ थी नीचे से तमाशा देख नहीं सकती थी। पति ने उसे कंधे पर चढ़ा लिया। तुरंत ही स्त्री चिल्ला कर कहने लगी "वाह तुम्हारा पिता कैसा निर्लज्ज है, मेरे पैर में से झांझन उतार कर चला गया, वह जा रहा है।" पति बोला "मेरी बात न मानने से फजीता ही हुआ ना। चल! अब तमाशा देख लिया, घर पर चल!" स्त्री घर पर चली आई और निश्चिंतता से सो गई।

सुबह पिता ने पुत्र को बुलाकर कहा "तू अपनी स्त्री की चाल को नहीं जानता। वह ऊपर से सती होने का छल करती है, कल रात्रि की बात की क्या तुझे खबर है? यार के साथ तमाशा देखने गई थी, उसका निशान भी मैंने लेलिया है (झांझन निकाल कर) देख, यह झांझन मैंने उस समय ले लेली थी!" पिता की बात सुन अपनी स्त्री को लांछन लगाने से पुत्र दुःखी होकर नम्रता सहित बोला "पिताजी! आपका उसे लांछन लगाना व्यर्थ है! जैसी तुम उसे समझते हो, वैसी वह नहीं है!" पिता बोला "तब यह झांझन किस की है?" पुत्र बोला "बेशक! झांझन उसी की है, शांत हूजिये! जिस प्रकार बात है मैं कहता हूं। रात्रि को उसने तमाशा देखने की मुझसे प्रार्थना की थी, मैं उसे तमाशा दिखाने ले गया था, दूसरा कोई नहीं था। जिस समय आपने आकर उसके पैर में से झांझन

निकाली थी, तब उसने शरमाकर मुझसे कहा था कि देखो स्वसुरजी मेरे पैर में से झांझन निकाल कर ले गये, आपको भ्रम होगया कि किसी और के साथ थी।" पिता ने उस स्त्री के यार को ठीक रीति से नहीं देखा था इसलिये भूल होने का संभव समझकर उसने पुत्र की बात मान ली। इस प्रकार के चरित्र से स्त्री ने अपने स्वसुर की आंखों में धूल डाल दी और पति की आंखों में पट्टी बंधवाई। ऊपर से निष्कलंक दीखती हुई स्त्री का मन और चरित्र इस प्रकार का है। कहा है कि "नारि सर्पिणी किसे न खाय!"

इस प्रकार स्त्रियों के मन और चरित्र जाने नहीं जाते। स्त्री ही संसार की जड़ है। कुलटा स्त्री तो अत्यन्त ही दुःख देने वाली राक्षसी है। भाग्यवशात् यदि किसी को सद्गुणी स्त्री मिल जाय तो भी उसकी आसक्ति उससे भी विशेष दुःख का कारण है क्योंकि वह वैराग्य होने में रुकावट करती है। संसार की वृद्धि का हेतु स्त्री है इसलिये जिसको अपने आद्य स्वरूप के प्राप्त करने की तीव्र इच्छा हो उसको स्त्री की भावना का समूल त्याग करना चाहिये। अनेक पूर्व के दृष्टांतों से जानने में आता है कि सब कुछ करके सिद्ध हुए महात्मा और राजर्षि भी स्त्री की तरफ सहज दृष्टिपात करने से संसाररूप अन्ध कूप में गिर गये हैं। इसी कारण जिसके मन और चरित्र जाने नहीं जाते ऐसी दुःख रूप स्त्री है। स्त्री के भाव को अन्तःकरण में से समूल जला देना चाहिये। संसार और संसार के सब पदार्थों का त्याग त्याग नहीं है, एक स्त्री के त्याग से ही सबका त्याग होजाता है।

जिसको छोड़ना कठिन है, ऐसी वस्तु कौन है ? उसके उत्तर में कहा है कि दुराशा छोड़ना कठिन है। सहज में न छोड़ी जा सके, ऐसी दुराशा है। स्त्री, पुत्र, धन आदिक जो क्षणिक और नाशवन्त पदार्थ हैं, उनकी आशा का नाम दुराशा है। जिससे दुःख और दुःखों के परम्परा की वृद्धि हो, ऐसी प्रपंच की आशा को दुराशा कहते हैं। जो आत्म तत्त्व से दूर फेंकती है वह दुराशा कही जाती है। सब प्रकार के भोगों की आशा सब मनुष्य से छूटना अशक्य है। जगत् में जितने नाम रूप वाले पदार्थ हैं, उनका छोड़ना कठिन होते हुए भी हो सकता है परन्तु उनकी आशा का त्याग नहीं हो सकता। जब तक मन और इन्द्रियां स्वाधीन न हों तब तक दुराशा के छोड़ने में कोई भी समर्थ नहीं होता। आगे अग्नि जलता हो, पीछे सूर्य का ताप हो, रात्रि में ठंड लगने से श्वान के समान पेट में घोंटुओं को दबा कर सोता हो, हाथ में भिक्षा करता हो यानी भोजन के लिये पात्र न हो, पेड़ के नीचे खड़ा रहता हो, यानी सोने को मकान–झोंपड़ी न हो, ऐसा तपस्वी भी आशा के बन्धन को तोड़ नहीं सकता। जिसने आशा के पीछे छुपके टिकी हुई निराशा को देखा है, जिसने आशा के बदले निराशा का ही ग्रहण किया है, वह ही पूर्ण विद्वान् सब पढ़ा हुआ है। चाहे जितना विद्याभ्यास किया हो, शास्त्रों का श्रवण क्रिया हो, बहुत सुकृत किये हों जब तक आशा का त्याग न किया हो तब तक सब वृथा है। कुबुद्धि वाले आशा को छोड़ नहीं सकते, शरीर जीर्ण होने पर भी आशा जीर्ण नहीं होती। जिसने मोह को उत्पन्न करने वाली

आशा को जीत लिया है, उसको इस जगत् में धन्य है वह ही पुण्य का ठीक ठीक भोग करने वाला है, वह ही क्लेशमय संसार समुद्र से पार जाने के योग्य होता है। आशा परम दुःख और निराशा परम सुख है। कबीर ने कहा है:—

माया मरी न मन मरा, मर मर गये शरीर।
आशा तृष्णा ना मरी, कह गये दास कबीर ॥

महाभारत में एक दृष्टांत इस प्रकार है:—

जहां बहुत दूर दूर तक मनुष्य का निवास न था, ऐसे एक विशाल वन में एक ऋषि रहते थे। वे मूल, फल और पत्तों से अपना निर्वाह करते थे इन्द्रियजित, शांत और स्वाध्याय करने वाले थे और पवित्रता से रहते थे। उनमें सतोगुण की बहुत वृद्धि हो गई थी। ऋषि के सद्भाव से वन में घूमने वाले कई प्राणी उनके पास आकर शांति से शिष्य वर्ग के समान बैठते थे। बघेरे, व्याघ्र, सिंह, हाथी, गेंडे, रीछ भयानक क्रूर प्राणी जो इस वन में रहते थे, वे भी ऋषि के पास आकर बैठे रहते थे। एक दिन एक ग्राम पशु कुत्ता उनके पास आ गया। सब प्राणी चले जाते थे परन्तु कुत्ता वहीं बैठा रहता था, वह भक्ति और प्रीति वाला दीखता था। फल, मूल और जल के सहारे वहीं पड़ा रहता था, शान्त और शिष्ट लक्षण वाला जान पड़ता था। एक समय वह कुत्ता कुछ दूर पर था, वहां से उसने कुछ दूर पर एक रुधिर भक्षण करने वाले बघेरे को देखा। वह उसे देख कर ऋषि के पास घबराता हुआ दौड़ कर आया, ंछ हिलाता हुआ

सहाय मांगता हो, इस प्रकार उनके सामने खड़ा रहा और 'गंभीर वघेरा बन जाऊं' इस प्रकार की इच्छा करता हुआ मालूम हुआ। ऋषि को निर्बल कुत्ते पर दया आई, उन्होंने उसे वघेरा बना दिया; कुत्ता वघेरा बनने से प्रसन्न हुआ। वघेरा अपने ही समान वघेरे को देखकर मांस खाने की इच्छा का त्याग करके भाग गया। कई दिन पश्चात् जब वघेरा (कुत्ता) ऋषि की दृष्टि से बाहर घूम रहा था तब एक क्षुधा से पीड़ित, वन में घूमने वाला, महाक्रूर व्याघ्र रुधिर पीने की इच्छा से मुख फाड़ता हुआ उसके (वघेरे के) पास आने लगा। वह विकाल व्याघ्र को देखकर घबराता हुआ जीवन की रक्षा के अर्थ ऋषि की शरण में आया और व्याघ्र बनने की इच्छा करता हुआ दीखा। ऋषि समझ गये; उन्होंने वघेरे को व्याघ्र बना दिया। वघेरा कुत्ता व्याघ्र के स्वरूप को प्राप्त करके मूल कन्द छोड़कर मांस भक्षक हो गया। वह घूम कर प्राणियों को मार कर मांस भक्षण करता और ऋषिके पास आकर पड़ा रहता। एक दिन वह जंगल में था, वहां एक मदोन्मत्त हाथी, काले मेघ के समान् आता हुआ दिखाई दिया। उसके गंडस्थल से मद झड़ रहा था। वह बहुत ऊंचा, स्थूल काया वाला और बड़े बड़े दांतों वाला था। इसप्रकार के हाथी को देखकर व्याघ्र (कुत्ते) को भय हुआ। वह ऋषि की शरण पहुँचा और दीन मुख से ऐसी सूचना करता दीखा कि मेरा शरीर इस हाथी का सा होजाय तो मुझे उससे भय न रहे। व्याघ्र (कुत्ते) के आशय को ऋषि समझ गये, उन्होंने उसे हाथी बना दिया। वह प्रसन्न होकर तालाबों के कमल

और वन के वृक्षों की पत्तियां खाकर ऋषि के पास रहने लगा। एक दिन जब वह हाथी (कुत्ता) वन में घूम रहा था तब उसने केसर के समान रंग वाला, गिरि गुहा में उत्पन्न हुआ, हाथियों के कुल को निकन्दन करने वाला भयानक ऐसा एक केसरी-सिंह देखा। उसको देखकर हाथी (कुत्ता) भय को प्राप्त होकर झूमता हुआ ऋषि की शरण में आया और 'जो मैं सिंह होजाऊँ तो मुझे सिंह से भय न हो' इस प्रकार की इच्छा वाला हुआ। ऋषि उसके भाव को समझ गये, उन्होंने उसे सिंह बना दिया। मारने को आया हुआ सिंह हाथी को अपनी जाति का सिंह बना हुआ देखकर मांस खाने की इच्छा को त्याग कर चल दिया। बना हुआ सिंह ऋषि के पास रहने लगा। उसने इस तपोवन में घूम कर सब पशुओं को खा डाला। अब ऋषि के पास पशुओं का आना बन्द होगया क्योंकि कुछ पशु तो बने हुए सिंह ने खा डाले और कुछ अपनी जान बचाने को वहां से भाग गये थे। एक दिन जब बना हुआ सिंह वन में घूम रहा था तब उसने बल से सब प्राणियों का नाश करने वाले, बलवान्, रुधिर का आहार करने वाले, सब प्राणियों को भय देने वाले, आठ पैर वाले, ऊँचे नेत्र वाले, वन में घूमने वाले शरभ (इस नाम के एक बड़े प्राणी) को आता हुआ देखा। उसे देखकर सिंह (कुत्ता) घबराता हुआ ऋषि के पास दौड़ता हुआ गया और यह भाव किया कि यदि मैं ऐसा प्राणी होजाऊँ तो मुझे किसी से भय न हो। ऋषि सब कुछ करने को समर्थ थे। वे उसके मनोभाव को जान गये और उन्होंने उसे शरभ बना दिया। आया हुआ शरभ

शरभ को देख कर वन में चला गया, मनोवांछित होने से शरभ बना हुआ कुत्ता आनन्द को प्राप्त हुआ और मांस खाना छोड़ कर रुधिर पीने लगा। जब उसकी क्रूरता से सब पशुओं का नाश हो गया तब क्षुधा से व्याकुल हुए शरभ (कुत्ते) ने ऋषि को मार कर उनके रक्त पीने की इच्छा की। ऋषि तप के प्रभाव से-ज्ञान चक्षु से उसके मन के भाव को जान गये और कहने लगे "हे कुत्ते! मैंने तुझे कुत्ते से बघेरा, बघेरे से व्याघ्र, व्याघ्र से हाथी, हाथी से सिंह और सिंह से तेरी इच्छानुसार शरभ बनाया! स्नेह के कारण से मैंने तुझे इस प्रकार बढ़ाया, अन्त में तू मुझे ही मारने को उद्यत है! धिक्कार है तुझको! तू कुत्ता ही बन जा!" तुरन्त ही शरभ कुत्ता बन गया और ऋषि ने उसे लाठी से मार कर अपने स्थान से भगा दिया। मार्ग में जाते हुए उसको एक दूसरे प्राणी ने मार डाला! आशा का यह फल हुआ!

समग्र भोगों की आशा उस कुत्ते की आशा के समान है इसलिये भोगों की आशा दुराशा है। जब आशा पूर्ण नहीं होती तब दुःख होता है और पूर्ण होने से विशेष आशा होती है जो अन्त में मृत्यु को ही प्राप्त कराती है। जो जगत् के भोगों की आशा करने वाले हैं, वे कुत्ते ही हैं और कुत्ते के समान ही उनका हाल होता है। इस प्रकार की दुष्ट आशा सहज में नहीं जा सकती इसलिये मुमुक्षु को प्रयत्न करके उसे अवश्य त्याग देना चाहिये।

सामान्यता से तो चार पैर वाला पशु कहा जाता है परन्तु [illegible]क नहीं है क्योंकि पशुओं के जब चार पैर होते हैं तब दो

हाथ नहीं होते। मनुष्यों के दो हाथ और दो पैर मिलकर चार ही हैं। वन्दर के दो हाथ और दो पैर होते हैं तो भी वह पशु ही कहा जाता है इसलिये जिसमें विवेका बुद्धि नहीं है, वह ही ठीक ठीक पशु है। बुद्धि की विशेषता से मनुष्य और बुद्धि की न्यूनता से पशु ऐसा अर्थ करना ही ठीक है। प्रश्न यह है कि पशु कौन है? उसका उत्तर यह है कि विद्या रहित पशु है; बुद्धि की निर्मलता में विद्या की स्थिति है। बुद्धि दो प्रकार की है:—एक व्यवहारिक और दूसरी पारमार्थिक जो सूक्ष्म और परमार्थ तत्त्व के जानने योग्य होती है। व्यवहारिक बुद्धि वाला पशुपने से निवृत्त नहीं होता। परा और अपरा दोनों प्रकार की विद्या सूक्ष्म बुद्धि से समझ में आती हैं। उनमें से एक परा विद्या ही कल्याण करने वाली है, जो इस विद्या से रहित है, वह पशु है। पशुओं को आहार, भय, निद्रा और मैथुन का ही बोध होता है। जिस मनुष्य को इतना ही बोध है, वह भी पशु ही है। शास्त्र ज्ञान और अनुभव ज्ञान रहित जीवन शोभा नहीं देता। आत्म ज्ञान—विद्या विना मनुष्य को पूंछ रहित पशु ही समझना चाहिये। कुत्ता अपनी पूंछ से अपने गुप्त भाग को ढांक नहीं सकता और मच्छर आदिक को भी उड़ा नहीं सकता। जिस प्रकार कुत्ते की पूंछ व्यर्थ है इसी प्रकार विद्या रहित जीवन व्यर्थ है। यदि मनुष्य रूप, यौवन, धन, कुल आदिक से सम्पन्न हो तो भी विद्या रहित अपना कल्याण नहीं कर सकता। जिस प्रकार वन के पशु वन में रह कर अपना

जीवन व्यतीत करते हैं इसी प्रकार विद्या रहित तपस्वी जंगल में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ग्राम्य पशु जिस प्रकार रस्सी से बांधे जाते हैं, मालिक का बोझा ढोते हैं और उसकी परतंत्रता में रहते हैं इसी प्रकार विद्या रहित मनुष्य पांच प्रकार के विषय रूपी रस्सी से बँधा हुआ, घर कुटुम्बादिक में फँसा हुआ, अपनी ही कामना से परतंत्र हुआ काम रूप मालिक का बोझा ढोता है। जैसे ग्राम्य पशु को स्वतन्त्रता नहीं है ऐसे ही उसको भी स्वतंत्रता नहीं है। जैसे एक निर्बल पशु दूसरे बलिष्ट पशु से भय को प्राप्त होता है इसी प्रकार विद्याहीन मनुष्य भी अपने से बलिष्ट को देख कर भय को प्राप्त होता है। अंतर इतना ही है कि पशु का बंधन दीखता है और अज्ञानियों को अपना भारी बंधन भी नहीं दीखता। जब पशु से इनसें कोई विशेष धर्म ही नहीं है तो इन्हें पशु ही कहना चाहिये। आत्मबोध-विद्या रहित मनुष्य पशुओं से भी महा पशु है क्योंकि पशुओं का शरीर पूर्व के कर्मों का भोग रूप है उनसे भोग ही होता है, वे अपने भोग समाप्त करके पूर्व संस्कार के अनुसार मनुष्य शरीर धारण करने वाले हैं और मनुष्य रूप पशु तो यथार्थ कर्तव्य न करने से पशु का ही कर्म करने से मनुष्य शरीर के बाद पशु योनि में जन्म लेने वाले हैं इसलिये महा पशु हैं। जब तक अज्ञान है तब तक प्रत्येक मनुष्य देवताओं का भी पशु है। जैसें मनुष्य घोड़े, बैल, गधे आदिक पर बोझा लाद कर अपना काम लेता है और बदले में घास फूंस खाने को देता है इसी प्रकार मनुष्य रूप पशुओं पर देवता अपना बोझ लादते हैं और बदले में तुच्छ पैसा खुराक मात्र देते

हैं। जब अज्ञान निवृत्त होकर ज्ञान होता है-विद्या होती है तब मनुष्य देवताओं के बंधन से मुक्त होता है; उसे ही वास्तविक मनुष्य कहना चाहिये। सब इन्द्रियों पर देवता विराजमान हैं, उन पर उनका अधिकार है, उनकी तृप्ति के निमित्त संसार की परतंत्रता सहना इन्द्रियों के देवताओं का दास बनना है, आयुष्य भर बोझा ढोते रहना यही पशुपना है। जब इन्द्रियां मनुष्य के स्वाधीन होती हैं तब वह देवताओं के बन्धन से निवृत्त होता है, स्वतंत्र होता है। ऐसी निरालम्ब स्वतन्त्र स्थिति आत्म बोध-विद्या विना नहीं होती। जब तक बोध प्राप्त न हो तब तक सब मनुष्य विद्या रहित होने से पशु ही हैं। जब मनुष्य यत्न करता है तब पशुपने से निकल कर मनुष्यत्व को प्राप्त होता है। जब मनुष्यत्व में सद्बोध से आत्म भाव को प्राप्त होता है तब सब प्रकार के दुःखों का अत्यन्त नाश होता है और स्वस्वरूप की प्राप्ति होती है।

जिन जिन पदार्थों का हम भोग करते हैं उनको कौन भोगता है? भोग से तृप्ति होती है या अतृप्ति? भोग का महत्व जितना समझा है उतना ही है या न्यून है? हम कौन हैं? भोग क्या है? इत्यादिक का जब पूर्ण विचार होता है और राग द्वेषादिक द्वन्द्वों की निवृत्ति होती है तब ही विद्या की प्राप्ति समझी जाती है। ऐसी विद्या रहित दो पैर के पूंछ रहित अनेक प्रकार के काम के रस्सों के बन्धन में पड़े हुए पशु हैं ॥१६॥

वासो न संगः सह कैर्विधेयो,
मूर्खैश्च नीचैश्च खलैश्च पापैः ।
मुमुक्षुणा किं त्वरितं विधेयम्,
सत्संगतिर्निर्ममतेश भक्तिः ॥१७॥

अर्थः—प्रश्नः-वास और संग किनके साथ न करना चाहिये? उत्तरः-मूर्ख, नीच, खल और पापियों के साथ वास और संग न करना चाहिये। प्रश्नः-मुमुक्षुओं को शीघ्र करने योग्य क्या है? उत्तरः-सत्संगति, ममता रहितपना और ईश्वर की भक्ति।

छप्पय।

किनके साथ निवास तथा, संगति नहिं कीजै।
मूर्ख पास मत बैठ, पाप में चित्त न दीजै॥
करो न खल से प्रीति, नित्य ही दुःख उपजावे।
नीच संग है त्याज्य, शोक भय मोह बढ़ावे॥
इच्छा जिसको मोक्ष की, क्या उसका कर्त्तव्य है।
सत्संगति ममता रहित, ईश्वर भक्ति अनन्य है॥१७॥

विवेचन।

किसके साथ निवास और किसकी संगति न करना चाहिये? इसके उत्तर में कहा है कि मूर्ख, नीच, पापी और खलों के साथ रहना उचित नहीं है और उनकी संगति भी न करना चाहिये

क्योंकि उन लोगों से अपना अहित ही होता है। ये चारों दोष की मूर्तियां हैं। मूर्ख समय, असमय और युक्तायुक्त को नहीं समझ सकता, पापी पाप के कर्म करने में रुचि वाला होता है ईश्वर भक्त नहीं होता, शास्त्राज्ञा को नहीं मानता, भक्त और सदाचरण करने वालों की निन्दा करने वाला होता है, खल पुरुष ठग विद्या की मूर्ति होता है, किसी प्रकार दूसरे को ठगना, अपना स्वार्थ सिद्ध करना, ऊपर से मीठे वचन बोलना, अवसर मिले तो मार कर अथवा हानि करके अपने स्वार्थ की सिद्धि करना, झूंठ बोलना, मिथ्याचरण करना, पाप कर्म से न डरना, दूसरों से द्वेष करना; इत्यादि अवगुणों से युक्त होता है और "द्वेष विना जगत् का व्यवहार ही नहीं चल सकता, अपने स्वाथ के निमित्त छल करना बुरा नहा है" ऐसा उसका निश्चय होता है। दूसरों के सूक्ष्म छिद्रों को देख कर निन्दा करने वाला होता है और अपना महान् दोष उसे नहीं दीखता! वह मूर्ख नहीं होता चपल और चतुर होता है परन्तु अपने इन गुणों का दुरुपयोग करता है। नीच भी उसी के समान होता है, खल से भी उसकी मलिनता विशेष होती है। जो अपने स्वार्थ के निमित्त नीच कर्म करने में भी नहीं चूकता, वह नीच है। ये तीनों प्रकार के पुरुष शिश्न और उदर की तृप्ति में ही आयुष व्यतीत करने वाले होते हैं। ऐसा का संग मुमुक्षुओं को कभी न करना चाहिये। उनके साथ रहने और उनका संग करने से धर्म, आचार और बुद्धि का नाश होता है, सिद्धि प्राप्त नहीं होती यानी अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। नीच के संग से बुद्धि नीच होती है, मध्य

के संग से मध्यम और उच्च के संग से उच्च—उत्तम होती है। जंगली मनुष्यों के साथ भयंकर जंगल, पर्वत और कंदराओं में घूमना अच्छा है परन्तु स्वर्ग में जहां सब प्रकार का ऐश्वर्य है, वहां भी मूर्ख का संग अच्छा नहीं है। जो शास्त्र को जानता हो, किन्तु ठीक आचरण न करता हो, उसे भी पढ़ा हुआ मूर्ख कहना चाहिये। जो गुरुपद धारण करके बैठा हो, स्वार्थ के हेतु शिष्य को झूंठे मार्ग में ले जाता हो, सच्चे मार्ग से हटाने वाला हो, दूसरे के उद्धार का ठेका लेकर उसका उद्धार न करता हो वह महा पापी ही है। जो महन्तपने का आडम्बर रच कर बैठा हो, अन्तःकरण में द्रव्य संपादन करने की वृत्ति हो, दूसरे की हानि हो तो भले हो, अपने को तो इनसे जितना हो सके उतना धन निकाल लेना चाहिये, ऐसी इच्छा से झूंठा साधु बनकर बैठा हो, गृहस्थियों से द्रव्य का संग्रह करता हो वह खल है। जो ज्ञानी न होकर अपने को ज्ञानी मानता हो, अधर्माचरण से डरता न हो वह नीच है। "सब मनुष्य एक हैं, पाप पुण्य कुछ है नहीं, मनमाना वर्ताव करना, ज्ञानी निशंक है, जब सब झूंठ ही है तब सूखे चने क्यों चबाना, अच्छे अच्छे विषय भोग क्यों न करना" ऐसे विचार वाला ज्ञानबद्ध—वाचक ज्ञानी अत्यन्त नीच है। नीच आदि के संग से उनके विचारों के सूक्ष्म परमाणु श्वास द्वारा संगी को प्राप्त होते हैं और न देखने में आवें इस प्रकार बुद्धि में प्रवेश करके उसे भ्रष्ट करते हैं इसलिये ऐसे पुरुषों से सद्‌गुणी और मुमुक्षुओं को अवश्य दूर रहना चाहिये। चाहे ऐसों से बहुत सा लाभ होने की संभावना हो तो भी अपने हित

की इच्छा वाले को उनका त्याग करना ही उचित है। 'नादान की दोस्ती, जी का जंजाल' 'नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा।' यह प्रचलित कहावत भी है।

एक समय चार ब्राह्मण एक स्थान को जा रहे थे। चलते २ मार्ग में एक स्थान पर उन्होंने मुकाम किया, शहर में से रसोई की सब सामग्री लाकर एक पेड़ की छाया में भोजन बनाया। उनमें से दो ब्राह्मण विशेष कर्मकाण्डी थे। वे अपने पूजन पाठ की खट पट में लगे रहे। एक ब्राह्मण ब्राह्मणों की गिनती में नाम लिखवाने वाली सन्ध्या करके रसोई के कार्य में लग गया, वह भोजनों का प्रेमी होने से रसोई बनाने में चतुर था; उसने घण्टे भर में ही बहुत फुरती से उत्तम उत्तम पदार्थ बना डाले। रसोई तैयार हो गई। दोनों कर्मकाण्डी भी जल्दी से अपने नित्य कर्म से निवृत्त होकर आ गये। चौथा ब्राह्मण बुद्धि का मन्द था, रसोई बनाने वाले ने लकड़ी उत्तेजित करने का काम उससे लिया। थोड़ी दूर पर एक प्रसिद्ध महादेव का स्थान था। तीन ब्राह्मणों ने विचार किया कि भोजन के प्रथम जाकर महादेवजी के दर्शन कर आना चाहिये, आधे घण्टे में लौटकर आ सकते हैं। मन्द बुद्धि वाले को रसोई के पास बैठा रखने का निश्चय किया गया। रसोई बनाने वाले ने उससे कहा "देख! हम तीनों दर्शन करने जाते हैं, बहुत जल्दी लौट आवेंगे, तू यहां ही बैठा रहियो। कोई कौवा रसोई में न घुसे और उसे भ्रष्ट न कर दे, देखता रहियो। इसमें कुछ विशेष बुद्धि का काम नहीं है, हम लोग आकर भोजन करेंगे।" मन्द बुद्धि वाला बोला "अच्छा! जाओ,

तुम दर्शन कर आओ, मैं बैठा हूँ। एक भी कौवे को आने न दूंगा।" ऐसे वचन सुनकर तीनों दर्शन करने चले गये। मन्द बुद्धि वाला किसी विचार में लग रहा था, इतने में चार कौवे आ पहुँचे। जब मन्द बुद्धि वाला अपनी विचार सृष्टि से हटा तब वह कौवों को उड़ाने लगा। दो कौवे तो उड़ गये और दो पास के एक पेड़ पर जा बैठे। दोनों कौवे नीचे आने का यत्न करें परन्तु मन्द बुद्धि वाला उन्हें आने न दे। इतने में कुछ और कौवे आ गये और आस पास से दो तीन कुत्ते भी दौड़ आये; मन्द बुद्धि वाला कौवों को मारता और उनकी तरफ कंकर फेंकता रहा। किसी कौवे को भी स्वाद लेने की घात न लगी। कुत्ते प्रथम तो डरे, फिर एक कुत्ता हिम्मत बांध कर बनी हुई रोटियों को लेकर भागा। मन्द बुद्धि वाला विचारने लगा "मुझसे कौवे उड़ाने को ही कहा है, कुत्तों के लिये कुछ नहीं कहा, मैं कुत्तों को क्यों भगाऊं!" ऐसा विचार कर वह कुत्तों से कुछ न बोला। कुत्ते निर्भय होकर सब भोजन को चट कर गये। न खाई जाय ऐसी तरकारी आदिक को भ्रष्ट कर गये, मन्द बुद्धि वाला कौवों को ही उड़ाता रहा। इतने में दर्शन करने वाले लौट कर आ गये। रसोई का नाश हुआ देखकर तीनों मन्द बुद्धि वाले पर क्रोधित हुए। रसोई बनाने वाले ने कहा "हे मूर्ख! तूने सब भोजन का नाश करा दिया, तुझसे कहा था कि यहां ही बैठा रहियो।" मन्द बुद्धि वाला कहने लगा "यहीं तो बैठा हूँ! मैं यहां से कहीं नहीं गया। मैंने एक भी कौवे को आने नहीं दिया। कुत्ते खा गये तो मैं क्या करूं? तुमने कुत्तों के न आने देने को नहीं कहा था।" यह सुनकर सब चुप हो

गये। एक ने कहा "सच है! मूर्ख संग नहिं देय विधाता।" यहां मन्द बुद्धि मूर्ख ने केवल एक समय के भोजन का ही नाश किया था परन्तु मूर्ख भारी से भारी हानि कर बैठते हैं।

पापी अनेक प्रकार के हैं; उनके पापाचरण का वर्णन करना कठिन है उनके वर्णन करने को कोई भी समर्थ नहीं है।

एक समय दुर्गाशंकर नाम का एक ब्राह्मण को अपनी बहिन धनी को सुसराल से ले आने को भेजा गया। वह धनी को लेकर आ रहा था। बीच में एक रेलवे स्टेशन पड़ता था, वहां गाड़ी का ठीक मिलान नहीं होता था इसलिये एक रात्रि वहां रहना पड़ता था। दुर्गाशंकर की जान पहिचान वाली एक बुढ़िया वहां रहती थी; दोनों उसके यहां पहुँचे और खा पी के निश्चिन्त हुए। बुढ़िया की भतीजी बीमार हो गई थी, उसे उसके यहां जाना पड़ा। दुर्गाशंकर, उसकी बहिन धनी और छः मास का उसका लड़का तीनों उसके मकान में रह गये। लड़के को झूलने में सुला कर धनी एक कमरे में सोई और दूसरे कमरे में दुर्गाशंकर सोया। धनी थोड़ी देर में नींद में पड़ गई। आधी रात को उसके ऊपर बलात्कार हुआ और कहा गया कि यदि तू चिल्लावेगी तो तुझे और तेरे पुत्र को मार डाला जायगा। उस समय दीपक गुल था, धनी आवाज से पहिचान न सकी, पीछे से मालूम हुआ कि बलात्कार करने वाला कोई दूसरा न था परन्तु वह उसका भाई दुर्गाशंकर ही था। धनी ने बहुत सी गालियां दीं, बहुत तिरस्कार किया और डरती हुई दुर्गाशंकर के साथ ही अपने घर पहुँच कर अपनी

इज्जत की भी परवाह न करके सब वर्ताव अपने पिता से कह दिया और बच्चे की भी परवाह न करके अन्न पान त्याग कर प्राण त्याग रूप प्रायश्चित्त किया। पापी मनुष्यों का कृत्य अत्यन्त अधम होता है। उनके दुष्ट कर्मों का विवेचन करके समझाना अयुक्त दीखता है इसलिये पापियों का संग कभी न करे।

खल पुरुष भी पापियों के भाई बंधु होते हैं। वे अपनी विद्या का स्वार्थ सिद्धि में उपयोग करते हैं। दूसरे की चाहे जितनी हानि हो अपने किंचित् भले के लिये प्रपंच फैला देते हैं।

एक साहूकार मिजाज का तेज था। उसके पास कोई नौकर टिककर नहीं रहता था। थोड़े थोड़े दिन रह कर नौकर भाग जाने से वह दुःखी था इसलिये जितनी तनख्वाह अब तक देता रहा था उससे दूनी देने को तैयार था। ख्याली नाम का एक नौकर उसके पास पहुंचा, उसने बीस रुपये तनख्वाह के मांगे। साहूकार ने कहा "मैं बीस रुपये दूंगा परन्तु तू नौकरी छोड़ कर जा नहीं सकता, यदि मेरी इच्छा रहित तू नौकरी छोड़ देगा तो मैं तेरी नाक काट लूंगा!" ख्याली बोला "यदि आप मेरी इच्छा रहित मुझे निकालोगे तो मैं भी पूरी तनख्वाह सहित आपकी नाक काट लूंगा!" साहूकार ने यह बात मान ली। पक्का दस्तावेज किया गया, दोनों तरफ से सही और गवाहियां हो गईं। रजिस्टरी भी करा दी गई। थोड़े दिन बाद ख्याली को मालूम हुआ कि यहां नौकरी करना कठिन है, मैं नौकरी छोड़ नहीं सकता, कुछ दिन काम करना ही पड़ेगा। अब तक वह ठीक

ठीक काम करता रहा था. अब उसने नौकरी करने में अपनी अकल विद्या का उपयोग करना आरम्भ किया। अब वह शब्दार्थ पकड़ने लगा और लक्ष्यार्थ के भाव को छोड़ने लगा! एक दिन साहूकार ने कहा "ख्याली! गैया को पानी डाल दे!" यह कह कर साहूकार किसी काम को बाहर चला गया। ख्याली ने गैया को बाहर निकाल कर उसका मुख और चारों पैर बांध दिये, हिल न सके, ऐसी मजबूत बांध कर वह उस पर पानी का घड़ा डालने लगा! साहूकार बाहर से आ गया और गैया की ऐसी दुर्दशा देख कर उसने जल्दी से रस्सा खोल कर कहा "हराम-खोर! इस प्रकार वर्तने से तेरी क्या इच्छा है?" ख्याली बोला "ऐसा पूछने का क्या कारण है? तुम्हारी आज्ञा के अनुसार मैं गैया पर पानी डाल रहा था। गैया सीधी खड़ी नहीं रहती थी इसलिये चारों पैर बांध दिये थे, मैंने क्या बुरा किया?" साहूकार बोला "हराम जादे! क्या तू मेरा इस लोक और परलोक दोनों का सत्यानाश करेगा? यदि मेरे आने में विलम्ब हुआ होता तो गोहत्या होजाती।" पश्चात् साहूकार ने नौकर को बहुत सी गालियां देकर ही सन्तोष कर लिया क्योंकि वह उसे निकाल नहीं सकता था। कुछ दिन तक ठीक ठीक काम चला। एक दिन साहूकार ने कहा "ख्याली! मैं बाहर जाता हूं, तू बगीचे को साफ कर रखियो।" यह कह कर साहूकार बाहर चला गया। उसके जाते ही ख्याली ने हाथ में कुल्हाड़ी लेकर बगीचे के पेड़ों को एक तरफ से काटना आरम्भ किया और थोड़ी देर में बगीचे को काट कर लकड़ी पत्तों का ढेर लगा दिया। सेठ बाहर से

आकर नौकर से पूछने लगा "क्यों! क्या वगीचा साफ़ कर दिया?" ख्याली वोला "जी हां! वगीचा साफ हो गया है, अब कूड़ा फेंक देने का ही काम वाकी है।" साहूकार देखने गया तो उत्तम उत्तम वर्षों के पेड़ों का नाश किया हुआ देखकर वहुत क्रोधित हुआ और नौकर को वुला कर वोला "दुष्ट, नमकहराम! सव पेड़ काटने को तुझसे किसने कहा था?" ख्याली वोला "सरकार! आपने ही तो सव वगीचा ठीक ठीक साफ कर देने को हुक्म दिया था। सव पेड़ काटे विना वगीचा कैसे साफ़ होता?" साहूकार वोला "मैं समझता हूं कि तू मेरा नाश करने को ही रहा है। जा जितने वड़े वड़े लकड़े तूने काटे हैं उन सव को घर में लेजा।" ख्याली सव लकड़ों को घर में पहुंचाने लगा। सव ता पहुंच गये, एक भारी लकड़ा रह गया उसे लेकर घर पहुंचा, वहां साहूकार की मां खड़ी हुई थी। ख्याली ने कहा "मांजी! इसे कहां डालूं?" डोकरी ने कहा "जहां और रक्खे हैं वहीं रख दे।" ख्याली वोला "वहां अब जगह नहीं है।" डोकरी वोली "किसी और जगह रख दे।" ख्याली इधर उधर देख कर आकर वोला "मांजी! और जगह भी खाली नहीं है।" डोकरी का मिजाज बिगड़ गया, क्रोधित होकर वह कहने लगी "कहीं जगह नहीं है तो मेरे सिर पर पटक दे।" ख्याली इतना ही चाहता था, उसने भारी लकड़ा जोर से डोकरी के शिर पर पटक दिया, डोकरी गिर पड़ी और शिर कुचलने से मर गई। साहूकार ने आकर ख्याली से पूछा "सव लकड़े डाल दिये?" ख्याली वोला "जी सरकार!" साहूकार ने कहा "मांजी कहां है?"

ख्याली बोला "लकड़े के नीचे आराम से सो रही हैं।" साहूकार बोला "हैं! क्या कहता है? लकड़े के नीचे क्यों सो रही हैं?" ख्याली ने सब वृत्तान्त सुनाया। साहूकार ने दौड़ कर लकड़े के नीचे से अपनी मां को निकाल कर देखा तो उसका राम रम गया था। साहूकार क्रोधित होकर बोला 'ख्याली! बस अब मैं तेरी नौकरी से थक गया हूं, मुझे तेरी नौकरी नहीं चाहिये।" ख्याली बोला "आपको अपने कहे अनुसार नाक कटवानी होगी?" साहूकार बोला "तुझ जैसे दुष्ट से मेरा पीछा तो छूट जायगा, नाक भले ही जाय।" यह कह कर साहूकार ने ख्याली को सब तनख्वाह चुका दी और साथ में अपनी नाक की नोंक भी काट कर दे दी।

जो अत्यन्त पापिष्ट-पापमय है वह नीच है। जो विचार रहित कामी है और स्वार्थ की साधना में शास्त्र विधि की परवाह नहीं करता वह नीच है। जो मूर्ख है, अथवा अपढ़ है वह बिना समझे पापाचरण करता है परन्तु जो पढ़े हुए हैं वे दुराग्रही बन कर दूसरे का कथन नहीं सुनते अर्थात् जैसे वे जानते हैं वैसा वर्ताव नहीं करते वे महानीच हैं। दूसरों को संसार रूपी अंध-कूप में ढकेलने वाले महानीच हैं। जो कोई सुमार्ग में चल रहा हो, उसका शुभ मार्ग छुड़ा कर अपने स्वार्थ के लिये अपने अधिकार में लेने वाले नीच हैं। इन सब बातों का त्यागने वाला ही उनसे होने वाले कष्ट से बच सकता है। लोग भंगी को नीच कहते हैं, भंगी में जो नीचता है वह उसके बाहर के आचरण और कार्य की है परन्तु जिसमें आंतर नीचता है वह महाभंगी

है। भंगी को किसी कारण छू लिया जाय तो स्नानादिक से शुद्ध हो सकते हैं परन्तु नीच की संगति से शुद्ध करने में कठिन से कठिन प्रायश्चित्त भी समर्थ नहीं होता। कहा भी है:—

दुष्ट संग नहिं देय विधाता। तासों भलो नरक को वासा॥

मुमुक्षुओं को न करने योग्य पूछ कर यह प्रश्न किया है कि करने योग्य क्या है। उसके उत्तर में कहा है कि सत्संग, ममता रहितपना और ईश्वर की भक्ति करने योग्य है। उसका विवेचन प्रथम हो चुका है तो भी संक्षेप से कहते हैं कि जो कल्याण का साधन करने में प्रवृत्ति कराने वाला हो, जो व्यवहारिक प्रपंच और सांसारिक दुःखों से मुक्त कराने वाला हो और जो परम शांति स्वरूप आत्मतत्त्व की प्राप्ति कराने वाला हो ऐसे सत्पुरुष के संग को सत्संग कहते हैं। सत्पुरुषों के संग से सत् का संग और दोषों की निवृत्ति होती है, बुद्धि निर्मल होती है, आत्मज्ञान की रुचि बढ़ने लगती है, विवेक होने लगता है, मायिक पदार्थों की तुच्छता प्रतीत होने लगती है, सतोगुण की वृद्धि होती है, श्रद्धा और निश्चय की दृढ़ता होती है। यदि कोई संत उपदेश करता न हो तो भी उसके पास जाने से फल ही होता है। संत की सामान्य वार्ता भी तत्त्व और उपदेश से पूर्ण होती है। उसके सान्निध्य में विचार शक्ति और एकाग्रता बढ़ती है। सत्य पुरुष सार रहित दोषोत्पादक वार्ता करते अथवा सुनते ही नहीं हैं। जिस देश में तत्त्व को जानने वाला, शान्ति रूप फल से पूर्ण शीतल छाया वाले वृक्ष के समान सज्जन न हो, वहां कभी

भी निवास न करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि चाहे शीतल छाया वाले हजारों वृक्ष हों, बहुत लाभ दीखता हो, प्रतिष्ठित मंडल भी हो परन्तु जहां कोई शुभ फल दाता सज्जन न हो तो वहां कभी भी कल्याण नहीं हो सकता इसलिये जहां सज्जन हो वहीं निवास करना चाहिये, उसका ही संग करना चाहिये।

ममता बंधन का हेतु है, ममता से मैं भाव दृढ़ होता है इसलिये अहं मम यानी मैं और मेरे भाव को प्रयत्न करके दूर करना चाहिये। चाहे जितना पढ़ा हो, ज्ञान की बातें करने में कुशल हो और लोगों में पूज्य भी हुआ हो परन्तु जिसने ममता का त्याग नहीं किया है वह दाम्भिक ही है। मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार मुख से कहने वाला और अंतर में सांसारिक सुख की इच्छा वाला ज्ञान और कर्म दोनों मार्गों से भ्रष्ट होकर अन्त में यम यातना को ही भोगता है। ममता को छोड़ने वाला ही मुमुक्षु और ज्ञानी हो सकता है। जहां तक ममता है, वहां तक समता नहीं हो सकती। जहां तक ममता है वहां तक भ्रमता है। जहां तक ममता है वहां तक आत्म की प्रियता नहीं। ममता रहित को परम सिद्धि प्राप्त होती है। ममता सहित आत्म तत्त्व के निमित्त किया हुआ सब प्रयत्न व्यर्थ जाता है। ममता से पाप पुण्य की गठरी बँधती है, ममता को छोड़े बिना कोई हलका नहीं होता। ममता छूटना बहुत कठिन है परन्तु बारम्बार सत्संग और वैराग्य करने से छूट जाती है। आत्म श्रद्धा ममता छुड़ाने में सहायक है। जिसने ममता छोड़ दी उसने सब कुछ छोड़ दिया! जिसने सब कुछ छोड़ दिया है किन्तु एक ममता न छोड़ी उसने कुछ भी नहीं

छोड़ा, सब कुछ रक्खा है। सब कुछ उत्पन्न करने वाली ममता बनी हुई है तो छोड़े हुए को फिर से बटोर लेगी। ममता का छोड़ने वाला दुर्लभ है, वह ही परमपद को प्राप्त करता है।

एक समय नारद और भगवान् आकाश मार्ग से जगत् के मनुष्यों का निरीक्षण करते हुए विचर रहे थे। ये दोनों अदृश्य विमान में बैठे हुए संसारी मनुष्यों की विचित्रता की बात चीत करते जाते थे। वे सबको देख सकते थे, भूमि वाले मनुष्य उन्हें नहीं देख सकते थे और उनकी बातों को भी सुन नहीं सकते थे। दोनों एक किसान के पास पहुँचे। किसान सीधा सादा छल छिद्र रहित कुटुम्ब वाला था और खेती करके अपना निर्वाह किया करता था। उसके पांच पुत्र और पांचों पुत्रों की स्त्रियां थीं। उसकी भी स्त्री थी, सब खेत का काम किया करते थे। पुत्र बड़े बड़े हो गये थे, उनके भी पुत्र हो गये थे, वे भी छोटा मोटा काम कर सकते थे। इस प्रकार सीधे मनुष्य को देख कर भगवान् ने कहा "नारद! यह कृषक बहुत सीधा है, उसके आचरण भी अच्छे हैं!" नारद बोले "आप उसकी प्रशंसा करते हैं, तो आप उसे स्वर्ग में क्यों नहीं ले जाते? उसके बाल बच्चे हैं, खेती बाड़ी है, सब काम करने योग्य हैं, अब वह बूढ़ा भी हो गया है। जिसके पास धन नहीं होता वह तो आशा में फँसा रहता है, इसके पीछे तो सब कुछ है, आप कृपा करके इसे स्वर्ग में भेज दीजिये!" भगवान् बोले "हे नारद! जगत् का जाल बहुत विचित्र है। जिसके पीछे धाम, धरा और मनुष्यों को सँभालने वाला कोई नहीं होता वह जगत् को छोड़ना नहीं

चाहता इसी प्रकार जिसके पीछे करने कराने वाले सब होते हैं वह भी जगत् को छोड़ना नहीं चाहता !" नारद बोले "आपके कहने के समान ममता वाले भी होंगे परन्तु जब यह कृपक सीधा है और आप प्रशंसा करते हैं तो यह ऐसा न होगा !" भगवान् बोले "वह भी स्वर्ग में जाने वाला नहीं है ! तेरी इच्छा हो तो देख ले, मैं उसे दर्शन देता हूँ !" ऐसा कहते ही विमान नीचे उतरने लगा। कृपक पेड़ के नीचे खाट पर बैठा हुआ हुक्का पी रहा था। विमान को नीचे आता हुआ और उसमें दो दिव्य पुरुप बैठे हुए देख कर कृषक कुछ घबरा गया। भगवान् ने कहा "हे कृपक ! घबरा मत ! मैं भगवान् हूं, तेरे हित के निमित्त आया हूं !" कृषक भगवान् का नाम सुन कर शान्त हुआ और प्रणाम करने लगा। भगवान् और नारद विमान पर से नीचे उतरे। विमान अधर रह गया। कृपक ने दोनों को खाट पर बैठाया और आप हाथ जोड़ कर सामने खड़ा हो गया। भगवान् ने कहा "हे कृपक ! तू बहुत सीधा है, मैं तुझे तेरी इच्छानुसार स्वर्ग में ले जाने को आया हूं, अब तू बूढ़ा हो गया है, मेरे साथ स्वर्ग में चल !" कृषक बोला "हे भगवान्जी ! मैं इन सब घर वालों, ढोर ढंगर और खेत विना स्वर्ग में जाकर क्या करूँगा ? जो आपकी इच्छा मुझे ले जाने की हो तो मेरी सब वस्तुओं सहित मुझे स्वर्ग में ले चलिये, सबको साथ लेकर मैं वहां चल सकता हूं !" भगवान् ने कहा "स्वर्ग में अत्यन्त सुख है, वहां तू अकेला ही जा सकता है, चल !" कृषक बोला "महाराज ! मैं

अकेला नहीं जाऊँगा !" नारद ने कहा "हे भगवन्! उसके कुटुम्ब को भी ले चलिये !" भगवान् बोले "हे कृपक ! अच्छा ! तब तू अपनी स्त्री सहित चल सकता है !" कृपक बोला "और मेरे पुत्र !" भगवान् बोले "तेरे पुत्र खेत का काम करने को यहां ही रहेंगे !" कृपक बोला "नहीं ! महाराज ! नहीं ! पुत्रों के विना मैं नहीं जाऊँगा" नारद बोले "अच्छा तेरे पुत्रों को भी साथ ले चलेंगे !" कृपक बोला "सुनो महाराज ! इतनी वस्तुओं विना मैं नहीं चल सकता:—मैं, मेरी स्त्री, मेरे पांच पुत्र, पांच उनकी स्त्रियां, उनके सब लड़के, हमारा घर, हमारा खेत, दो जोड़ी बैल और चार भैंसे !" भगवान् हँसते हुए बोले "अच्छा ! इन सबको भी ले चल !" कृपक कुछ विचार कर बोला "महाराज ! मैं भूल गया, कुछ और वस्तुएं भी साथ ले चलने को हैं, सुनिये:—यह मेरा गाम, मेरे सब सगे सम्बन्धी, मेरे सब मित्र और मेरे जान पहिचान वाले इन सबको आप ले चलें तो मैं आपके साथ चल सकता हूँ और मैं अपना प्यारा कुत्ता तो गिनना भूल ही गया, उसके विना तो मेरे खेत की रखवाली कौन करेगा ? उसे भी साथ ले चलूंगा !" नारद ने कहा "अशुद्ध कुत्ते का स्वर्ग में क्या काम है ?" कृपक बोला "महाराज ! काम हो या न हो, कुत्ते विना तो मैं नहीं चलूँगा !" भगवान् बोले "भोले भाले कृषक ! देख तूने जितने गिनाये हैं वे सब स्वर्ग में नहीं जा सकते, वहां खेत, बैल, भैंस, कुटुम्बी किसी का काम नहीं है, स्वर्ग में काम करना नहीं पड़ता, वहां तो तू अकेला ही जा सकता है !" कृषक बोला "तो मैं नहीं

जाऊंगा ! खेत से अधिक स्वर्ग में क्या होगा ! एक डालते हैं, हजार उठाते हैं ! तुम भगवान् हो तो भले ! मेरा नमस्कार है। मैं अपने देखे हुए स्वर्ग को छोड़ कर आपके स्वर्ग में नहीं जाऊंगा।" भगवान् और नारद विमान में बैठकर अदृश्य होगये। भगवान् बोले "हे नारद ! देखा, उसका स्वर्ग तो खेत और कुटुम्ब है, वह सच्चे स्वर्ग को तुच्छ समझता है। ममता कितनी भारी है, ममता वाले स्वर्ग में किस प्रकार आ सकते हैं। वह सीधा था इसलिये मैंने उसे दर्शन दे दिये, अब तू समझ गया होगा कि ममता को छोड़ कर लोग जगत् से निकलना नहीं चाहते।"

करने योग्य तीसरा कार्य ईश्वर की भक्ति है। मायिक भक्ति माया में फंसाने वाली और ईश्वर की भक्ति कल्याण करने वाली और अखण्ड सुख का आस्वादन कराने वाली है। अन्य देवताओं की भक्ति भी मायिक सुख को ही देने वाली है क्योंकि मायिक उपाधि सहित समझकर ही देवता की भक्ति की जाती है और उनसे मायिक फल की ही इच्छा रक्खी जाती है। ऐसी भक्ति कदाचित् पूर्णता को प्राप्त हो तो मायिक फल भले दे परन्तु अखंडित परमपद को नहीं दे सकती। किसी भी अवलम्बन से सर्वव्यापक, सचराचर को सत्ता देने वाले अखिलेश्वर की भक्ति ही कर्तव्य है। अव्यय भाव ही पूर्ण भक्ति स्वरूप है। आत्मभाव ही एक ईश्वर भक्ति है। मुमुक्षुओं को यह ही करने योग्य है। उसकी ही सगुण निर्गुण अवलम्बन सहित अथवा अवलम्बन रहित उपासना योग्यतानुसार करनी चाहिये। भक्ति ही मुमुक्षु को परमपद की देने वाली होती है और नहीं ॥१७॥

लघुत्व मूलं च किमर्थितैव,
गुरुत्व बीजं पदयाचनं किम् ।
जातोस्ति को यस्य पुनर्न जन्म,
को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः ॥१८॥

अर्थः—प्रश्नः-हलकेपने की मूल क्या है ? उत्तरः-अर्थीपना यानी मांगना हलकेपने की मूल है। प्रश्नः-बड़ाई का बीज क्या है ? उत्तरः-अपने पद की याचना करना। प्रश्नः-उत्पन्न हुआ कौन है ? उत्तरः-जिसका फिर से जन्म न हो सो। प्रश्नः-मरा हुआ कौन है ? उत्तरः-जिसका फिर से मरण न हो सो।

छप्पय।

हलकेपन की मूल, कौन वस्तु कहलाती।
हलकापन याचना, यही नीचा दिखलाती॥
भारीपन का बीज, कौन कैसा है होता।
निजपद याचन सत्य, सिवा इसके सब थोता॥
जन्मा कौन कहाय, जो जन्म पुनः नहिं पाय है।
मरा कहावे कौन, जो मरने से छुट जाय है॥१८॥

विवेचन।

हलकेपन यानी तुच्छता की मूल क्या है ? जब यह प्रश्न शिष्य करता है तब उसका उत्तर देते हैं कि तिरस्कार को प्राप्त

होना, नीचे गिरते जाना, अपनी व्यवहारिक योग्यता को खो देना, इसका नाम हलकापन है। पदार्थों की इच्छा हलकेपने को लाने वाली है। इच्छा याचना कराती है, दूसरे से याचना करना मांगना हलकेपन की मूल है। जब कोई किसी से कुछ मांगता है तब उसे हलका बनकर ही मांगना पड़ता है। देखते भी हैं कि लेने वाले का हाथ नीचा और देने वाले का हाथ ऊंचा होता है। जिसके ऊपर अपना अधिकार नहीं है, जो दूसरे का पदार्थ है, उसको उसके मालिक से मांगना-पदार्थ देने की प्रार्थना करना, हलका बनाता है इसलिये मांगना हलकेपन की मूल है। जिस करके तुच्छ बनना पड़ता है, वह याचना हलकेपन की मूल है। जिस प्रकार मूल से वृक्ष फलता है इसी प्रकार मांगने से तुच्छता बढ़ती है, जितनी तुच्छता बढ़ती जाती है उतना ही अपने भाव से गिरता जाता है। जब मांगने की आदत पड़ जाती है तब मांगने वाला क्रम क्रम से गिरता ही जाता है। आत्मा जो शुद्ध स्वरूप है, भौतिक मायिक पदार्थों की कामना-याचना से ही तुच्छता को प्राप्त होकर जीव भाव में आया हुआ है। 'मांगन भलो न बाप से जो पत राखे राम' यद्यपि पुत्रका पिता से मांगना मांगना नहीं कहा जाता क्योंकि पिता की मिलकीयत पुत्र की ही समझी जाती है तो भी एक छोटा सा बच्चा जो हमेशा निडर होकर पिता से बोला करता है, जब वह पिता से एक पैसा मांगता है तब तुच्छ भाव वाला होकर ही मांगता है। उस समय उस बच्चे के चेहरे को देखना चाहिये। मांगते समय बच्चे की स्वतंत्रता उड़ जाती है, वह सकुचा कर ही मांगता है। एक छोटी सी बुद्धि

के बच्चे का जब यह हाल है तब बड़े मनुष्यों का क्या हाल होता होगा, यह विचारना चाहिये। सब ही देखते हैं कि बहुत स्थानों पर अनेक प्रकार के स्वांग बनाये हुए रंगीन वस्त्र धारण करने वाले घर घर घूम रहे हैं, यांचना कर रहे हैं और तिरस्कार को प्राप्त हो रहे हैं। जो चतुर्थाश्रम संन्यासी है, जिसका राना, महाराना और पण्डित मान करते हैं जब वह ही मांगने पर कमर कस ले तो कुत्ते के समान स्थान स्थान से 'हट हट' ही सुनता है। कभी कहीं से तिरस्कार युक्त अथवा तिरस्कार के भाव से बासी टुकड़े के समान कुछ प्राप्त भी कर लेता है। धिक्कार है ऐसी याचना वाले को। ब्राह्मणों की तुच्छता मांगने से ही हुई है। जब वे अपने कर्म धर्म में आरूढ़ रहते थे, जब पात्रापात्र का विचार करके बहुत प्रार्थना सहित दान को ग्रहण करते थे तब वे उच्च थे और अब जब से मांगने का धर्म कर बैठे, पात्रापात्र का विचार भी छोड़ दिया तब बहुत से हलकेपने को प्राप्त हुए हैं। जब कभी कोई साधु अथवा ब्राह्मण किसी के पास जाता है तब जिसके पास वह जाता है, वह उससे मुख फेर लेता है क्योंकि वह यह ही समझता है कि कुछ न कुछ मांगने आया है। इस प्रकार की व्यवस्था-नीचता मांगने वालों की वृद्धि से ही होगई है। चाहे कैसा भी योग्य क्यों न हो जब वह मांगेगा तब उसे हलका ही बनना पड़ेगा—छोटा ही होना पड़ेगा। कहते भी हैं कि बेटा बन कर लिया जाता है, बाप बन कर कोई नहीं लेता। मांगने से पुरुष के महत्त्व का नाश होजाता है। चौदह लोक के नाथ श्रीभगवान् भी जब बलि के द्वार पर मांगने गये तब उन्हें भी बामन-छोटा रूप धारण करना पड़ा

था। इसलिये जितने पदार्थ हलके तुच्छ कहे जाते हैं उन सब से विशेष तुच्छ मांगना है। मांगने वाला लक्ष्मी, तेज, बुद्धि, धैर्य और कीर्ति इन पांचों का त्याग पात्र होता है यानी ये पांचों उसे त्याग देते हैं। जैसे भ्रमर हाथी के मद की गन्ध की कामना से उसके पास जाकर देयो देयो की याचना करता है, और हाथी उसे कान के झपेटों से मार भगाता है तो भी गन्ध लुब्ध भ्रमर लोभ वश बारम्बार हाथी के पास जाता है और तुच्छता को प्राप्त होता है, इसी प्रकार उद्यम करने से प्रारब्धाधीन जो प्राप्त हो उसमें संतोप न करने वाला तुच्छ होता है। प्रारब्धानुसार अल्प प्राप्त होने पर भी संतोप धारण करने वाला मांगने वाले से अच्छा है।

सब से हलका तृण-घास है, घास से भी हलकी रुई है और रुई से हलका मांगने वाला है। यदि कोई ऐसी शंका करे कि वायु तृण और रुई को तो उड़ा ले जाता है, याचना करने वाले को क्यों नहीं उड़ा ले जाता, उसका समाधान यह है कि वायु भी याचक से डरता है कि कहीं मुझसे भी याचना न करने लगे इसलिये वह याचक से दूर रहता है। चाहे तुच्छ पदार्थ हों, चाहे भारी पदार्थ हों, मांगने से हलकापन अवश्य आता है, हलका बन कर ही मांगा जाता है। याचक को नीच ऊँच पात्रापात्र का विचार नहीं रहता। मांगने वाले को दाता की योग्यता का ज्ञान नहीं होता, झूंठी स्तुति करनी पड़ती है, झूंठ और छल का भी सहारा लेना पड़ता है। ऐसा मांगने वाला चोर से भी नीच है, चोर में चोरी का ही दोष होता है, मांगने वाले में तो अनेक दोष

होते हैं; नीच की स्तुति करना पड़े उससे और हलकापन क्या होगा? सूम को दाता कहना और कायर को बहादुर बताना कितना अनर्थ है। ब्राह्मण तो क्या, शूद्र भी याचना करने से शूद्रपने से अधिक तुच्छता को प्राप्त होता है और याचना से मिल ही जाय ऐसा कोई नियम भी नहीं है। किसी ने सच ही कहा है:—

बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख।

मांगने वाला मांगने वाला ही रहता है और दाता दाता ही रहता है। जो अपना नहीं उसे दूसरे से मांगना तुच्छ है परन्तु जो अपना ही है और जिसे हम भूल गये हैं वह हमारा हमको मिल जाय, हमारी भूल निकल जाय इस प्रकार की याचना ऊपर की याचना के समान तुच्छ नहीं है। अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति की याचना गुरु से करना बड़ाई की मूल है। स्वपद आत्मपद है, वह नित्य प्राप्त है किन्तु अप्राप्त के समान हो रहा है, उसकी अप्राप्ति का भाव निवृत्त होजाय, प्राप्त ही है, इस प्रकार के प्रकाश होने की गुरु से जो प्रार्थना करना है, वह आत्म स्वरूप में स्थित होने का हेतु होने से बड़ाई की मूल है क्योंकि इससे महत्त्व प्राप्त होता है। जब प्रपंच और प्रपंच के ऐश्वर्य की तरफ तिरस्कार होता है तब स्वपद की याचना की जाती है। माया में दुःख ही दुःख प्रतीत होता है इसलिये यह याचना मायिक पदार्थ भाव के ग्रहण रूप नहीं है किंतु उपाधियों का त्याग रूप है और अपने

आत्मा का ग्रहण भी नहीं है क्योंकि आत्मा प्रथम से ही प्राप्त है इससे आत्म ज्ञान की याचना करना बड़ापन है। भौतिक पदार्थों की याचना याचकपन को कायम रखती है और स्वपद की याचना से स्वपद की प्राप्ति के बाद सब प्रकार की याचना का नाश हो जाता है। स्वपद की याचना व्यक्ति-तुच्छ भाव को निवृत्त करके समष्टि-महान् परम तत्त्व को प्राप्त कराती है इसलिये यह याचना महानपने की मूल है। जिसने योग्य बनकर गुरु शरण में जाकर स्वपद की याचना की है, उसे धन्य समझना चाहिये। जब भौतिक याचना वाला दाता के पास जाता है तब दाता खिन्न होता है क्योंकि उसे अपनी मिलकीयत के पदार्थों में से देना पड़ता है, जितना देता है उतना देने वाले के पास से जाता है। स्वपद की याचना में इससे उलटा है; जब योग्य अधिकारी गुरु के पास से स्वपद की याचना करता है तब गुरु उसकी याचना सुनकर प्रसन्न होता है। गुरु को अपने खजाने में से कुछ देना नहीं पड़ता, गुरु देता है तो भी दिये पदार्थ से उसके खजाने में कुछ कमी नहीं होती, वस्तुतः अपने पास से कुछ नहीं देता किन्तु जो शिष्य का है, शिष्य के पास है वह ही शिष्य को दिखला देता है। शिष्य जिस स्वपद की याचना करता है, वह उसे उसकी ही मिलकीयत में से मिलता है, गुरु का उसमें कुछ भी नहीं है, गुरु के वचन और कृपा मात्र ही है इसलिये यह याचना महान् बनाने वाली और बोध कराने वाली है इसलिये प्रशंसनीय है।

किसी किसी पुस्तकमें 'यदयाचनं' ऐसा पाठ देखने में आता है, जिसका अर्थ यह होता है कि न मांगना ही बड़ापन है परन्तु न

मांगना स्वरूप के बोध विना सिद्ध नहीं होता इसलिये इसका अभिप्राय भी ऊपर के विवेचन के समान ही निकलता है।

कलकत्ते के पास के एक ग्राम का एक साधु था। लोग उसे परमहंस कहा करते थे। वह शांत प्रकृति वाला और अच्छा साधु था। वह अपने ग्राम में रहना पसंद नहीं करता था, आस पास के किसी बगीचे में पड़ा रहा करता था। बगीचे में आने जाने वाले उसको भोजन दे आया करते थे। जब कभी कोई बगीचे में न आता, उसे भोजन न देता तो वह खप्पर लेकर बाजार को अन्न, पैसा आदिक लेने चला जाता था। वहां से जो कुछ मिल जाता ले आया करता था। जब तक उसे कोई देने वाला मिल जाता और पेट का निर्वाह हो जाता तब तक बाजार में मांगने नहीं जाता था। बगीचे में भी वह किसी से कुछ मांगता न था, दिन के विशेष भाग में ध्यान की अवस्था-समान स्थिति में बैठा रहता था और किसी से विशेष बातचीत भी नहीं करता था। जब वह बाजार में मांगने जाता तब खप्पर आगे करके दुकान पर खड़ा हो जाता और कहता "मेरा हिसाब करके जो कुछ मेरा निकलता हो दे दे" अनजान मनुष्य यह सुन कर घबराता था और कहने लगता "तेरा मेरे पास क्या है? तू मुझे कब क्या दे गया था जो मैं तुझे दूं" यह सुन कर साधु हंसता था और कहता "मेरा कुछ नहीं निकलता तो मत दे" यह कह कर आगे चल देता। कभी किसी दुकान पर कहता "मैं मांगता नहीं हूं, मैं मांगने को नहीं आया हूं। मुझे करजा लेना नहीं है, मैं अपना ही मांगता हूं। जिसके पास मेरा कुछ हो वह दे दे, मैं

हिसाब चुकाना चाहता हूं" बहुत से दुकान वाले उसे जान गये थे; कुछ पैसा, चांवल आदिक दे दिया करते थे।

इस साधु का मांगना तुच्छता को प्राप्त करने वाला न था क्योंकि वह अपना ही मांगता था, दूसरे का नहीं। उसका लक्ष, उच्च और महत्वता को प्राप्त कराने वाला था। 'मेरा प्रारब्ध भोग जिससे लेकर समाप्त करना है, वह ही मैं करता हूँ' जिस प्रकार यह लक्ष है उसी प्रकार स्वपद की याचना करना अपने ही पदार्थ को गुरु से लेना है। ऐसी प्रार्थना महत्त्वता को प्राप्त कराने वाली है। जगत् की तुच्छता हुए विना स्वपद की याचना नहीं हो सकती। जगत् के पदार्थों की याचना तुच्छता की मूल है और इससे विरुद्ध स्वपद की याचना महान्ता की मूल है।

एक साहूकार एक छोटे बच्चे को छोड़कर मरण अवस्था को प्राप्त हो रहा था। उसने विचार किया "लड़का अभी छोटा है और धन बहुत है धन वरवाद हो जायगा!" ऐसा विचार कर उसने अपने एक मित्र को बुलवा कर अपने मकान में धन को गुप्त स्थान में गढ़वा दिया और वही में लिख दिया कि घर में धन गढ़ा हुआ है परंतु जब तक लड़का योग्य उमर और शुभ आचरण का न हो तब तक उसे धन न मिले। मेरा अमुक मित्र, वह धन कहां है, कितना है जानता है। ऐसा प्रबंध करके साहूकार मर गया। लड़का बड़ा हुआ जो धन व्यवहार में था पूर्ण हो गया। धंधे आदिक में नुकसान होता गया, उसने लोगों से सुन रक्खा था कि मेरे बाप दादे श्रीमान् थे, वह पुराने बहीखाते देखने लगा।

धन गाढ़ने का लेख उसके पढ़ने में आया। उसने अपने पिता के मित्र के पास जाकर प्रार्थना की "ताऊजी! मेरे पिता का धन कहां है? आप मुझे दिखा दीजिये!" मित्र ने अपने मित्र के पुत्र को योग्य उमर का और शुभाचरण वाला देख कर धन दिखला दिया। इस प्रकार अपना ही हम को मिल जाय, ऐसी याचना बड़ेपन को प्राप्त कराने वाली है। बाप-दादा परब्रह्म है, उसका आत्म धन है, पुत्र उसके लेने का अधिकारी है। वेद बहीखाता है, उसमें धन की रक़म लिखी हुई है। योग्य उमर और सदा-चरण का होना ज्ञान का अधिकारी बनना है। अधिकारी देख कर गुरु आत्म धन को दिखला देता है। शिष्य उस धन को प्राप्त करके इतना श्रीमान् हो जाता है कि उसे फिर किसी से याचना नहीं करनी पड़ती। इसलिये ऐसी याचना बड़ेपन की मूल है।

माता के उदर से जन्म लेना ही जन्मना नहीं है क्योंकि ऐसा जन्म तो वारंवार होता ही आया है। अनादि काल से ऐसे जन्म मृत्यु की परंपरा चल ही रही है। जन्म लेकर फिर भी जिसको जन्म लेना बाकी रहे, उसका जन्म सच्चा जन्म नहीं कहलाता किन्तु जिस जन्म के लेने से हमेशा के लिये जन्म लेना न रहे उसे सच्चा जन्म कहते हैं। ज्ञान का होना ही सच्चा जंन्म होता है क्योंकि ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञानी को फिर जन्म धारण करना नहीं पड़ता, जिस जन्म के बाद फिर विकार को प्राप्त होना न पड़े वह ही सच्चा जन्म है। माता के उदर से जंन्मने वाला शरीर तो विकारी होता है। जन्मता है, बढ़ता है, युवा होता है,

वृद्ध होता है और नाश को प्राप्त होता है इस प्रकार भौतिक शरीर छः विकार वाला है। भौतिक शरीर के जन्म आदिक का शुद्ध स्वरूप के साथ कुछ भी संबंध नहीं है। शरीर जन्मे, मरे और मध्य में अनेक विकारों को प्राप्त हो, उनका शुद्ध आत्म स्वरूप में कोई असर नहीं होता। जब ज्ञान होता है तब ज्ञानी को मालूम होता है कि शरीर के विकारों का संबंध कुछ भी आत्म स्वरूप-द्रष्टा से नहीं है इसलिये वह शरीर की विक्रियाओं में सम्मिलित नहीं होता किंतु सुख दुःखादिक में द्रष्टा रूप से विचरता है। ऐसे ज्ञानी का फिर जन्म नहीं होता इसलिये ज्ञान रूप जन्म ही सच्चा जन्म है। अज्ञानी माता के उदर से जगत् में जन्मता है और ज्ञानी आद्य माया में से चैतन्य में जन्मता है। जगत् में जन्मने वाले जगत् के अनेक प्रकार के मोह में फँसे रहते हैं, क्योंकि उनका जन्म जगत् की वासना के अनुसार होता है और जिसका जन्म चैतन्य में हुआ है ऐसा ज्ञानी चैतन्य स्वरूप ही हो जाता है क्योंकि द्वैत के अभाव से जगत् की वासना नहीं रहती, वासना न रहने से अज्ञान नहीं रहता अज्ञान के अभाव से जन्मने का कोई कारण नहीं रहता इसलिये ज्ञानी फिर से न तो जगत् में जन्मता है न चैतन्य में, क्योंकि चैतन्य अजन्मा है। या यों समझो कि माता रूप गर्भ व्यक्ति आच्छादित गर्भ है, वहां जीव बन्धन में पड़ा हुआ है वहां से मुक्त होना जन्मना है और ज्ञानी को समष्टि–महामाया-आद्य माया में से ज्ञान से बाहर निकल जाना है। माता के उदर से जन्म लेने वाला-मुक्त होकर बाहर आने वाला माया में आता है इसलिये उस माया में फँस

कर फिर माता से जन्म लेता है परन्तु ज्ञानी तो जब महामाया में से बाहर निकल जाता है तब वह माया में नहीं रहता, चैतन्यमय हो जाता है इसलिये उसका कभी जन्म नहीं होता। जिसने माता के उदर से जन्म को धारण किया है, वह वारम्वार जन्म लेने वाला होने से उसका जन्म होना निरर्थक ही है और जो माता से जन्म लेकर ज्ञान में जन्मता है उसका जन्मना ही सच्चा है क्योंकि उसे चौरासी लक्ष योनियों में भटकना नहीं पड़ता इसलिये ज्ञानी का जन्मना ही सफल है।

मनुष्य जन्म की प्राप्ति एक महान् दुर्लभ पदार्थ है। जब अनेक जन्मों के शुभ कर्म संग्रहीत होते हैं तब मोक्ष द्वार रूप मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है। मनुष्य शरीर की प्राप्ति भोग के निमित्त नहीं है किन्तु परम पद प्राप्त करने के निमित्त है। ऐसा होने पर भी जिसने ज्ञान के लिये यत्न न किया उसने मनुष्य होकर भी वारम्वार जन्मने वाला और मरने वाला बना रहने से कुछ न किया; ऐसे मनुष्य जन्म को धिक्कार है ! इस प्रकार के जन्म लेने वाले ने अपनी माता को बोझा ही वहन कराया है। ऐसे का जन्म तो इस प्रकार ही है जिस प्रकार चेंटे, मच्छर आदि जन्मते हैं और मर जाते हैं। जिसका यह मनुष्य जन्म अन्तिम होता है-जो मनुष्य जन्म धारण करके दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसका ही जन्म सफल है। माया के अंडे को छोड़ कर बाहर निकल जाना ही जन्मना है।

जोधपुर का राजा यशवन्तसिंह और उसकी रानी दोनों पराक्रमी थे। जिस समय वे थे, उस समय दिल्ली का बादशाह

शाहजहां बीमार पड़ा हुआ था और उसके शाहजादों में तख़्त नशीन होने के सम्बन्ध में झगड़ा चल रहा था। यशवन्तसिंह भी उन दोनों में से एक पक्ष की तरफ से लड़ता था। दोनों मुग़ल सैन्य मिल जाने से उज्जैनी की दक्षिण दिशा में नर्मदा नदी के पास यशवन्तसिंह को हार खानी पड़ी। जब औरंगजेब दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तब उसने यशवन्तसिंह को लिखा "मेरे साथ तुम्हारे पूर्व के किये हुए वर्ताव का मुझे रंज नहीं है, शुजा के साथ मेरी चलती हुई लड़ाई में तुम अपनी सैन्य सहित आकर मेरी मदद करो" यशवन्तसिंह इस लिखने के अनुसार इलाहाबाद के उत्तर में खुजवा नाम के स्थान पर अपनी सैन्य सहित बादशाह की सैन्य में जा मिला। युद्ध के आरम्भ में यशवन्तसिंह औरंगजेब के पास खड़ा था। युद्ध आरम्भ होते ही यशवन्तसिंह ने औरंगजेब की सैन्य पर हमला कर दिया, बहुत सी सैन्य मारी, खूब माल लूटा, औरंगजेब का तम्बू तक लूट लिया। इस प्रकार बहुत सा माल लेकर वह अपने राज्य में आ गया। इस प्रकार उसने मुग़लों के किये हुए छल का बदला लिया। कुछ समय व्यतीत होने के बाद औरंगजेब ने यशवन्तसिंह को फिर लिखा "मैंने तुमको एक बार और क्षमा कर दिया है, जो तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुमको गुजरात की सूबेदारी देना चाहता हूं। उसके लिये इतनी ही शर्त है कि दिल्ली के तख्त के झगड़े में तुम बीच में न पड़ो।" औरंगजेब के छल को लालच वश यशवन्तसिंह न समझा और उससे मिल गया। उसी समय अफ़गानी स्थान पर बलवा हुआ। इस

प्रसंग को उत्तम समझ कर बादशाह ने अपनी सैन्य के साथ यशवंतसिंह को भी उसकी सैन्य सहित नायक बना कर भेजा। यशवंतसिंह रानी और दो लड़कों के साथ अफ़गानियों से लड़ने गया और अपने बड़े पुत्र को जोधपुर की व्यवस्था करने को छोड़ गया। उसको औरंगजेब ने दिल्ली बुला कर विष वाली पोशाक भेंट देकर मार डाला। यशवंतसिंह के दो छोटे लड़के अफ़गानिस्तान में मारे गये और स्वयं भी वह वहां मारा गया। औरंगजेब की इच्छा थी कि सब कुटुम्ब को निर्मूल कर देना चाहिये। उसकी यह इच्छा उसे इस प्रकार सफल होती हुई दीखी। रानी अत्यन्त शोक में पड़ी, उसने पति के साथ सती होने का प्रबन्ध भी किया परन्तु उसके साथ वाले स्वामीनिष्ठ राजपूतों ने उसे सती होने से रोक लिया वह इस समय गर्भवती थी। थोड़े समय में अफगानी स्थान मेंही उसके राजकुमार अजित-सिंह पैदा हुआ। रानी राजपुत्र और अपनी सैना को लेकर दिल्ली आई। रानी को औरंगजेब का उसके कुटुम्ब के नाश करने का वर्ताव मालूम हो गया और उसने जान लिया कि हम दिल्ली में कैद में पड़े हैं। औरंगजेब ने राजकुमार को अपने कब्जे में दे देने का बहुत आग्रह किया परन्तु रानी और शूरवीर राजपूत सैनिकों ने साफ मने कर दिया। बादशाह ने राजपूत सैनिकों के दिल को फिराने का बहुत प्रयत्न किया और लालच भी दिया कि यदि तुम अजितसिंह को मेरे स्वाधीन कर दोगे तो मैं जोधपुर की सब ज़मीन तुम लोगों को बांट दूंगा; और दहशत भी दिखाई परन्तु राजपूतों ने स्पष्ट उत्तर दे दिया कि हमने अपने बाहुबल से ही

अपने देश को संभाल रक्खा है और उस बाहुबल से ही हम देश का और युवराज का रक्षण करेंगे।

राजपूतों ने यह निश्चय करके कि विना युद्ध किये दिल्ली से जोधपुर नहीं जा सकते, युद्ध की सब तैयारी कर रक्खी थी। उन्होंने राजकुमार को एक मिठाई की करंडिया में सुला कर एक मुसलमान को सौंप दिया। मुसलमान राजवंश पर कठिन प्रसंग आया जान कर और लालच वश दिल्ली से निकल कर नियत किये हुए स्थान पर पहुँच गया। यह मुसलमान कुरान की क़सम खाकर राजकुमार को सुख पूर्वक ले आया था। रानी के सिवाय जितनी राजपूत स्त्रियां थीं, एक मकान में भर दी गईं और उसमें रक्खे हुए वारूद के बोरों में आग लगादी गई। सब राजपूत हथियार लेकर वाहर निकले। वहां बादशाही फौज का घेरा पड़ा हुआ था, उसी समय युद्ध आरंभ हुआ। राजपूतों ने बहुत पराक्रम दिखलाया। दश दश मुगलों को मार कर एक एक राजपूत मरा। इस प्रकार युद्ध करते हुए रानी और थोड़े बचे हुए सैनिक दिल्ली से वाहर निकलकर नियत किये हुए स्थान पर से करंडिया में से अजितसिंह को लेकर बहुत तेजी से मेवाड़ की हद में आ गये। वहां से आबू के पहाड़ पर एक साधु के निर्भय स्थान में राजकुमार रक्खा गया; वहां ही वह बड़ा हुआ। रानी जोधपुर गई और उत्तम प्रकार से वहां का राज्य करने लगी। रानी के बाद जोधपुर का राजा अजितसिंह हुआ जो पराक्रमी था।

सारांश यह है कि रानी ने राजकुमार को जन्म दिया था परन्तु वह जन्म निर्भय नहीं था। क्रूर मुगल के राज्य की हद में था। जब अपने पराक्रम से मुगल के राज्य की हद छोड़कर राजकुमार को निर्भय स्थान में लाये तब यह ही उसका ठीक जन्म हुआ। गर्भ रूप बंधन में से कुंवर बाहर निकला परन्तु उसकी खैर नहीं थी। जिस देश में खैर नहीं है उसमें से बाहर निकल जाना ही सच्चा जन्म है। माता के गर्भ में से जन्म होना माया के देश में है, वहां जन्मे हुए की खैर नहीं है परन्तु माया के देश से बाहर निकल कर चैतन्य स्वरूप में आना ही सच्चा जन्म है क्योंकि फिर उसे जन्म लेना नहीं पड़ता।

इसी प्रकार मरने को भी समझना चाहिये वही मरना पक्का है कि एक साथ ही मरना हो जाय, फिर मरना न पड़े। सामान्य नियम तो यह है कि जिसका जन्म होता है उसका मरण अवश्य होता है और मरने वाले का जन्म भी अवश्य होता है परन्तु जो सच्चा मरता है वह सामान्य शरीर के मरण से विलक्षण होता है। माया के देश का जन्म और माया के देश में ही मरना वारम्वार जन्म मरण का हेतु है परन्तु जैसे माया के देश में से चैतन्य में जन्मना-ज्ञानी होना पक्का जन्मना है इसी प्रकार माया का मर जाना पक्का मरण है। जन्म चैतन्य में समझना चाहिये और मरना माया का समझना चाहिये। ज्ञान होते ही अज्ञान की जो मृत्यु है वह ही पूर्ण मृत्यु है उस मृत्यु के बाद फिर मृत्यु नहीं होती। स्थूल शरीर का जन्म जन्म नहीं है इसी प्रकार स्थूल शरीर की मृत्यु भी मृत्यु नहीं है। स्वस्वरूप का बोध ही जन्म है

और कारण सहित अविद्या की निवृत्ति ही मृत्यु है। परमानन्द की प्राप्ति जन्म है और जन्म मरण की निवृत्ति ही मृत्यु है। जब महावाक्य के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ को लक्षणा से भली प्रकार समझ कर आत्म स्वरूप जाना जाता है तब जीवन्मुक्त होता है, उसको ही सच्चे जन्म और मृत्यु वाला समझना चाहिये। उसका देह दीखता है तो भी उसे देह रहित समझना चाहिये क्योंकि ज्ञान के प्रभाव से उसकी देहासक्ति निर्मूल हो गई है। उसके शरीर से जो कुछ कृत्य होता हुआ दीखता है, वह पूर्व कृत भोग रूप ही है, वास्तविक नहीं है। जैसे कपड़ा जल जाता है तो भी उसमें कपड़े की आकृति दीखती है परन्तु वह कपड़ा शीत निवृत्ति का हेतु नहीं है इसी प्रकार ज्ञानी के शरीर की चेष्टा दीखती है, तो भी बन्धन का हेतु नहीं है। उसका दीखना तब तक ही है जब तक प्रारब्ध शेष रूप वायु नहीं लगता। देहाध्यास आसक्ति से ही फिर देह धारण करना पड़ता है। समूल अज्ञान सहित जिसका देहाध्यास और समग्र आसक्ति निवृत्त हो गई है ऐसे ज्ञानी को देह धारण करने का कोई कारण नहीं रहता ॥१८॥

मूकोऽस्ति को वा बधिरश्च को वा,
वक्तुं न युक्तं समये समर्थः।
तथ्यं सुपथ्यं न शृणोति वाक्यं,
विश्वास पात्रं न किमस्ति नारी ॥१९॥

अर्थः—प्रश्नः-गूंगा कौन है? उत्तरः-जो समय के अनुसार बोलने योग्य न बोल सके। प्रश्नः-बहिरा कौन है? उत्तरः-जो

सच्चे और हित करने वाले वाक्य को नहीं सुनता। प्रश्नः-विश्वास न करने योग्य कौन है? उत्तरः—स्त्री विश्वास करने योग्य नहीं है।

छप्पय।

गूंगा वाणी हीन कौन कहलाय अवक्ता।
गूंगा सो ही जान समय पर बोल न सक्ता॥
बहिरा कहिये कौन सुने सब हीं सब जाने।
तो भी मति का मन्द बात हित की नहिं माने॥
महा मलिन अवगुण भवन को न पात्र विश्वास का।
कभी भरोसा नहिं करे पंडित नारी जाति का॥१६॥

विवेचन।

जो मुख से नहीं बोलता उसे गूँगा कहते हैं। प्रश्न यह है कि गूँगा किसको कहना चाहिये। जो बोलता नहीं है वह गूँगा है, यह बात सब जानते हैं। यहां जो प्रश्न है, वह विशेष प्रकार के गूँगे के संबंध में है। कोई तो जन्म से ही गूँगा और बहिरा होता है, कोई न बोलने का व्रत धारण करके नियत समय तक बनावटी गूंगा बना रहता है। ऐसे दोनों प्रकार के गूंगों के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं है। उसका उत्तर देते हैं कि जिस समय पर जो बोलना चाहिये—जो बोलने के योग्य हो, उसे बोले। जो इस प्रकार नहीं बोलता हो उसे गूंगा कहना चाहिये। बोलना दोष रूप नहीं है परन्तु जब युक्तायुक्त विचार रहित बोला जाता है

तब अनर्थ कारक होता है। आसक्ति सहित कथन किये हुए वचन भी दुःख को पैदा करने वाले होते हैं इसलिये जो वचन अहंभाव की अत्यन्त आसक्ति युक्त न हो, जो व्यवहार के विचार सहित हो, जो अपने और दूसरे को दुःखदायक न हो और हित कारक हो ऐसा वचन बोलने वाला बुद्धिमान् होता है :इससे विरुद्ध समय के अनुसार न बोलने वाले को गूंगा कहना चाहिये। बोलने के भाव से पांचां इन्द्रियों का भाव समझना चाहिये। जो वाक्, पाणि, पाद शिश्न और गुदा का विचार सहित समय पर उपयोग न करे उसे गूंगा, टोंटा, पंगु, नपुंसक और गुदा इन्द्रिय रहित समझना चाहिये। ये पांचों कर्मेन्द्रिय की क्रियाएं हैं। कर्मेन्द्रिय को जो समयानुकूल वर्तने नहीं देता या असमय में अधिक उपयोग में लाता है वह गूंगे के समान है और ज्ञान योग्य न होने से गूंगा कहलाता है। जड़ता युक्त वर्तने वाला गूंगा है, विचार सहित वर्तने वाला वक्ता है। शिष्य गुरु से ज्ञान के निमित्त प्रश्न करता है इसलिये यहां अज्ञानी ही गूंगा है, केवल न बोलने वाला ही गूंगा नहीं है। गुरु का दिया हुआ मन्त्र जाप या स्वाध्याय जो समय पर नहीं करता, उसे गूंगा कहना चाहिये। जिसके उच्चार करने से कर्म उपासना और ज्ञान की वृद्धि होती है ऐसे कार्य को छोड़ने वाला गूगा है। उच्चार करने से अर्थ का बोध होता है और अर्थ का वारंवार मनन करने से टिकाव होता है। जो वेदान्त वाक्यों का मनन और ईश्वर का भजन नहीं करता, वह गगा है। मनुष्य शरीर की प्राप्ति महा पुण्य से हुई है, ईश्वर भजन और ज्ञान के निमित्त यह ही शरीर युक्त समय है, इस समय को पाकर

जो ईश्वर सम्बन्धी वाक्य उच्चारण न करे उसके सिवाय और कौन मूर्ख कहा जाय ? शास्त्र प्रमाण निर्णय युक्त जो नहीं बोलता वह गूंगा है। शुद्ध भाषा जानता हो, वाणी में चातुर्यता हो परन्तु जो समय के अनुकूल सन्मार्ग दर्शक वचन न बोले तो उस बोलने वाले को बोलते हुए भी गूंगा ही समझना चाहिये। विना विचार का बोलना पागल के समान अथवा मेंढक की वाणी के समान निरर्थक होता है।

एक मनुष्य पढ़ लिख कर हुशियार होकर सरकारी नौकरी करने लगा। कुछ दिन बाद वह जेंटिलमेन एक उच्च अधिकार पर हो गया। वह एक छोटे ग्राम का रहने वाला और गरीब माता पिता से जन्मा था। उसे अपनी बिरादरी से नफरत होती थी, वह सब को जंगली समझता था, जहां वह नौकर था वहां से उसका ग्राम बहुत दूर था। एक समय उसका पिता उसके पास आया और दो दिन तक रहा। गँवार पिता का अपने पास रहना जेंटिलमेन को अच्छा नहीं लगता था। गँवार शरीर, गँवार बोल चाल और गँवार वस्त्र पहने हुए एक डोकरे को बाप कहने में उसे शर्म आती थी। वह उसे बाप नहीं कहता था, 'हमारे ग्राम का है' ऐसा कहता था, उसके पिता के आने के बाद दूसरे दिन उसके दो मित्र उससे मिलने को आये। वे उसके पास बारंबार आया जाया करते थे। बूढ़ा बाप कमरे में एक तरफ बैठा हुआ था। एक मित्र ने जेंटिलमेन से पूछा "मित्र! यह बूढा कौन है ?" जेंटिलमेन ने तुरंत ही कहा "वह हमारे ग्राम से आया है !" दूसरे मित्र ने कहा "क्या वह कोई तुम्हारे कुटुम्ब से

से है ?" जेंटिलमेन ने मुख बिगाड़ कर कहा "नहीं !" प्रथम मित्र ने कहा "तब वह कौन है ?" जेंटिलमेन बोला "जहां हमारा घर है, वहां वह रहता है ! काम काज करता है, नौकर है !" इस प्रकार के उत्तर से मित्रों का समाधान न हुआ। बूढा सब बातें सुन रहा था, मित्रों के पास आकर कहने लगा "क्या आप नहीं जानते कि मैं कौन हूं। मैं उसकी मां का खसम हूं, देखो तो सही ! वह मुझे अपना नौकर बनाता है, यह पढ़ने लिखने का फल है ! धिक्कार है उसे !" जेंटिलमेंन स्तब्ध हो गया। दोनों मित्र भी कुछ न बोले, उठ कर चल दिये। मार्ग में अपने मित्र की नालायकी पर अफसोस करते जाते थे।

बुड्ढे ने समयोचित कहा था क्योंकि उसने मित्रों को पुत्र की नालायकी का परिचय दिया। उसका कथन पुत्र के सुधारने के निमित्त होने से व्यवहार में भी समयानुसार था। इससे ज्ञान का कुछ सम्बन्ध नहीं है तो भी व्यवहार की उत्तमता में बुड्ढे का कथन युक्त ही था। समय पर कहे हुए का असर बहुत होता है और वे समय का किया हुआ कथन चाहे जितना श्रेष्ठ हो उतना असर नहीं करता। विवाह में विवाह के गीत ही शोभा देते हैं। "राम नाम सत्य है" उत्तम होते हुए भी अपशकुन कारक समझा जाता है। एक हास्य जनक मौन्य वाद का दृष्टान्त इस प्रकार है:—

एक ग्राम में एक ब्राह्मण और उसकी स्त्री रहती थी। एक समय पास के ग्राम के जिमींदार ने पुत्र के जन्मोत्सव में आस

पास के सब ब्राह्मणों को घर पीछे तीन तीन लड्डू बांटे। जिस ग्राम में ये ब्राह्मण ब्राह्मणी रहते थे, दूसरे किसी ब्राह्मण का घर न था। उनके घर भी तीन लड्डू आये। इन दोनों ने अपनी उम्र भर में पिस्ते के लड्डू नहीं खाये थे। कई दिन से वे पिस्ते के लड्डुओं की प्रशंसा सुन रहे थे। तीन लड्डू देखकर स्त्री ने कहा "मैं दो लड्डू खाऊँगी, एक तुमको दूंगी!" पुरुष ने कहा "नहीं! मैं तेरा पति हूँ, दो लड्डू खाने का मेरा हक है!" स्त्री बोली "नहीं! मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, पत्नी की तरफ तुमको उदारता दिखलानी चाहिये!" दोनों में से किसी ने न माना। तब निर्णय के लिये मौन्य वाद धारण किया। ब्राह्मणी बोली "चलो! हम तुम दोनों सो रहें, हम में से जो प्रथम बोलेगा वह एक लड्डू खायगा और नहीं बोलने वाला दो खायगा।" ब्राह्मण बोला "युक्ति ठीक निकाली है मुझे मंजूर है!" लड्डू वहां के वहीं खुले छोड़ कर दोनों जाकर सो गये। रात भर कोई कुछ न बोला। सुबह हुई दोनों में से किसी ने उठ कर किवाड़ खोलने का परिश्रम भी न किया। दश बज गये, किवाड़ बन्द देख कर पड़ोसी आश्चर्य करने लगे। सबने मिल कर पुकार मचाई परंतु कुछ जवाब न मिला। सबको निश्चय हो गया कि हो न हो वे दोनों किसी कारण से मर गये। सब लोग किवाड़ तोड़ कर भीतर घुस आये। 'चाचा, गुरुजी, ताऊजी, ताई, भाभी' करके पुकारने लगे। दोनों में से किसी ने कुछ उत्तर न दिया; न हिले चले। श्वास भी खींच गये, तब सबको उनके मर जाने का निश्चय हो गया। दोनों की ठठरी एक साथ बांधी गई।

सब लोग खेती के काम पर चले गये, तीन मनुष्य ठठरी को उठा कर श्मशान में ले गये। लकड़ियां मँगवा कर चिता बनाई गई, दोनों स्नान कराके चिता पर सुलाये गये और अग्नि का संस्कार भी कर दिया गया! जब अग्नि मुख की तरफ आने लगी तो ब्राह्मण उसे सहन न कर सका, उठ कर बैठा हो गया और कहने लगा। "मैं एक खाऊँगा!" ब्राह्मणी बोली "ठीक! तब मैं दो खाऊँगी!" श्मशान में तीन ही मनुष्य थे, उन्हें निश्चय हो गया कि ये दोनों भूत हो गये हैं, हम तीनों को खाने को कह रहे हैं, वे तीनों वहां से घर भागे! ब्राह्मण ब्राह्मणी प्रसन्न होते हुए और "मैं एक खाऊंगा!" "मैं दो खाऊंगी!" ऐसे कहते हुए उनके पीछे दौड़े। तीनों श्मशानी अपने पीछे भूत पड़े हुए देख कर खूब भागे। अंत में ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनों घर पर पहुँचे। घर के किवाड़ खुले थे ही, दो कुत्ते उसमें घुस कर तीनों लड्डू खा गये! ब्राह्मण ब्राह्मणी ने कुत्तों को बाहर निकलता हुआ देखा परंतु लड्डुओं का पता न लगा!

इसको मौन्य नहीं कहते. यह जड़ता और मूर्खता ही है। जिसकाज्ञान में भाव नहीं है, वह भी ज्ञानियों की दृष्टि से मूर्ख ही है। जिस इन्द्रिय से हम जो कार्य ले सकते हैं, उससे वह कार्य न लेना इन्द्रियों का दुरुपयोग करना है। कर्मेन्द्रियों का निग्रह रूप वक्तापना होना चाहिये। जो बोलने वाला, बोलने के समय अपने होश में रह कर युक्त बोले वह ही वक्ता है। इस प्रकार न बोलने वाले को गँगा कहा है।

इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रिय वश में रखने के लिये पूछा हुआ प्रश्न है कि वहिरा कौन है। जो कानों से नहीं सुनता वह वास्तविक वहिरा नहीं है किंतु जो अपने हित की बात को न सुने, उसे वहिरा समझना चाहिये। जो अपनी ज्ञान इंद्रियों को शुभ कर्म अथवा ज्ञान में न लगावे, उसे वहिरा, स्पर्श ज्ञान रहित, अंधा, स्वाद ज्ञान रहित और गंध ज्ञान रहित समझना चाहिये। जो शुभ कर्मों को योग्यतानुसार करने को नहीं सुनता वह वहिरा है, जो वेदान्त वाक्यों को श्रवण नहीं करता, वह वहिरा है। जो सद्गुरु की हितकर शिक्षा को नहीं मानता, वह वहिरा है। जिसके कान नहीं सुन सकते, ऐसा वहिरा इंद्रियों के दोष के कारण सामान्य बहिरा है, विशेष वहिरा तो उसे कहना चाहिये, जो इंद्रिय और बुद्धि होते हुए भी कल्याणकर शब्दों को न सुने। काम क्रोधादिक महादोषों करके पीड़ित जीव कल्याण करने वाले वचनों को नहीं सुनता। जैसे मरने की तैयारी वाले को कोई औषधि काम नहीं देती इसी प्रकार विषयासक्त मनुष्यों को ज्ञान वैराग्य की बात नहीं रुचती क्योंकि वे तो मरण के बिछौने पर ही पड़े हुए हैं। मरण के बिछौने वाले को औषधि अच्छी नहीं लगती और बलात्कार से पिलाई हुई गुण नहीं करती इसी प्रकार विषयासक्त मनुष्यों का हाल है। जो इन्द्रिय और बुद्धि शुभ कार्य और परम पद की प्राप्ति निमित्त हैं, उनसे वह कार्य न लेने वाला बहिरा इत्यादि ही है। कर्ण इन्द्रिय के दोष से वहिरा होने वाला भी स्वार्थ की बात को एकाग्र होकर सुन लेता है परंतु यह महा बहिरा तो अपने स्वार्थ—आत्म हित की बात से दूर दूर ही भागता

है, इसके सिवाय इन्द्रिय सहित बहिरा और किसे कहा जाय ? ऐसे पुरुषों की एक इंद्रिय ही नहीं, सब इंद्रियां ही मारी गई समझनी चाहिये। बारम्बार जन्म मरण रूप चक्र में पड़ा रहना मरण ही है इसलिये वे सच्चे मुरदे हैं। मुरदे को जिस प्रकार भूत लग जाता है इसी प्रकार अति व्यवहारासक्त को पांच महा भूत लगे हैं, वे उसे नहीं छोड़ते, अनेक कष्ट देते हैं और देते ही रहेंगे क्योंकि बुद्धि इंद्रियादिक होते हुए भी वह उनका सदुपयोग नहीं करता।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है:—काम, क्रोध और लोभ तीन नरक के द्वार हैं। स्त्री की आसक्ति में ये तीनों ही द्वार सम्मिलित हैं इसलिये विश्वास करने योग्य कौन नहीं है, इसके उत्तर में ऐसा कहा है कि स्त्री विश्वास करने योग्य नहीं है। अनुचित कर्म का आरम्भ, अपने ही जनों में विरोध, बड़े से स्पर्धा और स्त्री का विश्वास ये चारों ही मृत्यु के स्थान हैं, ऐसा भी कहा है। ये लक्षण भी स्त्रियों में बहुधा होते ही हैं इसलिये ऐसे लक्षणों से युक्त स्त्री का कभी विश्वास न करे। माया मोह में पटकने वाली है। माया सब पदार्थों में है तो भी स्त्री माया की प्रत्यक्ष मूर्ति है। माया का विश्वास करने वाला कोई भी सुखी नहीं होता तब माया की जो प्रत्यक्ष मूर्ति है, उसका विश्वास करके कौन सुखी हो सकता है ? जिसमें तमोगुण की विशेषता है ऐसी नारी और नास्तिक का कभी विश्वास न करे। उनके संग से भी दोष ही लगता है। स्त्री की दुष्टता, स्त्री के चरित्र और उसके अंतःकरण की किसी को भी खबर नहीं होती। ऊपर से कुछ दिखलाती

है और भीतर कुछ भाव भरा होता है। बहुधा स्त्रियां ऐसी ही होती हैं। विद्वान् पुरुष मरी हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करता। अपनी हो या पराई हो किसी भी स्त्री का विश्वास न करे। मां, बहिन, पुत्री आदि जितनी स्त्री जाति है, कोई भी विश्वास करने योग्य नहीं है। स्त्रियों का कृत्य महा गुप्त है। सम्बन्धियों में क्लेश कराने वाली, भाई भाई को लड़ाने वाली, माता, पिता, सास सुसर से झगड़ा कराने वाली, अपने से छोटे या बड़े से काम कराने वाली स्त्रियां ही होती हैं। स्त्री ईर्षा की पुतली और अपने पराये में भेद कराने में चतुर होती है, दूसरों की निन्दा करने कराने में प्रवीण और कठोर वचनों से हृदय को पीड़ित करने वाली होती है। बहुत खाना, बहुत सोना, वस्त्र और आभूषणों के लिये पति का रक्त चूसना, झूठी कसम खाना, गाली बकना, सहज में रुदन करना, मर्यादा रहित हास्य करना इत्यादि स्त्रियों में स्वभाविक होते हैं। ऐसी निंद्य स्त्री का सज्जन पुरुष विश्वास न करे।

बहादुरसिंह नामका एक राजपूत था। जब वह योग्य उम्र का हुआ तब अपने ग्राम के पास के एक राज्य नगर में पहुँचा और वहां वह लश्कर में भरती हो गया। थोड़े दिन पीछे ही दूसरे राजा के साथ युद्ध छिड़ जाने से उसे लड़ाई में जाना पड़ा। सामने वाला राजा बहुत सैन्य लेकर आया था। जिस सैन्य में बहादुरसिंह था, जब उसके बहुत से मनुष्य मारे गये तब सेनापति लड़ने लगा। वह खूब लड़ा परन्तु अन्त में मरण को प्राप्त हुआ। सेनापति का मरण होने से विजय से निराश होकर जब

सैन्य भागने लगी तब बहादुरसिंह ने सामने खड़े होकर कहा 'मेरे बहादुर साथी लोगो ! सेनापति की मृत्यु होने से क्या हुआ ? तुमको निराश होना न चाहिये। विचारो ! क्या तुम अपनी जननी और जन्म भूमि को शत्रुओं के हाथ में छोड़ कर प्राण बचाने की इच्छा से भागना चाहते हो ? यह कैसी शरम की बात है ? चलो ! चलो ! बहादुर वीर लोगो ! शत्रु के ऊपर एक साथ दौड़ पड़ो ! शत्रुओं की सैन्य को परास्त करके अपने राजा के मान की रक्षा करो।" यह सुन कर भागती हुई सेना रुक गई, पूर्ण उत्साह के साथ शत्रुओं के साथ लड़ी। थोड़े ही देर में शत्रु सैन्य के हजारों मनुष्य मारे गये और कई भागने लगे। बहादुरसिंह के राजा की जय हुई ! विजयपताका सहित सैन्य राजधानी में आया। राजा सब वृत्तान्त सुन कर बहादुरसिंह से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने उसे अपना प्रिय सेनापति बनाया।

राजा की एक परम सुन्दरी कन्या थी। वह विवाह के योग्य हो गई थी परंतु अभी तक उसका विवाह नहीं हुआ था। कन्या की यह प्रतिज्ञा थी:—"यदि मैं अपने पति से प्रथम मर जाऊं तो मेरे पति को मेरे साथ मरना पड़ेगा और यदि मेरा पति प्रथम मर जायगा तो मैं उसके साथ सती हो जाऊँगी, जो यह प्रतिज्ञा स्वीकार करे, वह मेरे साथ विवाह करे।" सेनापति बहादुरसिंह ने यह बात स्वीकार कर ली। राजा ने बहुत उत्साह पूर्वक उसके साथ राजकन्या का विवाह कर दिया। राजकन्या और बहादुरसिंह एक साल तक आनन्द से

रहते रहे। पश्चात् राजकन्या को एक असाध्य रोग हुआ। रोग दिन पर दिन बढ़ता गया, बहुत औषधि की गई परन्तु असाध्य रोग पर किसी औषधि ने काम न दिया। अन्त में राजकन्या का मरण हुआ और बहादुरसिंह को अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने का समय प्राप्त हुआ। मरी हुई राजकन्या और बहादुरसिंह एक मकान में बन्द किये गये और मजबूत पहिरा चौकी बैठाया गया। राजा का विचार था कि जब सेनापति क्षुधा पिपासा से मृत्यु को प्राप्त हो जाय तब दोनों के मृतक शरीर निकाल कर अग्नि संस्कार कराया जाय।

तीन दिन तक बहादुरसिंह भूखा रहा, रात्रि को नींद न आई। चौथी रात को कमरे के एक कौने में से सफेद रंग का एक बड़ा सर्प बाहर निकला और बहादुरसिंह को काटने को आने लगा। उसने म्यान में से तलवार निकाल कर सर्प के दो टुकड़े कर दिये। थोड़ी देर बाद एक और सर्प निकला परन्तु प्रथम सर्प के टुकड़े हुए देखकर वह फिर कौने में घुस गया। यह सर्पणी पूर्व सर्प की पत्नी थी, थोड़ी देर में वह मुख में एक जड़ी लेकर आई और उसने सर्प के दोनों टुकड़ों को मिलाकर वह जड़ी छुआ दी। दोनों टुकड़े जुड़ गये, सर्प सजीवन हो गया। बहादुरसिंह के डराने से सर्प सर्पणी दोनों घबड़ा कर बिल में घुस गये, जड़ी वहीं पड़ी रह गई। उस जड़ी का गुण देखकर बहादुरसिंह को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उसको मृतक संजीवनी जड़ी समझ कर उठा लिया और अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी राजकन्या के शरीर से छुआ दिया। तुरन्त राजकन्या सजीवन हो गई।

दम्पति के आनन्द का पार न रहा। बहादुरसिंह ने चौकी वालों को बुला कर, राजकन्या के सजीवन होने का समाचार सुनाकर फाटक खुलवाया और राजकन्या सहित जाकर राजा के चरणों पर शिर झुकाया। राजा और प्रजा में आनन्द ही आनन्द फैल गया। राजकन्या और बहादुरसिंह परम सुख के साथ अपने दिन व्यतीत करने लगे। संजीवनी जड़ी बहादुरसिंह ने लेली थी और अपने एक विश्वासपात्र नौकर के पास रख दी थी।

इतने दिन तक बहादुरसिंह को अपने माता पिता की याद न आई। अब उसको विचार आया कि वे दुःख में दिन काट रहे होंगे। वे दुःख उठाते रहें और मैं राज्य सुख भोगूं, यह उचित नहीं है। ऐसा विचार कर उसने अपने माता पिता और सम्बन्धियों से मिलकर आने के लिये राजा से आज्ञा मांगी। राजा रानी ने खुशी से आज्ञा दे दी। एक नौका तैयार की गई। उसमें बहुत सा धन और उत्तम उत्तम प्रकार की वस्तुयें रक्खी गई। राजकन्या सहित बहादुरसिंह अपने देश में जाने को नौका में बैठा। नाव चला दी गई। कितनेक दिनों में वह मध्य समुद्र में आ पहुँची। चारों तरफ जल ही जल दिखाई देता था और नौका भी बहुत जोर से चल रही थी। रात्रि का समय था। राजकन्या के साथ एक उसीकी उम्र का नौकर था जो उसकी बाल्यावस्था से उसीके साथ रहा था। राजकन्या उस नौकर में आसक्त होगई थी। उसका चरित्र नष्ट हुआ था और साथ ही धर्म भी नष्ट हो गया था, बुद्धि नष्ट होगई थी और सर्वस्व भी नष्ट होगया था।

अब वह स्वामी को मार डालना चाहती थी। उसने विचार कर रक्खा था कि स्वामी को मार डालने के बाद मैं नौकर के साथ परम सुख में रहूंगी।

अन्धेरी रात्रि में बहादुरसिंह नौका में पलंग पर सो रहा था और उसके पास उसका विश्वासपात्र नौकर शय्या पर सो रहा था, नौका बीच समुद्र में थी। तब राजकन्या और उसका चाकर-उपपति अपनी अपनी शय्या पर से उठकर धीरे से बहादुरसिंह के पास गये। राजकन्या ने उसकी छाती पर एक खंजर मारा और दोनों ने मिलकर उसे समुद्र में फ़ेंक दिया। आवाज़ होते ही बहादुरसिंह का नौकर उठ खड़ा हुआ तो उसने क्या देखा कि मालिक समुद्र में फेंक दिया गया है। वह भी तुरन्त ही जल में कूद पड़ा। उसको भी समुद्र में कूद पड़ा देखकर राजकन्या और उसका उपपति दोनों हँसने लगे। बहादुरसिंह को जल में पड़ते देखकर उसके नौकर ने अनुमान कर लिया था कि यह राजकन्या की करतूत है। वह बहादुरसिंह के पास गया और उसे पकड़ कर तैरने लगा। इतने में किसी टूटी हुई नौका का एक टुकड़ा उसके पास आता हुआ दिखाई दिया। उसे उसने पकड़ लिया और बहादुरसिंह को लेकर वह उसके ऊपर बैठ गया।

राजकन्या अब निश्चिन्त होगई थी। उसने मल्लाहों को अपनी राजधानी में नौका लौटा ले जाने की आज्ञा दी। बहादुर-सिंहको उसका विश्वासी नौकर किनारे पर ले गया और उस जड़ी को उसके शरीर से छुआ दिया। बहादुरसिंह तुरन्त ही जी उठा।

इस प्रकार दैव गति से दोनों बच गये। नौकर के मुख से बहादुरसिंह ने सब बात जान ली। नौकर ने कहा 'अब आपको अपने देश में ही चलना चाहिये। पापिनी राजकन्या को परमेश्वर उसके पाप का फल देगा।" बहादुरसिंह बोला "मैं देश में नहीं जाऊंगा, राजधानी में ही जाऊंगा और अपनी आंखों से राज कन्या की दुर्दशा होती हुई देखूंगा। यदि मैं राजधानी में न जाऊं तो दुष्टा अपने पिता को झूठ समझा कर ऐश आराम करेगी। उस कुलटा को तो उचित शिक्षा ही होनी चाहिये।" जिस स्थान पर ये दोनों उतरे थे, वहां से जल मार्ग की अपेक्षा स्थल मार्ग से राजधानी समीप थी इसलिये वे दोनों पैदल ही राजधानी में पहुंचे। बहादुरसिंह ने राजा से मिल कर सब वृत्तांत सुनाया। यह सुन कर राजा को बहुत क्रोध आया। उसने इन दोनों को एक स्थान पर छुपा रक्खा। कितनेक दिन बाद राज कन्या की नौका राजधानी में आ पहुंची। राज कन्या उतर कर पिता के पास गई, और रोती हुई बोली "मेरा नसीब फूट गया! मेरा स्वामी मर गया! मैं विधवा हो गई। पिछले जन्म में मैंने बहुत से पाप किये होंगे! जिससे मैं थोड़ी ही उम्र में विधवा हो गई! मेरे नमक हलाल नौकर ने उनकी बहुत सेवा की। वे मुझे रोती छोड़ चल दिये।" राज कन्या के नौकर ने भी समझा रक्खी हुई बात कही। इन दोनों का कथन सुन कर राजा ने कहा "पुत्री! तू अपने कहे हुए वचन को क्यों नहीं पालती? जब तू मर गई थी तब तेरा पति तेरे साथ मरने को तैयार हो

गया था, अब वह मर गया है तो तू उसके पीछे क्यों न मरी ?" यह सुन कर राज कन्या निरुत्तर हो गई। राजा ने बहादुरसिंह और उसके नौकर को सामने बुलवाया। उन्हें देखते ही राज कन्या और उपपति का मुख श्याम हो गया। राजा परम धार्मिक था, उसने राज कन्या से कहा "दुष्टा! तू मेरी कन्या नहीं है। तूने अपनी प्रतिज्ञा पालन न की तू धर्म भ्रष्ट है, नारी जाति में कुलटा है।" यह कह कर राजा ने जल्लाद को बुलवा कर दोनों का शिर धड़ से पृथक् करवा दिया और बहादुरसिंह को शिरोपा देकर और उसके विश्वास पात्र नौकर को बहुत सा धन देकर उन दोनों को उनके देश में भेज दिया। बहादुरसिंह माता पिता से मिला और उसे नारी जाति पर इतना तिरस्कार हो गया कि फिर उसने विवाह न किया।

कुलटा स्त्रियों के तो इस प्रकार के अनेक चरित्र प्रत्यक्ष ही हैं इससे वे विश्वास करने योग्य नहीं हैं। यद्यपि सब स्त्रियां इस प्रकार की नहीं होतीं, कोई कोई सद्गुणी भी होती है ऐसी सद्-गुणी भले ही निंद्य न हों तो भी विश्वास करने योग्य तो स्त्री मात्र नहीं है। जिसके मन में अनेक प्रकार की कामनायें भरीं हुई हों, वह निर्दोष नहीं रह सकती। इन्द्रियों के ही वश वर्तने वाली, दुष्ट स्वभाव वाली कलियुग का कारण रूप महा नीच आचरण वाली और संसार में पुनः पुन जन्म देने वाली स्त्री निन्दनीय ही है।

शंकाः—सब स्त्रियां ही विश्वास का पात्र नहीं हैं अथवा कोई एक कुलक्षण वाली ? जब सब ही विश्वास का पात्र नहीं

हां तो जगत् का व्यवहार किस प्रकार चलेगा ? जब पुरुषों को स्त्री का विश्वास न करना चाहिये तो स्त्रियां पुरुषों का विश्वास क्यों करें ? परस्पर विश्वास किये विना काम नहीं चल सकता।

समाधानः—कुलक्षण वाली, अति कामेच्छा वाली स्त्रियां निंद्य हैं और सती पतिव्रता आदिक निंद्य नहीं है तो भी नारी मात्र के हृदय का कभी भी विश्वास न करे, यह दृढ़ नियम मुमुक्षुओं को फल दायक है। सती असती की पहिचान का कोई बाहर का चिन्ह नहीं है इसलिये सामान्यता से कोई स्त्री विश्वास का पात्र नहीं है। व्यवहार के निमित्त का सामान्य विश्वास नहीं कहा जाता। हृदय का विश्वास न होना चाहिये, इससे व्यवहार में क्षति नहीं होती, यदि व्यवहार की हानि भी हो तो भी जिज्ञासुओं को उस हानि पर लक्ष न देना चाहिये क्योंकि जगत् की हानि पर चित्त देने से उनका जिज्ञासुपना मंद हो जाता है। जिस प्रकार मुमुक्षुओं को विशेष कर स्त्रियों के ऊपर विश्वास करना योग्य नहीं है इसी प्रकार मुमुक्षु स्त्रियों को भी पुरुष के ऊपर कभी विश्वास न करना चाहिये। शास्त्रीय नियम के अनुसार पति होते हुए स्त्रियों में स्वतंत्र मुमुक्षुता अयोग्य है। पति रहित स्त्री को कभी भी किसी पुरुष का विश्वास न करना चाहिये पिता, भाई, पुत्रादिक का भी एकांत में विश्वास न करे। नारी जाति का विश्वास न करने को जो कहा है उसका मुख्य अभि-प्राय अज्ञान से है जिसमें अज्ञान की विशेषता हो वह नास्तिक अथवा नारी विश्वास पात्र नहीं है। जिसमें रजो तमोगुण की

विशेषता है, काम और मोह बहुत है वह चाहे पुरुष हो तो भी अज्ञान की विशेषता से नारी स्वरूप है, उसका विश्वास न करे। जो नारी काम मोहादिक से रहित निर्मल हो, धर्म कर्म में दृढ़ता से आरूढ़ हो वह स्त्री पुरुष रूप है, उसको ऊपर की नारी नहीं कह सकते ॥१९॥

तत्वं किमेकं शिवमद्वितीयम्।
किमुत्तमं सच्चरितं यदस्ति ॥
किं कर्म कृत्वा नच शोचनीयः।
कामारि कंसारि समर्चनाख्यम् ॥२०॥

अर्थः—प्रश्नः-एक तत्त्व कौनसा है? उत्तरः-एक अद्वितीय तत्त्व शिव है। प्रश्नः-उत्तम क्या है? उत्तरः-उत्तम चरित्र (आचरण) उत्तम है। प्रश्नः-किस कर्म को करके शोचना नहीं पड़ता? प्रश्नः-शिव और विष्णु की सेवा करने से।

छप्पय।

एक तत्त्व है कौन, वेद सन्तों ने गाया।
अद्वितीय शिव एक, नित्य निश्चल निर्माया ॥
क्या उत्तम कहलाय, श्रेष्ठ पुरुषों का भूषण।
उत्तम सद् आचार, शुद्धि कर नाशक दूषण ॥
कौन कर्म करके पुरुष, शोच रहित होजाय है।
सेवा करि शिव विष्णु की, पुरुष प्रशंसा पाय है ॥२०॥

विवेचन ।

इस पद्य में तीन प्रश्न किये गये हैं और उनके उत्तर दिये गये हैं। ये तीनों प्रश्न ज्ञान कर्म और उपासना के हैं। प्रथम प्रश्न बहुत सूक्ष्मता से किया हुआ अति गम्भीर है। प्रथम प्रश्न है कि तत्त्व क्या है। उसका उत्तर दिया है कि अद्वितीय शिव तत्त्व ही तत्त्व है। इससे समझना चाहिये कि तत्त्व से भिन्न जो कुछ है सब अतत्त्व रूप है। तत्त्व एक है और अतत्त्व की प्रतीति अनेक हैं। मूल पदार्थ तत्त्व होता है। तत्त्व कल्याण स्वरूप है, उससे भिन्न अतत्त्व अकल्याण स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि एक अद्वितीय जो शिव तत्त्व है, वह ही सत्य है, उसके सिवाय सब ही असत्य है। वह तत्त्व आत्म तत्त्व है, आत्मा ही सत्य है, उसके सिवाय जो कुछ है सब असत्य है। जिसके समान कोई दूसरा न हो उसे अद्वितीय कहते हैं। जिस एक ही में सबका समावेश होजाय, वह अद्वितीय है जो एक और अनेक के भेद से रहित परम है, उसे अद्वितीय कहते हैं। शिव कल्याण को कहते हैं। जिस तत्त्व में अविचल कल्याण है उसे शिव तत्त्व कहते हैं। अद्वितीय तत्त्व एक अनेक के भेद से रहित दोनों का प्रकाशक है और सब प्रकार के दुःखों से रहित परम शांति—आनन्द स्वरूप है, इसलिये वह अद्वितीय तत्त्व है। वह तत्त्व सर्वव्यापक है, सब देश, सब काल और सब अवस्थाओं में एकसा विकार रहित है, उत्पत्ति और नाश रहित है, देश, काल और वस्तु से जिसके टुकड़े न हो, इस प्रकार का है और सत्यरूप,

ज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप है। उसको जानने से सब विपत्तियों की समूल हानि और परम पद की प्राप्ति होती है। जो एक तत्त्व को जानता है, वह तत्त्व स्वरूप हो जाता है। उस तत्त्व को जानना ही आत्म ज्ञान है। इसके सिवाय किसी अन्य स्थान में, क्रिया में अथवा उपासना में परम शांति की प्राप्ति नहीं होती जब तक भेद भावना की निवृत्ति नहीं होती तब तक शांति की आशा ही व्यर्थ है। भेद भावना की निवृत्ति अद्वितीय तत्त्व के बोध से होती है इसलिये सब से परम, सच्चा और अंतिम तत्त्व वह ही है। जिस तत्त्व को वेद के जानने वाले अक्षर कहते हैं, वैराग्य वाले यती लोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस तत्त्व की इच्छा करके ब्रह्मचर्य का आचरण किया जाता है, वह ही अद्वितीय परम तत्त्व है। वेद आदि सत् शास्त्र जिस तत्त्व के बोध कराने में प्रवृत्त हो रहे हैं, संसार में सिद्ध करने का जो अंतिम कार्य है, जिसके निमित्त यज्ञादि अनेक प्रकार की क्रियायें की जाती हैं, वह परम तत्त्व है। उसके बोध में परमानन्द है और उसके अबोध में संसार है। लोक में देखा जाय अथवा कल्पना में आ सके इस प्रकार का यह तत्त्व नहीं है इसलिये अद्वितीय है। करोड़ों में कोई एक संस्कार वाला पुरुष, वैराग्य और अभ्यासादि पूर्ण प्रयत्न से उसको प्राप्त कर सकता है। जो प्राप्त हुआ ही प्राप्त होता है, वह अद्वितीय तत्त्व है। जिसको शिव तत्त्व कहो, विष्णु का परम पद कहो, ब्रह्म कहो, सत् कहो अथवा सच्चिदानन्द कहो; वह ही अद्वितीय तत्त्व है। जिसको प्राप्त करके अन्य प्राप्त करना शेष नहीं रहता, वह शिव तत्त्व है।

प्रपंच से रहित, जीव ईश के भेद से रहित, भेद का निवर्तक अभेद तत्त्व कहलाता है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप प्रपंच जिसमें बड़े बड़े मोह को प्राप्त होते हैं, ऐसे मोह की जहां निवृत्ति हो जाती है और त्रिपुटी टूट जाती है, जप, तप, दान, अध्ययन, यज्ञ, भक्ति और ज्ञान का जो निचोड़ है वह ब्रह्म तत्त्व है। इस तत्त्व की प्राप्ति धन करके पुत्र करके, शास्त्र करके अथवा क्रिया करके नहीं होती। जगत् भाव वाले को जगत भाव में रहते हुए, उस तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। जगत् भाव के वैराग्य और सद्गुरु के बोध कराने से ही उसकी प्राप्ति होना संभव है। जब ब्रह्मनिष्ट सद्गुरु कृपा करके अध्यारोप और अपवाद के न्याय से समझाता है तब ही संस्कारी पुरुष उसे अपना आप जानता है। न होते हुए भी जो भाव प्रतीत होता है, उसे अध्यारोप कहते हैं। ब्रह्म में जगत् तीन काल में नहीं है उसमें उसका आरोप किया गया है। ब्रह्म में ब्रह्म न दीखते हुए, जगत् दीखना इसको आरोप कहते हैं। उसके निवृत्त करने को—उसका भाव हटाने को अपवाद कहते हैं। इस प्रकार आरोप के हटाने से जो शेष तत्त्व ब्रह्म रहता है, उसको जानने वाला कृतार्थ होता है। तत्त्व बोध रूप अग्नि सब प्रकार की आशाओं रूप घास को जलाने वाला है। एक संत से एक जिज्ञासु ने अद्वितीय तत्त्व के लिये प्रश्न किया था। उसको जैसे समझाया गया था, वह इस प्रकार है:—

एक समय एक मुमुक्षु एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के पास पहुँचा। वह कुछ सत्संग किया हुआ था और अधिकारी के लक्षणों से भी

युक्त था। सन्त में और उसमें इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए:-मुमुक्षु:-महाराज! मैं एक अद्वितीय तत्त्व को समझना चाहता हूँ। संत ने मुमुक्षु को पहिचान कर और योग्य अधिकारी होने से अपने उपदेश का अधिकारी और अपने ऊपर श्रद्धा वाला समझ कर कहा, बच्चा! तू अद्वितीय तत्त्व को किस प्रकार समझना चाहता है? मुमुक्षु:—महाराज! जिस प्रकार मैं समझ सकूं, उस प्रकार समझाइये। मैं साधुओं के कहने और शास्त्रों के पढ़ने से जानता हूँ कि उस तत्त्व को समझना बुद्धि से बाहर है, इसलिये मैं कहता हूँ कि जिस प्रकार समझाया जाय, उस प्रकार आप मुझे समझाइये। संत:—तू बहुत चतुर दीखता है! वह तत्त्व समझने और न समझने से विलक्षण है तो भी उसका बोध होता है। वह बोध स्वरूप है। तू मेरे शब्दों में अपनी चित्त वृत्ति जोड़ दे, जो जो शब्द कहे जांय, समझाये जांय, उनके भाव युक्त होता जा, इस प्रकार करने से मैं समझता हूँ कि तुझे एक अद्वितीय तत्त्व का बोध हो जायगा। तू जो जो देखकर समझ रहा है, वह सब पसारा तीन और पांच का है। वे तीन और पांच तुझे छोड़ने पड़ेंगे। माया के तीन गुण और पांच तत्त्वों में स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप से सब संसार है, यह तू जानता है। सब इन्द्रियों का व्यवहार पांच भूतों में ही होता है। जो जिस तत्त्व की इन्द्रिय है, वह उस तत्त्व को ही ग्रहण करती है। जैसे नेत्र अग्नि तत्त्व का है वह अग्नि के तत्त्व रूप को ही ग्रहण करता है। कर्ण आकाश तत्त्व का है, वह आकाश के तत्त्व शब्द को ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, वह उनके तत्त्वों

का ही होता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियां भी पांच तत्त्व की हैं और अपनी अपनी क्रिया अपने अपने तत्त्व में ही करती हैं। अन्य तत्त्व की इन्द्रिय अन्य तत्त्व का ज्ञान अथवा क्रिया नहीं कर सकती। इससे क्या सिद्ध हुआ कि पांच विषय, उनकी पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां पांच तत्त्व के सिवाय अन्य नहीं हैं। जगत् में पांच ही तत्त्व हैं। जैसे तेरी इन्द्रिय, विषय, ज्ञान और क्रिया हैं. ऐसी ही सब जगत् की हैं। ऐसा नहीं है कि तेरी इन्द्रियों का गुण और तत्त्व कुछ और हो और दूसरे की इन्द्रियों का और हो यानी ऐसा नहीं है कि तेरी आंख तो देखती हो और दूसरे की सूंघती हो इसलिये पांचों इन्द्रियां भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न दीखती हुई भी एक ही हैं क्योंकि सबका कार्य एक ही है और पांचों पांच तत्त्व की हैं। तब मुख्य पांच तत्त्व ही संसार में रहे। सबका वर्गीकरण करने से पांच ही निकलते हैं, अब ये पांचों स्थूल सूक्ष्म और कारण पांच नहीं किंतु तीन ही हैं। सब इन्द्रियों की चेष्टा और ज्ञान भिन्न भिन्न है परन्तु एक मन सबके साथ अनुगत है, मन में सब एकता को प्राप्त होती हैं। तब पांच हट कर उनका मूलरूप एक मन ही रहा। जैसे तेरी इन्द्रियों का मनमें समावेश होता है इसी प्रकार जगत्की सब व्यक्तियों की इन्द्रियों की एकता मनमें होती है। तब क्या सिद्ध हुआ कि भिन्न २ व्यक्तियों के भिन्न २ मन दीखते हुए भी वस्तु रूपसे मन सबमें एक ही प्रकार का होने से एक ही है। इसी प्रकार मन का समावेश बुद्धि में होता है। तब क्या हुआ कि पांच में से आया हुआ सब जगत् यहां से एक मन रूप ही रहा, मन से एक बुद्धि रूप ही

रही, यानी अब जगत् न रहा, एक बुद्धि ही रही। जब बुद्धि अपने कारण रूप अविद्या में जाती है तब वह भी नहीं रहती। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि भी अपने कारण अविद्या में लय हो जाती है। इस प्रकार बुद्धि को लय करके अब देख कि क्या रहा। तू कहेगा कि कुछ भी न रहा, यह तेरा कहना ठीक है, प्रकृति के सब कार्यों में से कोई भी न रहने से तू कहता है कि कुछ न रहा; तूने जिसको कुछ समझा था, वह वहां न रहा, इसलिये तुझे शून्य रूप भासा। वह शून्य रूप ही आद्य माया है। शून्य होने से ही उसे असत्, माया, काल्पनिक और भ्रांति कहा जाता है। आद्य माया तक तू अभी पहुँचा है, जब उसे भी तू हटा दे तो क्या रहे। अब जो रहता है, वह बुद्धि के बाहर का है। वहां कुछ नहीं था, तो भी उसका आधार तो था ही क्योंकि आधार बिना, कुछ नहीं कहा जाता। जहां कुछ नहीं था, वहां स्थान-आधार था, वह ही सब का अधिष्ठान, शुद्ध और चैतन्य साक्षी है, वह ही एक अद्वितीय तत्त्व है। बुद्धि को हटा कर बोध स्वरूप को समझना चाहिये लक्ष में लाना चाहिये। यदि तू कहे कि बुद्धि बिना मैं उसे समझ नहीं सकता तो अन्य प्रकार से तू उसे समझ नहीं सकता। बुद्धि प्रकृति के पसारे को ही जानने में समर्थ है, अद्वितीय तत्त्व को जानने में समर्थ नहीं है। अद्वितीय तत्त्व स्वयं प्रकाश है इसलिये वह आप ही जाना जाता है, उसे जानने को बुद्धि की आवश्यकता नहीं है परंतु उसके बोध के निमित्त बुद्धि को हटाने की आवश्यकता है। मुमुक्षु को शब्दों के साथ ठीक ठीक चलता हुआ, बुद्धि के भाव को हटाता हुआ,

बोध को प्राप्त हुआ देखकर, संत बोले, बोल ! अब तुझे अद्वितीय तत्त्व की पहिचान हो गई ? मुमुक्षु हाथ जोड़ कर बोला, हां ! महाराज ! मैं समझ गया. अब तो मुझे मालूम होता है कि इस तत्त्व के बोध के निमित्त बुद्धि को हटाने की भी आवश्यकता नहीं है। आहा हा ! कैसा आश्चर्य है ! यह तो सभी स्थान में भरा हुआ है ! इसे कोई ढांक नहीं सकता इतनी प्रत्यक्ष वस्तु को जिसमें रात्रि दिन मेरा रमण हो रहा है, अज्ञान के वश में नहीं जानता था ! बड़ा आश्चर्य है ! अब तो मुझे मालूम होता है कि बहुत ही सहज बात है ! पहाड़ के समान हो रही थी। तिल की ओट पहाड़ है ! धन्य है आप गुरुदेव को ! आपकी कृपा से मैं कृतार्थ हुआ ! मेरे अनादि अज्ञान का क्षण भर में नाश हो गया ! संतः—तूने जिस तत्त्व को जाना है, वह ही शिव कल्याण स्वरूप कहा जाता है। बोल ! क्या यह तत्त्व विकारी हो गया था ? क्या वह अज्ञान में पड़ा था ! मुमुक्षुः -नहीं ! महाराज ! नहीं, उसमें कभी भी विकार न था, वह शुद्ध है, हम ही अविकारी को विकारी समझ कर दुःख पा रहे थे ! हमारा अहंभाव ही आत्म तत्त्व के बीच में महान् परदा था। जब खुदी उठ गई तो खुदा कुछ दूर नहीं। कभी अप्रत्यक्ष न होने वाले, कभी न दबने वाले खुदा को खुदी की चादर से ढक कर खुदी वाला उसको नहीं देखता था। खुदी की चादर फटते ही सब जगह खुदा ही खुदा दीखता है ! आहा ! इस तत्त्व में न शोक है, न दुःख है, आनन्द का समुद्र लहरा रहा है ! मेरे तेरे का वहां झगड़ा नहीं है। संसार की रचना करने वाली महा माया का भी

वहां कुछ पता नहीं है। कैसा आश्चर्य है वाह ! अद्वितीय तत्त्व अद्वितीय ही है ! उसे समझना—उपमा देना नहीं बनता ! तत्त्व से ही तत्त्व को समझे तो भले जाना जाय। सन्तः—मुमुक्षु ! तुझको धन्य है, मेरे थोड़े से ही उपदेश से तू कृतार्थ हो गया ! पके हुए फल को तोड़ने में परिश्रम नहीं करना पड़ता, हाथ लगाने से ही हाथ में आ जाता है। अब तत्त्व में तू अपना टिकाव कर ! मुमुक्षुः—महाराज ! मैं टिकाव क्या करूं, वह तो हमेशा से ही टिका हुआ है, कभी हट जाता हो तो टिकाने का यत्न करूं ! सन्तः—वाह ! शाबाश ! धन्य है तुझको !

दूसरा प्रश्न कर्म का है। सद् चरित्र उत्तम है, सद् चरित्र रहित जो उत्तमपना है, वह उत्तम नहीं है। जिससे कल्याण हो, इस प्रकार के आचरण को उत्तम आचरण कहते हैं और वह ही उत्तम चरित्र कहलाता है। सदाचार से रहना उत्तम चरित्र है। शास्त्र में मुमुक्षु—अधिकारी के जो लक्षण बताये हैं, उनका वर्ताव करना उत्तम चरित्र है। सत् परमात्मा है, उसकी प्राप्ति के निमित्त जो वर्ताव किया जाता है, वह वर्ताव सत् के निमित्त होने से सदाचरण है अथवा स्ववर्णाश्रम धर्म का शास्त्रानुसार उचित वर्ताव करना क्रम से ज्ञान में लाने वाला होने से सत् चरित्र कहा जाता है। शास्त्रानुसार सकाम अथवा निष्काम कर्म करना, भक्ति—उपासना करना अथवा ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों को प्राप्त करना ये सब सत् चरित्र हैं। उनमें भी मुमुक्षु का वर्ताव सबसे उत्तम है। सामान्यता से तो धर्म का आचरण,

सत्यभाषण, अद्रोह, शास्त्र का अवलोकन, सदाचरण कहे जाते हैं। इन साधनों से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, मुमुक्षुता प्राप्त होती है और ज्ञान होता है। काम क्रोधादिक का पराजय करके इन्द्रिय मन को वश करके अद्वितीय तत्त्व को जानने की इच्छा करना, आत्म विचार करना, सत् शास्त्र पर श्रद्धा करना, साधु समागम, गुरु सेवा, दान आदिक सदाचरण कहे जाते हैं। सदाचरण से वर्तने वाला इस लोक में औरों की अपेक्षा शान्त रहता है, सतोगुणी होता है और आगे की भी तैयारी कर लेता है, इसलिये वह उत्तम है। ऊपर जो अद्वितीय तत्त्व कहा है, उसके प्राप्त करने के योग्य होने के निमित्त जिन कर्मों को करने की आवश्यकता है, वे वेद प्रतिपादित कर्म उत्तम आचरण रूप हैं। सद् चरित्र आत्म प्राप्ति के योग्य बनाता है। महाभारत में कपोत और व्याध का एक दृष्टान्त अतिथि सत्कार रूप उत्तम चरित्र का इस प्रकार है:—

एक व्याध जंगल में घूमा करता था और जिन पशु पक्षी आदिक को वह पकड़ सकता था अथवा अपने जाल में फँसा सकता था, उनसे अपना निर्वाह किया करता था। एक समय उसने एक भारी जंगल में प्रवेश किया और बहुत दूर निकल गया। इतने ही में चारों दिशा से घूमती हुई भारी हवा के साथ आंधी आई। उसने बड़े बड़े वृक्षों को तोड़ डाला। आकाश बादलों से आच्छादित हो गया। बिजली चमकने लगी, भयंकर गर्जना होने लगी और थोड़ी देर में इतनी भारी वर्षा हुई कि सब

स्थान जल से पूर्ण हो गया। व्याध अपनी रक्षा के लिये इधर उधर दौड़ता था परन्तु उसे कोई निर्भय स्थान नहीं मिलता था। उसने एक कपोती अपने जाल में पकड़ रक्खी थी, जाल सहित वह एक विशाल वृक्ष के नीचे आया। रात्रि बहुत हो गई थी इसलिये उस वृक्ष के नीचे रात्रि व्यतीत करने का विचार करके व्याध वृक्ष को प्रणाम करके बोला "हे वृक्ष में विराजमान देवताओं! मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, तुम मेरी रक्षा करना!" ऐसा कह कर पत्तों को बिछा कर, एक पत्थर शिरहाने रख कर व्याध सो गया। उस वृक्ष की शाखा पर अपने कुटुम्ब सहित एक कपोत बहुत समय से रहता था। उसकी स्त्री कपोती वर्षा के प्रथम चारे के निमित्त जंगल में गई थी। वह अभी तक आई न थी। कपोत चिन्ता में था और अपनी स्त्री के गुण याद करके दुःखी हो रहा था। जो कपोती व्याध के जाल में फँसी हुई थी वह उसी की स्त्री थी, पति के वचन सुन कर कहने लगी "हे स्वामिन्! मैं जाल में फँसी हुई हूँ, मैं एक ऐसा उपाय बताती हूँ जिसमें तुम्हारा कल्याण हो, आप ऐसा करो कि आपकी शरण में आये हुए की रक्षा करो। यह व्याध तुम्हारा अतिथि है, तुम्हारे घर के नीचे तुम्हारा आश्रय लेकर सोया हुआ है, भूख से और शीत से पीड़ित है, इसका सत्कार करो। हमने ऐसा सुना है कि जो गृहस्थ शक्ति के अनुसार धर्मानुकूल बर्ताव करता है वह परलोक में जाकर अक्षय लोक को प्राप्त होता है। हे स्वामिन्! तुम प्रजा वाले हो, अपने देह के ऊपर की दया को छोड़

कर धर्म और अर्थ का ग्रहण करके, इस व्याध का इस प्रकार सत्कार करो कि जिसमें वह प्रसन्न हो! तुम मेरे लिये चिन्ता मत करो, व्यवहार के निमित्त तुमको और स्त्री मिल जायगी !” जाल में फँसी हुई अति दुःख से पीड़ित तपस्विनी कपोती इस प्रकार कह कर स्वामी के मुख को देखने लगी। कपोत स्त्री के धर्म और युक्ति सहित वचन सुन कर व्याध का यत्न पूर्वक पूजन करने को तैयार हुआ और बोला “हे व्याध ! आप भले आये ! कहिये मुझे क्या आज्ञा है ? तुमको किसी प्रकार की चिन्ता न करनी चाहिये, तुम ऐसा ही समझो कि तुम अपने ही मकान में निर्भयता से ठहरे हुए हो, बोलो, मैं आपका क्या हित करूं ? तुम हमारे शरण आये हो, और अतिथि हो !” कपोत के वचन सुन कर व्याध बोला “मुझे बहुत जाड़ा लग रहा है, शीत से मेरी रक्षा कर !” कपोत अपनी शक्ति अनुसार सूखे पत्तों का ढेर कर के अग्नि लेने गया और अग्नि लाकर पत्तों को सुलगा कर बोला “हे अतिथि ! अब तुम भली प्रकार अपने शरीर को गरमाओं !” व्याध बैठा हो गया और तापने लगा। शरीर गरमाने से उसे आनन्द हुआ वह कहने लगा “मुझे क्षुधा बहुत लगी है !” कपोत बोला “मेरे पास इतना वैभव नहीं है कि मैं आपकी क्षुधा निवृत्त कर सकूं !” ऐसा कह कर वह दुखी हुआ और विचारने लगा “अब क्या करना चाहिये ? हम लोग संचय नहीं रखते, यह ठीक नहीं है, यदि संचय किया होता तो आज ऐसे प्रसंग में अतिथि का सत्कार हो जाता !” थोड़ी देर विचार कर बोला “मैं तुमको तृप्त करूंगा !” ऐसा कह कर उसने अग्नि प्रदीप्त की और

कहा "ऋषि, देवता, महात्मा, पितृ और अतिथि पूजन बड़ा धर्म है, ऐसा मैंने पूर्व में सुना है। हे सौम्य ! तुम मुझ पर कृपा करो और मुझे ग्रहण करो !" ऐसा कह कर प्रस होते हुए कपोत ने अग्नि की तीन प्रदक्षिणा कीं और उसमें कूद पड़ा। कपोत को अग्नि में पड़ा हुआ देख व्याध विचारने लगा "अरे ! मैंने यह क्या घोर कर्म किया ? अपने कर्म में क्रूर और महा निन्द्य ऐसा जो मैं, उसको अधर्म ही प्राप्त होगा ! इसमें संशय नहीं है ! बुद्धि हीन और दुष्ट ऐसा जो मैं, उसने यह क्या कर्म किया ? दुष्ट कर्म करके ही जीने वाले ऐसे मुझको हमेशा पातक ही लगेगा ! मैं शुभ कर्म का त्याग करके पक्षियों को जाल में फँसाने का नीच कर्म करता हूँ ! महात्मा कपोत ने अपने शरीर को जलाकर, मुझ जैसे दुष्ट को उपदेश दिया है ! मैं अपने कुटुम्ब, स्त्री, पुत्रादिक और प्रिय प्राण को छोड़ दूंगा। मैं सब प्रकार के भोग से रहित होकर ग्रीष्म ऋतु के समान शरीर को सुखाऊंगा, अनेक प्रकार की तपश्चर्या करके शरीर को कृष करके उपासना से परलोक सम्बन्धी धर्म का आचरण करूंगा ! इस पक्षी ने देह अर्पण करके अतिथि पूजन कर दिखलाया है कि धर्म ही परम गति है ! मैंने पक्षी में जैसा धर्म देखा है, ऐसे ही धर्म का मैं आचरण करूंगा !" इस प्रकार विचार कर व्याध जाल आदि को छोड़ कर जंगल में तपश्चर्या करने चला गया। जाल में से छूटी हुई कपोती पति का गुण गान करती हुई, रुदन करती हुई उसी अग्नि में प्रवेश कर गई। कपोत कपोती दोनों अपने उत्तम आचरण से और व्याध की बुद्धि सुधर जाने के पुण्य प्रभाव से दिव्य स्वरूप धारण करके स्वर्ग में गये।

व्याध भी कुछ समय तक तपश्चर्या करने से शुद्ध होकर स्वर्ग में गया। सत् चरित्र का फल उत्तम ही होता है। सत् चरित्र करने वाले स्वर्ग में जाते हैं और निष्कामता से किये हुए ऐसे आचरणों से अन्तःकरण शुद्ध होता है और स्वरूप बोध के योग्य होता है।

तीसरा प्रश्न उपासना का है कि क्या करने से शोक नहीं होता? इसके उत्तर में शिव और विष्णु की सेवा करने को कहा है। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, कर्म से शुभ भोग की प्राप्ति होती है और शिव, विष्णु की भक्ति-उपासना से चंचलता की निवृत्ति और उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। एक की भक्ति न करते हुए शिव और विष्णु दोनों की भक्ति कही है। ऐसा कथन कारण उपासना और कार्य उपासना दर्शाता है अथवा साकार निराकार के भेद को दर्शाने वाला है। दोनों में से किसी प्रकार की उपासना ज्ञान प्राप्ति तक ले जाने वाली होने से सब प्रकार के शोच की निवृत्ति में सहायक है इसलिये उपासना करने से मनुष्य शोचनीय नहीं होता। मतलब यह है कि शोच, चिंता आदिक जिसमें न हो ऐसा कार्य उपासना है। जगत् के सब कार्य चिंता से होते हैं और चिंता को उत्पन्न करने वाले होते हैं। उपासना चिंता की निवृत्ति करने वाली है। शोच अज्ञान के कार्य में होता है। उपासना अज्ञान की निवृत्ति करने में मदद रूप है इसलिये शोच रहित कही जाती है। महादेव काम के शत्रु कहे जाते हैं, काम का भाव असंगल स्वरूप है और काम का नाशक अकाम

मंगल स्वरूप है इसलिये उपासक शिव को कारण ब्रह्म समझकर उनकी उपासना करे। कंस को मारने वाले श्रीकृष्ण विष्णु स्वरूप होने से कार्य ब्रह्म है। विष्णु स्थिति स्वरूप है, पालन उनका धर्म है इसलिये विष्णु विशेषता रूप समष्टि होने से कार्य ब्रह्म है। शिव संहारकर्ता होने से, संहार में एक अद्वितीय तत्त्व ही रहता है इसलिये शिव को कारण ब्रह्म समझना चाहिये। अथवा जो जिसको इष्ट हो, उसकी ब्रह्म भाव से भक्ति करे। उसे ही कारण ब्रह्म समझे और अन्य देवताओं को कार्य ब्रह्म समझे अथवा अपने इष्ट को निर्गुण, निराकार समझ कर, आद्य तत्त्व जान कर उसकी उपासना करे और अन्य देवताओं को सगुण समझे। यदि योग्यता न हो तो साकार में दृष्टि देते हुए निराकार के लक्ष रखने का यत्न करे। सारांश यह है कि किसी प्रकार से भी की हुई उपासना शुभ फल ही देती है। उपासना में जितनी श्रद्धा, दृढ़ता और जिस प्रकार का ज्ञान होगा उसके अनुसार वह फल देने वाली होगी। उपासना करने वाला शोच-दुःख को प्राप्त नहीं होता। संसार के निमित्त और जितने कार्य हैं वे सब प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दुःख रूप ही हैं इसलिये उपासना ही करने योग्य है।

वास्तविक तो उपासना में भेद नहीं है परंतु गुणों के अनुसार भेद होता है। जिस प्रकार का पात्र उपासना करता हो, जितना वह ग्रहण कर सकता-समझ सकता हो, उसके लिये जब उसी प्रकार के भाव का उपास्य हो तब ही वह कुछ कर सकता है। यदि पात्र की योग्यता न हो तो परम शुद्ध तत्त्व की उपासना

उससे नहीं हो सकती, इसी कारण उपासना में भेद है। ध्येय के अनुसार ध्यान यानी उपासना होती है और ध्येय के अनुसार की उपासना जिसमें परब्रह्म का अभेद भाव से। चिंतवन होता है, उसे अहंग्रह उपासना कहते हैं। दूसरी तटस्थ अथवा प्रतीक उपासना होती है, यह उपासना त्रिपुटी में होती है। तीसरे प्रकार की अंगाश्रित उपासना होती है, इसमें अंगों का आश्रय किया जाता है।

जब 'मैं वैश्वानर हूं' इस प्रकार वैश्वानर की उपासना अभेद भाव से की जाती है, तब उपासक को वैश्वानर भाव की प्राप्ति होती है, जब 'मैं हिरण्यगर्भ हूं' इस प्रकार हिरण्यगर्भ की अभेद उपासना की जाती है, तब उपासक को हिरण्यगर्भ भाव होता है और जब 'मैं ईश्वर हूं' इस प्रकार अभेद उपासना की जाती है तब ईश्वर भाव की प्राप्ति होती है। ये तीनों ईश्वर के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर हैं इसलिये अभेद उपासना होते हुए भी वह कार्य ब्रह्म है और जब 'सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूं' इस प्रकार वास्तविक तत्त्व के लक्ष से उपासक निर्गुण उपासना करता है तब उसे ब्रह्म प्राप्ति होती है। यह कारण ब्रह्म की उपासना है, ध्येय के अनुसार है और अहंग्रह है। जिस उपासना में अपने को ग्रहण करके उपास्य बनाया जाय, वह अहंग्रह उपासना है। विष्णु की चतुर्भुज मूर्ति जैसी शास्त्र में सुनी है, ऐसे ध्येय को धारण करके जो उपासना की जाती है, वह ध्येय के अनुसार है, यह उपास्य उपासक के भाव सहित त्रिपुटी में होती है, शास्त्र के अनुसार है, साक्षात्कार कराने वाली नहीं है,

परंतु जब यह ही अहंग्रह होती है, तब साक्षात्कार होता है। प्रतीक उपासना में अन्य में अन्य की उपासना की जाती है। जैसे शालिग्राम को देखते हुए जब उसमें विष्णु की भावना से विष्णु का ध्यान किया जाय तो वह प्रतीक उपासना है इसको तटस्थ भी कहते हैं। उसका फल अदृष्ट द्वारा उत्पन्न होता है। किसी प्रकार भी उपासना हो, समय पाकर शुभ फल देने वाली होने से शोच नहीं रहता ॥२०॥

शत्रो र्महाशत्रु तमोऽस्ति को वा,
कामःसकोपानृत लोभ तृष्णाः।
न पूर्यते को विषयैः स एव,
किं दुःख मूलं ममताभिधानम् ॥२१॥

अर्थः—प्रश्नः—शत्रुओं में महा शत्रु कौन है ? उत्तरः—क्रोध, असत्य, लोभ और तृष्णा सहित काम महाशत्रु है। प्रश्नः—विषयों से कौन तृप्त नहीं होता ? उत्तरः—वही (काम)। प्रश्नः—दुःख की जड़ क्या है ? उत्तरः—ममता दुःख की जड़ है।

छप्पय।

शत्रुन में बड़ शत्रु कौन, हारे सब जिससे।
महा शत्रु है काम, हार माने जग इससे॥
क्रोध झूँठ औ लोभ, तथा तृष्णा ये चारी।
रहें काम के साथ, शत्रु सब ही ले धारी॥
कौन विषय से तृप्त नहिं होता है ? सो काम ही।
मूल दुःख की कौन है, दुःख मूल ममता कही॥२१॥

विवेचन ।

जिस करके विषयों की इच्छा होती है, उसको काम कहते हैं। यह काम अनर्थ की मूल होने से महा शत्रु है। काम अपने साथ क्रोध, अनृत, (असत्य) लोभ और तृष्णा को लिये हुए होता है, अपने साथियों सहित जीव के साथ शत्रु के समान वर्ताव करता है। और शत्रु बाहर होते हैं, काम रूपी शत्रु शरीर के भीतर होने से सब शत्रुओं से विशेष है इसलिये महा शत्रु है। बाहर के शत्रु स्थूल हैं, काम रूपी शत्रु सूक्ष्म है। स्थूल से सूक्ष्म प्रबल होता है इसलिये काम बलिष्ट शत्रु है। शत्रु सहायता से बलिष्ट होकर शत्रुता कर सकते हैं। काम रूपी शत्रु के क्रोध, अनृत, लोभ और तृष्णा बलिष्ट साथी हैं, इसलिये वह महाशत्रु है और इसका नाश करना अत्यन्त कठिन है। काम की उत्पत्ति रजोगुण से होती है, विषय उसका भोजन है। विषयों के अत्यन्त सेवन रूप भोजन से भी उसकी तृप्ति नहीं होती, ऐसा वह महा भक्षी है। उसको महान् पापी और वैरी जानना चाहिये। वह ज्ञान के ऊपर आवरण—परदा करने वाला है इसलिये मुमुक्षुओं को उसे अपना नित्य का पक्का वैरी समझना चाहिये। जो प्रयत्न करके काम को वश कर लेता है, वह जगत् में जीत जाता है, उसे ही परम पद प्राप्त होना संभव है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि हे पार्थ! जब मन में आई हुई सब कामनाओं को मनुष्य छोड़ देता है और परमानन्द स्वरूप अपने आत्मा में संतुष्ट रहता है, तब वह निश्चल बुद्धि वाला कहा जाता

है। इस स्थान पर अनेक प्रकार के विषयों की कामना का विस्तार वाला अर्थ काम का लेना चाहिये। क्रोध, असत्य, लोभ, और तृष्णा की उत्पत्ति काम से है इसलिये काम इन चारों का पिता है, वे चारों इसके पुत्र अथवा साथी हैं। नाम रूपात्मक मिथ्या पदार्थ जो इन्द्रियों के भोग रूप हैं, उनमें आसक्ति—राग का होना काम कहा जाता है। जब कामना उत्पन्न होती है और उसके पूर्ण होने में किसी प्रकार की बाधा होती है तो रोष की उत्पत्ति होती है, इसी का नाम क्रोध है यह भी महा शत्रु है। नाम रूपात्मक देह इन्द्रिय आदिक सब संसार है। ये सब मायिक होने से अनात्मा हैं। अनात्म में आत्म भाव करना अनृत–झूंठ कहा जाता है, यह भी महा शत्रु है। अथवा काम की पूर्ति के निमित्त व्यवहारिक नीति को भी छोड़ देना व्यवहारिक झूंठ है, यह भी शत्रु है। आने जाने वाले द्रव्य आदिक जो झूंठे हैं, उनके संचय करने में आसक्ति करना लोभ कहा जाता है। जगत् का लोभ दुःख दायक है क्योंकि वह आत्म भाव से दूर करता है और जगत् में भी दुःख ही देता है इसलिये यह भी शत्रु है। नाम रूपात्मक मिथ्या पदार्थों में मन दौड़ा करता है इनमें से हटता नहीं है। इतना तो प्राप्त हुआ है, इतना और हो जाय, ऐसा भाव करना तृष्णा है। विशेष प्राप्ति की इच्छा करना तृष्णा है। यह भी अनेक प्रकार से आंतर में जलाने वाली है, प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से दुःख रूप होने से महा शत्रु है। इस प्रकार ये सब महा शत्रु शरीर में ही रहते हैं। जैसे घर के चोर को पकड़ना कठिन होता है इसी प्रकार इनको पकड़ना कठिन है

क्योंकि जिसको हमने अपना मान रक्खा है, यदि वह ही शत्रुता करे तो समझने में नहीं आ सकता। घर का चोर जितनी हानि करता है, उतनी हानि बाहर का चोर नहीं करता। ये पांचों शत्रु सूक्ष्म स्वरूप हैं, स्थूल रूप से उनका स्वरूप देखने में नहीं आता। जब स्थूल में हानि होती है, तब भी कोई विवेकी पुरुष ही इस हानि-शत्रुता को जानते हैं। ये शत्रु उजाले और अंधेरे दोनों ही में हानि पहुंचाते हैं, गुरकी डाल कर, बुद्धि को भ्रष्ट करके शत्रुता की सिद्धि करते हैं। जब तक शत्रुओं को मित्र समझ कर उपेक्षा न की जाय तब तक यह मालूम भी नहीं पड़ता कि वे शत्रु हैं! बाहर का शत्रु केवल हानि पहुंचाता है और बहुत करे तो जान ले लेता है, इतने ही में उसकी शत्रुता समाप्त हो जाती है परंतु उपरोक्त महा शत्रु तो अनेक जन्मों तक दुःख दिया ही करते हैं। एक शरीर के नाश होने से भी उनका नाश नहीं होता, दूसरे शरीर में प्रकट होकर वे अपनी शत्रुता चालू करते हैं। इनके समान महा शत्रु जगत् में दूसरे कोई नहीं हो सकते। जिसने इन शत्रुओं को भली प्रकार पहिचान लिया है, वह ही उनके पराजित करने का यत्न करके निश्चिंत होता है। इन महा शत्रुओं में एक विशेषता और भी है जगत् में जितने अन्य प्रकार के शत्रु हैं, वे अपनी हयाती में ही शत्रु बन सकते हैं किन्तु ये शत्रु कई जन्मों तक बने रहते हैं, मरते ही नहीं हैं। जो कामादिक शत्रुओं को परास्त कर देता है, उस मनुष्य का संसार में क्या ब्रह्मांड भर में भी कोई शत्रु नहीं रहता। ये शत्रु सब शत्रुओं की मूल होने से महा शत्रु कहे गये हैं। ये पांचों शत्रु

विशेष करके साथ ही रहते हैं। इन सब की मुख्य उत्पत्ति काम से होने के कारण काम सब के साथ अवश्य रहता है। काम की निवृत्ति होने पर सब की निवृत्ति हो जाती है और काम रहते हुए सब ही बने रहते हैं, जिस समय जिसकी आवश्यकता होती है, उस समय वह प्रगट हो जाता है। यद्यपि सूक्ष्म भाव से उनका समझना होता है तो भी एक व्यवहारिक दृष्टान्त देते हैं:—

अहमद नगर से पांच कोस दूर एक छोटा सा ग्राम है, उसमें रमणी नाम की एक विधवा रहती थी। राधा बाई नाम की उसकी एक पुत्री थी। पड़ोस में मरहठों का एक कुटुम्ब बसता था। उसमें मंगेशराव नामका एक लड़का था। बाल्यावस्था में राधा बाई और मंगेशराव साथ साथ खेला करते थे। रमणी और मंगेशराव के कुटुम्ब में मित्रता थी। इसलिये बड़े होने पर भी राधा बाई और मंगेशराव एक दूसरे के मकान पर बिना रोक टोक आया जाया करते थे। उन दोनों में प्रेम हो गया था और दोनों के कुटुम्बियों का विचार भी था कि उन दोनों का आपस में विवाह कर दें। इस समय औरंगजेब अहमद नगर में रहता था। एक दिन उसने घूमते हुए युवावस्था के आरम्भ में प्राप्त हुई राधा को देख कर अहमद नगर में अपने महल में भेज दिया। राधा अत्यन्त दुःखी हुई और मंगेशराव के दुःख का तो वर्णन ही नहीं हो सकता किसी का कुछ भी वश न चला! दोनों कुटुम्ब रो पीट कर बैठ रहे! राधा बलात्कार मुसलमान बनाई गई और उसका नाम फुलजानी बेगम रक्खा गया। थोड़े ही दिनों में वह मोती बाग़ नाम के एक

उद्यान की मालिक बनाई गई। राधा को सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त था परन्तु मंगेशराव बिना उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। उसे रात दिन उसीका ध्यान रहता था। इधर मंगेशराव की भी यह ही हालत थी। वह पागल के समान फिरता था और अपनी मानी हुई प्यारी किसी प्रकार एक बार मिल जाय, इसका अवकाश ढूँढ़ा करता था। फुलजानी ने एक दासी अपने विश्वास में ली और उसके हाथ एक पत्र लिखकर अपने प्यारे मंगेश के पास भेजा। पत्र में लिखा था:—"प्यारे! तुम किसी भी प्रकार से एक बार मुझसे मिलो और अपने हाथ से ही मेरी इस कंगाल देह का नाश करो। यदि मुझ पर तुम्हारा थोड़ासा भी प्रेम हो तो आओ! हम दोनों ही साथ साथ देह का त्याग करें, जिससे पाप-मय पृथ्वी पर रहना न पड़े! हम दोनों ही स्वर्ग में सुख से मिलें! इस नरक में से उद्धार होने का कोई भी उपाय नहीं है! मेरे हृदय में छुरी मार कर तुम मेरा तारण करो!" दासी की चतुराई से मंगेशराव मोती बाग में पहुँच गया! राधा उसके पास आकर खड़ी हो गई। जब मंगेशराव ने राधा का हाथ पकड़ना चाहा तब वह दूर हट कर बोली "मंगेश! मैं छूने योग्य नहीं हूँ, मुझे मत छुओ!" मंगेश ने कुछ न सुनते हुए राधा का हाथ अपने हाथ में लिया और प्रेम से मलने लगा। इस समय राधा के नेत्रों में जल भर आया! मंगेश बोला "प्यारी राधा! मैं जानता हूँ कि तेरा शरीर अपवित्र हुआ है, परन्तु तेरा हृदय अपवित्र नहीं हुआ है, तेरा पवित्र हृदय अब भी मेरा ही है, उस पवित्र हृदय की पवि-त्रता कायम रखने के लिये ही मैं इस देह का छेदन करने को यहां

आया हूँ !" यह कहकर मंगेश ने अपनी कमर में से दो छुरियां निकालीं और एक राधा को देकर कहा "प्यारी ! मैं दया, माया सबका विसर्जन करके यहां आया हूँ. हम दोनों सुख से मरेंगे और स्वर्ग में मिलेंगे !" राधा बोली "हाय ! मुझे स्वर्ग किस प्रकार मिलेगा !" मंगेश आलिंगन करता हुआ बोला "अवश्य मिलेगा ! जिसका हृदय पवित्र होता है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति अवश्य होती है !" दोनों अपने प्राण देने को तैयार हुए। मंगेश ने राधा के मारने को छुरी सहित हाथ ऊंचा किया, इतने ही में पीछे से एक काले खोजे ने अचानक आकर हाथ पकड़ लिया। दोनों चौंक पड़े ! राधा क्रोधित होकर बोली "मसरूर ! (खोजे का नाम) क्या तू जानता है कि मैं कौन हूं ?" खोजे ने गंभीरता से कहा "हां ! फुलजानी बेगम !" राधा बोली "मैं हुक्म देती हूँ कि तू इस युवान को छोड़ दे, यह मेरा संबंधी है।" खोजा बोला "आपका हुक्म सिर माथे पर, लेकिन बादशाह के हुक्म बिना मैं कैसे छोड़ सकता हूं ? यह आपकी और अपनी जिन्दगी खत्म करना चाहता था !" राधा बोली "बहुत अच्छा ! यदि तू इसे बन्दी कर सकता है तो कर ले !" यह कह कर उसने जमीन पर जोर से पैर मारा ! उसी समय जमीन फट गई और मंगेश उसमें उतर गया। जमीन फिर वैसी ही हो गई। राधा हास्य करती हुई बोली "जा ! यह बात तू अपने बादशाह से कह दीजो !" यह कह कर वह अपने महल में घुस गई। मसरूर ने सीटी बजाई, बहुत से खोजे आ गये। पूछने से मसरूर को मालूम हुआ कि यहां से शहर के फाटक तक एक सुरंग है। मसरूर ने बहुत

से खोजे मंगेश को पकड़ने के लिये सुरंग के दूसरे छोर पर भेज दिये।

मंगेश सुरंग में उतरा, थोड़ी देर तक अन्धेरा रहा, फिर प्रकाश मालूम हुआ। वहां मंगेश को वह ही दासी मिली और कहने लगी "हे युवान ! तुम जल्दी से भाग जाओ। मसरूर ने गड़बड़ कर दी ! सुरंग के उस दरवाजे पर तुम्हें एक घोड़ा तैयार मिलेगा, तुम उस पर बैठ कर भाग जाना ! खुदा की महरबानी होगी तो तुम्हारा फिर मिलाप होगा !" मंगेश सुरंग के द्वार पर पहुंचा और घोड़े पर बैठ कर निकल चला। थोड़ी दूर पर मसरूर के भेजे हुए घोड़े सवारों ने उसे पकड़ लिया। मंगेश बेहोश हो गया। जब वह होश में आया तो उसने अपने को मजबूत रस्सों से बँधा हुआ पाया और सामने सिंहासन पर औरंगजेब को देखा, जिसकी गोद में उसकी प्राण प्यारी राधा थी ! मंगेश को यह देख कर सैकड़ों बिच्छुओं के डंकों की पीड़ा हुई ! नंगी तलवार लिये हुए चार मनुष्य मंगेश को औरंगजेब के पास लाये। औरंगजेब बोला "ए नवजवान ! तू अजीब हिम्मत का आदमी है ! जहां परंदा भी पर नहीं मार सकता वहां तू किस तरह पहुंचा ? सच कहेगा तो मैं तुझे माफ कर दूंगा !" मंगेश दृढ़ता से बोला "बादशाह सलामत ! मैं कबूल करता हूं कि मैंने अपराध किया है, मुझे देहांत दंड दीजिये, मैं कभी नहीं कहूंगा कि मैं किसके पास, किस लिये और किस प्रकार से आया था !" औरंगजेब क्रोधित होकर बोला "इस काफिर को मार डालो !" मंगेश को शांत रहा देख

कर बादशाह और भी क्रोधित हुआ और स्वयं तलवार लेकर सिंहासन से उतर कर मंगेश के तलवार मारी। देखता क्या है कि इस तलवार से फुलजानी बेगम कट गई है और गुलामों की तलवार से मंगेशराव भी मर गया है। बादशाह इस घटना से आश्चर्य में पड़ा। उसने इसका रहस्य जानने के लिये सब से पूछा और अभय वचन दिया। तब मंगेश को ले आने वाली दासी ने सब वृत्तांत कह सुनाया। औरंगजेब अपनी समझी हुई प्यारी फुलजान की मृत्यु से शोक को प्राप्त हुआ। आठ दिन अहमद नगर में शोक मनाया गया। राज ठाठ से राधा की लाश को कबर में दफना कर चबूतरा बनवाया गया और उस पर यह कविता लिखी गई:—

"नहिं जान्यों हिय बालिका है इतनों रस मूल।
नहिं तो कभी न तोड़ते हम यह सुन्दर फूल॥"

हमको यह विचारने की आवश्यकता नहीं है कि राधा और मंगेश ने जो किया था, वह ठीक था या नहीं। इस दृष्टांत से मात्र इतना ही देखना है कि काम से ही दुःख हुआ। औरंगजेबने कामना करके ही राधाको पकड़ कर जनानखाने में भेजा था। उसने उस पर आसक्त होकर उसे ऊंचा दर्जा दिया था। इस कामनाके कारण से ही औरंगजेब को दुःख और शोक हुआ। मंगेश पर जनानखाने में प्रवेश करने का आरोप लगा कर ही वह बादशाह के सामने लाया गया था। मंगेश किस कारण और किस प्रकार से जनानखाने में गया, यह जानने की औरंगजेब की इच्छा थी।

उसकी इस कामना का प्रत्युत्तर मंगेश की तरफ से विरुद्ध मिला। औरंगजेब की कामना में प्रतिबंध पड़ने से उसे क्रोध उत्पन्न हुआ। उस क्रोध का परिणाम रूप वह आसन से उठकर मंगेश के मारने को दौड़ा। इसका फल रूप राधा और मंगेश का मृत्यु हुआ। औरंगजेब के क्रोध ने उसको ही दुःख दिया। जिसको वह अपनी प्यारी समझता था. उसका ही शिर उसकी तलवार से कट गया। मंगेश और राधा विवाह करके संसार के भोग भोगना चाहते थे। उनकी इस कामना में औरंगजेब बाधा रूप हुआ। उनकी इस कामना का भंग होने से उन दोनों को भी क्रोध आया। परंतु उस कामना में आड़ रूप प्रतिपक्षी उनसे बलिष्ट था। बलिष्ट के ऊपर उनका क्रोध चल नहीं सकता था इसलिये उन दोनों ने क्रोध का फल रूप अपना ही बलिदान देना सोचा। यहां नहीं मिल सकते तो मर कर स्वर्ग में मिलेंगे, इस आशा—लोभ से दोनों एक दूसरे को मारने को तत्पर हुए। इस कामना में भी खोजा आड़ रूप हुआ इससे राधा को क्रोध आया। बादशाह की परवा किये बिना उसने तहखाने में लात लगाई और मंगेश उसमें उतर गया। खोजे की कामना मंगेश को पकड़ने की थी। जब राधा की कारवाई से वह उसके हाथ से छूट गया तब उसने क्रोध कर उसकी खोज की और सवारों को भेज कर उसको पकड़वा मंगाया। जब मंगेश का वृत्तांत सुना तब वह भी दुःखी हुआ। इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ किसी प्रकार की भी कामना दुःख दायक ही होती है। सुख कामना फलमें शुभ होने पर भी कामना के समय तो दुःख ही देती है।

ऊपर बताये हुए कामादि कभी पूर्ण होने वाले नहीं हैं क्योंकि कामना मायिक पदार्थों की होती है, जो एक से एक विशेष है इसलिये उनसे कभी तृप्ति नहीं होती। जो कोई कामना की तृप्ति करके सुखी होना चाहे, उसे पूरा मूर्ख समझना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि काम और क्रोध की उत्पत्ति रजोगुण से होती है, वे बहुत खाने वाले यानी कभी तृप्त न होने वाले और महा पापी हैं; क्योंकि जितने पाप होते हैं, उनकी जड़ काम है, यदि कामना न हो तो कोई पाप नहीं हो इसलिये काम को हमेशा वैरी समझना चाहिये। काम ज्ञानियों के ज्ञान के ऊपर परदा करने वाला है इसलिये नित्य का वैरी है। हे अर्जुन! काम रूप अग्नि महा प्रचंड है, उसकी शांति कभी नहीं होती। जिसने काम को वश कर लिया—जीत लिया, उसने महान् शत्रु को मार कर परम विजय प्राप्त किया, ऐसा समझना चाहिये। जब मन में आई हुई सब कामनायें छोड़ दी जाती हैं और आत्म करके ही संतुष्ट होता है, तब वह स्थित प्रज्ञ यानी ज्ञानी कहलाता है। जिस प्रकार काम में दुःख भरा हुआ है इसी प्रकार उससे उत्पन्न होने वाले क्रोध, असत्य, लोभ और तृष्णा हमेशा आन्तर को जलाने वाले होने से दुःख रूप हैं। कामना करने पर भी प्रारब्ध के सिवाय विशेष भोग की प्राप्ति नहीं होती किन्तु दुःख तो अवश्य होता है। जिस प्रकार चारों तरफ से भरा हुआ समुद्र नदियों के जल की इच्छा नहीं करता तो भी नदियां सब तरफ से जल बटोर २ कर जबरदस्ती समुद्र में लाकर पटकती हैं। गरमी से जल जाने में और नदियों का जल मिलने में निष्काम

समुद्र मुखी दुःखी नहीं होता। नदियां कामना वाली हैं, वे विशेष जल की इच्छा करती हैं इसलिये वर्षा ऋतु में मलिन हो जाती हैं और गरमी में सूख भी जाती हैं। समुद्र कामना नहीं करता तो भी जो जल उसमें जाने वाला है, उसको लेजा कर नदियां उसमें पटकती हैं। समुद्र के समान कामना रहित मनुष्य सुखी होता है और नदियों के समान कामना करने वाला दुःखी होता है और मलिन और खाली रहता है।

दुःख की मूल क्या है, इसके उत्तर में ममता दुःख की मूल बताई है। जब कामना करके अनात्म वस्तु में आत्म भाव धारण करके मैं बनता है—स्थूल शरीरादिक को व्यक्ति भाव से मैं मानता है, यह मैं मानने के दृढ़ करने का कार्य जब काम कर लेता है तब उसमें से मेरा रूप ममता निकल पड़ती है। मैं निश्चित होने से जिस प्रकार का मैं समझा है, उसके हित और अहित का बोध होता है। जिसको वह अपना मानता है—अपने स्वाधीन समझता है, उसके ऊपर जो उसकी आसक्ति है, उसको ममता कहते हैं। मैं का आसक्ति रूप से किया हुआ विस्तार ममता है। मैं और मेरा इस अभिमान को ममता कहते हैं। अहं और मम करने वाला अज्ञानी है और जिसका व्यक्ति भाव का अहं, मम निवृत्त हो जाता है, वह अज्ञान से भी निवृत्त हो जाता है। उसका मोक्ष होने में विलम्ब नहीं होता। सब प्रकार के अभिमान किसी न किसी प्रकार के ममत्व से होते हैं। जाति, वर्ण, आश्रम, वैभव, कुटुम्ब आदिक में अनेक प्रकार की ममता

होती है, यह सब दुःख की मूल है। सामान्यता से कार्य करने में ममता नहीं होती, आसक्ति युक्त भाव ही ममता रूप है जिसका दुःख के सिवाय अन्य फल नहीं है। किसी प्रकार से सुख न देने वाले, सब प्रकार से दुःख ही देने वाले ऐसे अनात्म भाव की ममता का अवश्य त्याग करना चाहिये। 'मैं कर्ता हूं' इस प्रकार का जिसे ममत्व है, जो आत्मा में कर्तापने के अभिमान को धारण करता है, उसे महान् विषधर सर्प ने काटा है। उसे सर्प का विष चढ़ा हुआ है, ऐसा समझना और 'मैं आत्मस्वरूप अकर्ता हूँ' जिसने ऐसा दृढ़ निश्चय किया है, वह अमृत पान करके सुखी होता है।

शंकाः—यह तुम क्या कहते हो? ममता का नाश किस प्रकार हो? ममता का नाश होना अशक्य है! ममता की निवृत्ति होने पर तो जगत् ही न रहेगा! ममता छोड़ने वाला पुरुष भी नहीं रह सकता। मैं बहुत स्थानों पर घूमा हूं, मुझे आज तक ममता रहित कोई नहीं मिला। वृक्ष और पत्थर ही ममता रहित हो सकते हैं, क्या उनके समान जड़ होने को तुम इष्ट समझते हो?

समाधानः—मैंने इतना कथन किया तो भी तू ममता के स्वरूप को न समझा। तूने ममता का स्वरूप क्या समझा है? ममता की निवृत्ति अनेकों ने की है और हो सकती है। उसकी निवृत्ति कठिन अवश्य है परन्तु अशक्य नहीं है। कार्य करने के सामान्य भाव को हम ममता नहीं कहते। ममता विशेष भाव वाली

होती है इसलिये ऐसी विशेष भाव वाली ममता की निवृत्ति से संसार और संसार के प्रवाहित व्यवहार की हानि नहीं होती। ममता रहित कार्य उत्तम होता है। जितने दृढ़ ज्ञानी हैं, सब ममता रहित होते हैं। प्रारब्ध के अन्त तक उनका शरीर और व्यवहार भी दीखता है। ममता एक साथ निवृत्त नहीं होती, एक प्रकार की ममता की निवृत्ति करने को दूसरे प्रकार की ममता धारण करनी पड़ती है। प्रथम कार्य से ममता हटा कर कारण में धारण की जाती है और फिर यह कारण भी जिसका कार्य है ऐसे कारण की ममता को निवृत्त कर सकते हैं। जैसे 'मैं जीव हूँ' इस भाव की ममता को निवृत्त करने के लिये 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का अभिमान धारण किया जाता है। इस प्रकार की धारण की हुई ममता जीव भाव को निवृत्त करती है। जीव भाव निवृत्त करने को ही यह ममता धारण की जाती है, जब वह अपना कार्य कर चुकती है तो उसका कुछ प्रयोजन नहीं रहता, तब यह ममता स्वयं निवृत्त होजाती है और ब्रह्म रूप से स्थिति होजाती है। अज्ञान का भाव दृढ़ होने से ममता की निवृत्ति असंभव दीखती है परन्तु अंतःकरण शुद्ध होने पर वह इतनी कठिन नहीं रहती। अनेक ममताओं की मूल सब से बलिष्ट देहाध्यास है, देहाध्यास से 'मेरी देह' ऐसी ममता होती है। समग्र ममता की वास्तविक निवृत्ति तो स्वरूप के बोध होने के बाद ही होती है। सब प्रकार की विद्याओं का पढ़ना, कार्य्य करना, चातुर्यता दिखलाना ये सब बुद्धि के धर्म हैं, आत्मा के

नहीं हैं, ऐसा जानने से विद्या का ममत्व निवृत्त होता है। जाति, वर्णाश्रम आदिक शरीर के धर्म हैं। इस प्रकार आत्मा में किसी प्रकार की ममता न रहने से और आत्मा का यथार्थ बोध हो जाने से ममता की संपूर्ण निवृत्ति हो जाती है।

बन्दरिया को अपने बच्चे पर बहुत ममता होती है, सब स्थान पर वह उसे साथ ही रखती है, छाती से चिपटाये रहती है और जब किसी कारण से बच्चा मर जाता है तब भी उसे छोड़ती नहीं है। कुछ दिन पीछे जब वह सड़ जाता है और उसमें से बहुत दुर्गन्ध निकलने लगती है तब ही उसे फेंकती है। मरे बच्चे पर भी उसे इतनी ममता होती है। एक दिन एक बादशाह ने अपने वजीर से पूछा कि सब से अधिक प्यारी वस्तु क्या है, सब से विशेष ममता किसमें है? तब वजीर ने कहा कि अपना शरीर सब से अधिक प्यारा होता है। जितनी ममता अपने शरीर पर होती है उतनी अन्य किसी पर नहीं होती। बादशाह ने कहा कि नहीं, ऐसा नहीं है, देखने में तो ऐसा आता है कि मनुष्य पुत्र को अपने प्राण से भी अधिक चाहता है, पुत्र के निमित्त अपने प्राण दे देता है, तब कैसे समझा जाय कि पुत्र से अधिक अपना शरीर प्रिय है। वजीर चतुर था, कहने लगा कि अच्छा, मैं आपको कल प्रत्यक्ष दिखला दूँगा। दूसरे दिन वजीर के कहे अनुसार एक पक्के मकान के आंगन में चारों तरफ आग जलाई गई और बीचमें एक बन्दरिया बच्चे सहित छोड़ दी गई। बादशाह और वजीर उसकी चेष्टा को देखने लगे। सुलगी हुई आग जब

बन्दरिया के बच्चे की तरफ आती तो वह उसको लेकर बगल में दबा लेती थी और जब दूसरी तरफ आती तो वह बच्चे को वहां से निकाल कर दूसरी बग़ल में लगा लेती थी। आग की लौ बढ़ती गई और पक्की ज़मीन गरम हो गई और यहां तक गरम हो गई कि बन्दरिया उसे सह न सकी। जब उसकी जान पर आ बनी तो जिस बच्चे को वह बहुत संभाल करती थी और जो उसे जान से भी प्यारा था, वही बच्चा एक मिट्टी के ढेले के समान हो गया, वह उसे जमीन पर डाल कर आप उसके ऊपर बैठ गई। बादशाह को निश्चय हो गया कि अपने शरीर की ही सब से विशेष ममता होती है। ममता के कारण से ही कोई अपने शरीर को छोड़ना नहीं चाहता। अनेक प्रकार के कष्टों के घर रूप शरीर को स्वेच्छा से कोई छोड़ना नहीं चाहता। शरीर की ममता ही सब प्रकार के कष्टों को भुगवाती है। शरीर की ममता ही अनेकों से ममता कराती है और ममता के कारण ही बारम्बार जन्म मरण हुआ करता है इसलिये ममता दुःख की महा जड़ है।

एक ग्राम में एक ब्राह्मण रहता था। उसकी एक स्त्री और एक पुत्र था। एक दिन ब्राह्मण को मीठी पूरियां खाने की इच्छा हुई। उसने ब्राह्मणी से कहा "आज मुझे मीठी पूरियां खाने की इच्छा है, थोड़ी सी पूरियां बना ले।" ब्राह्मणी बोली "घर में घी, शक्कर, आटा नहीं है, सामान ला दोगे तो बना दूंगी।" ब्राह्मण भिक्षा मांगने चला गया और पांच सात घर मांग कर आटा, घी, दूध और शक्कर लेकर घर पर आया। सामान आते ही ब्राह्मणी

पूरियां बनाने में लग गई। ब्राह्मण खाने में कंठ तक भरने वाला था। उसकी इच्छा थी कि सब पूरियां मैं ही खा जाऊं, उनमें से किसी को न दूं इसलिये दीवार के पीछे बैठकर वह पूरियां गिनने लगा। जब कढ़ाई में पूरी छोड़ी जाती थीं तभी 'छनन' आवाज़ होती थी, आवाज़ होते ही ब्राह्मण समझ जाता था कि अब पूरी छोड़ी गई। इस प्रकार वह गिनता रहा, जब मीठी पूरियां तैयार हो गईं तब रसोई के बाहर के दालान में पैर पर पैर चढ़ा कर भोजन करने बैठा। जब ब्राह्मणी पूरी बना रही थी तब उसका लड़का टिकटिकी लगाये देखता जाता था और पूरी मांगने का इशारा करता था। ब्राह्मणी अपने पति के स्वभाव को जानती थी। इसलिये लड़के को पूरी देने की उसकी इच्छा न थी परन्तु लड़के की हठ से उसने दो पूरियां उसे देदी थीं। बची हुई सब पूरियां ब्राह्मणी ने ब्राह्मण के सामने रख दीं। ब्राह्मण ने पूरियां गिन गिन कर भोजन करना आरम्भ किया। अन्त में मालूम हुआ कि जितनी पूरियां उसने गिनी थीं उससे दो कम हुईं। तुरंत ही उसने स्त्री को बुला कर पूरियां कम होने का कारण पूछा। ब्राह्मणी बोली "जितनी पूरियां थीं, मैंने सब तुम्हारे सामने ला कर रखदीं हैं, घर में एक भी नहीं रक्खी है।" ब्राह्मण बोला "जब तू पूरियां बना रही थी, मैं गिनता गया था, दो पूरी कम हैं, वे दोनों कहां गईं?" ब्राह्मणी घबराई और अब सत्य ही कहना पड़ेगा, ऐसा सोच कर बोली "दो पूरी लड़का लेकर खा गया है।" ब्राह्मण इस समय तो कुछ न बोला परन्तु उसे लड़के से द्वेष हो गया क्योंकि उसने विचारा कि अभी तो यह बच्चा ही

है अभी से मेरा हिस्सा बांट लेता है, मेरी पूरियों में से खाने का उसे क्या अधिकार था ! ऐसा लड़का किस काम का !" ऐसा विचार कर कुछ दिन बीच में छोड़ कर एक दिन उसने स्त्री से कहा "मैं लड़के को उसके काका के पास लिये जाता हूँ। वह अपने भतीजे से मिलने को बहुत आतुर हो रहा है !" ऐसा कह कर वह लड़के को उसके काका के पास ले चला। चार कोस चलने के बाद लड़का बोला "पिताजी ! मैं थक गया हूँ, अब मुझसे चला नहीं जाता !" ब्राह्मण बोला "तो इस पेड़ के नीचे सोजा !" लड़का सो गया। वहां भारी जंगल था, ब्राह्मण ने सोचा कि "जैसे रामचन्द्र को उसके पिता दशरथ ने वनवास दिया था इसी प्रकार मैं भी पूरियां खा जाने के अपराध में अपने लड़के को वन में छोड़े जाता हूँ !" ऐसा विचार कर वह लड़के को छोड़ कर ग्राम की तरफ चल दिया और घर पहुँच कर स्त्री से कहा "लड़के को जंगल में एक व्याघ्र मिल गया था उसने उसे मार खाया, मैं महा परिश्रम से बच आया हूँ !" इस प्रकार सुन कर ब्राह्मणी श्रावण भादों की वर्षा के समान नेत्रों में आंसू गिराती हुई विलाप करने लगी! वह अपने जी में समझ गई कि पूरियां खाने के कारण इस दुष्ट ने जान बूझ कर पुत्र को मार डाला है अथवा कहीं फेंक आया है। विचारी का कोई उपाय चल नहीं सकता था इसलिये रो पीट कर बैठ रही और कुछ दिनों में पुत्र के वियोग से बहुत दुःखी होकर मर गई। ब्राह्मण को गलित कुष्ट का रोग हो गया इसलिये वह भी अत्यन्त दुःखी हो रहा है, कोई उसकी सहाय करने वाला नहीं है, एक

स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता फिरता है, दुर्गंधि के कारण कोई उसके पास तक नहीं जाता। ऐसी दुर्दशा में वह अभी तक अपना दुःख रूप जीवन व्यतीत कर रहा है।

हाय री ममता ! तेरे दुःखों की कथा कहने की किसी में सामर्थ्य नहीं है। दो पूरियों के बदले में अपने प्यारे से प्यारे कुल दीपक कुमार को व्याघ्र रीछ वाले जंगल में छोड़ देने की सामर्थ्य ममता के सिवाय और किस में हो सकती है! कोई कोई पुत्र की ममता के कारण अपने प्राण तक देने वाले भी निकलते हैं, और कोई कोई दो पूरियों के बदले पुत्र के प्राण लेने वाले भी निकलते हैं। इसी प्रकार जीव अपने प्यारे से प्यारे आत्मा को रोटी के टुकड़े के बदले संसार रूप जंगल में फेंक देते हैं। ऐसे जीव कुष्टि होकर दुर्गन्धि से दुःख पाते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। यह ममता का फल है ॥२१॥

किं मंडनं साक्षरता मुखस्य,
सत्यं च किं भूत हितं तदेव।
त्यक्त्वा सुखं किं स्त्रियमेव सम्यक्,
देयं परं किं त्वभयं सदैव ॥२२॥

अर्थः—प्रश्नः-मुख की शोभा क्या है? उत्तरः—साक्षरता। प्रश्नः—सत्य क्या है? उत्तरः—जिस करके सबका हित हो, वह ही सत्य है। प्रश्नः—क्या त्यागने से सुख होता है? उत्तरः—स्त्री

का भली प्रकार त्याग करने से। प्रश्नः-देने योग्य उत्तम दान क्या है ? उत्तरः-जिस करके निरंतर अभयता प्राप्त हो।

छप्पय।

मुख के भूषण कौन ? पाय शोभा मुख जिनसे।
प्रश्न निरूपक वाक्य, होय शोभित मुख इनसे॥
किसको कहते सत्य, सर्व सम्मत न असत हो।
सत्य वही कहलाय, सभी का जिसमें हित हो॥
क्या त्याग से होय सुख, नारि तजे सुख हो परम।
परम दान है कौन सा ? अभय दान है श्रेष्ठ तम॥२२॥

विवेचन।

अनेक प्रकार की विद्या को सम्पादन करके चतुर होने को साक्षरता कहते हैं। सामान्य रीति से विद्वान् को साक्षर कहते हैं। अक्षर दो प्रकार के हैं, वर्ण को अक्षर कहते हैं और दूसरे परब्रह्म को अक्षर कहते हैं। जिसके मुख से विद्या के प्रभाव से शुद्ध वर्ण निकलते हैं, विचार पूर्वक और समयोचित रहस्य वाले होते हैं, ऐसा बोलने वाला साक्षर कहा जाता है। मूर्ख और पंडित की पहिचान वस्त्राभूषण, रूप, रंग अथवा शरीराकृति से नहीं होती, वचन के निकलने से ही वे पहिचाने जाते हैं इसलिये मुख का भूषण साक्षरता है, ऐसा उत्तर दिया है। बाजूबन्द, चन्द्र के समान चमकते हार, स्नान, चंदन, पुष्प अथवा सुन्दर बालों से पुरुष नहीं शोभता परन्तु संस्कार वाली वाणी

विद्वान् को शोभा देती है अन्य गहने नहीं। यह व्यवहारिक साक्षरता हुई वास्तविक साक्षरता तो परब्रह्म के निमित्त कथन करना ही है, परब्रह्म को जानने वाला ही पूर्ण साक्षर है। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है इसलिये तत्त्वज्ञ ही साक्षर है। चाहे व्यवहार के साथ में हो चाहे योग्य अधिकारी के उपदेश देने के समय में हो, जो वचन निकले ब्रह्म भाव से रहित न हो। जिस प्रकार कस्तूरी डिबिया में नहीं छिपती इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानी का आत्म ज्ञान वाणी द्वारा बाहर फैलता है। अन्य प्रकार की वाणी जो संसार चक्र में फँसाने वाली है, व्यर्थ है, इतना ही नहीं किन्तु संकटों को उत्पन्न करने वाली है। बिना प्रयोजन ऐसी वाणी का उच्चारण न करना चाहिये। परब्रह्म सर्व व्यापक है, ज्ञानियों को वह कभी अदृश्य नहीं होता। ज्ञानी व्यवहार में प्रवृत्त हो तो भी उसमें रहा हुआ परब्रह्म का भाव उत्तम प्रकार से वाणी क्रिया आदि द्वारा बाहर निकलता रहता है। वह प्रत्येक पदार्थ और काल में परब्रह्म का ही दर्शन करता है। ऐसे ज्ञानी के वाक्य से ही उसके मुख की शोभा है। मुख की शोभा इस कारण कही है कि शरीर में मस्तक सब अंगों से श्रेष्ठ समझा जाता है और मस्तक से भी मुख श्रेष्ठ है इसलिये मुख की शोभा कहने से सब शरीर की शोभा हुई यानी ऐसा अर्थ हुआ कि ब्रह्म वाक्य उच्चारण करने से ज्ञानी पुरुषों के शरीर की शोभा है। ज्ञानी शास्त्र की मर्यादा से पार गया हुआ स्वतन्त्र होता है। ज्ञानी के लिये कुछ भ कर्तव्य नहीं है तो भी यदि वह अधिकारी पुरुषों को उपदेश दे तो अत्यन्त शोभा रूप

है। जिस वाणी से अपना या दूसरे का हित हो उस वाणी का उच्चारण करना अच्छा ही है। अंधा और अज्ञानी बराबर कहे जाते हैं इसलिये पंडितों के समुदाय में मौन रहना ही मूर्ख का भूषण कहा है। वाणी शब्द का उच्चारण करती है परन्तु शब्द के भीतर सूक्ष्मता में शब्द बोलने वाले का भाव भरा हुआ होने से परीक्षा में वाणी ही प्रथम पात्र है। हंस का रूप धारण करके बैठा हुआ कौआ जब बोलने लगता है तब पोल खुल जाती है इसलिये व्यवहारिक अथवा परमार्थिक साक्षरता ही मुख का भूषण है। व्यवहारिक साक्षर पंडित जहां जाता है वहां उसे दुःख नहीं होता, परदेश भी उसके लिये अपना देश हो जाता है और वह सबका पूज्य होता है तब आत्म ज्ञानी का तो कहना ही क्या है, वह सब स्थानों में अत्यन्त पूज्य होता है, सब देश उसके देश होते हैं, सबका कुटुम्ब उसी का कुटुम्ब होता है। ऐसे सर्वात्म भाव वाले साक्षर ज्ञानी को धन्य है। मनुष्य, पशु, पक्षी, जीव, जन्तु मुख सभी का होता है परन्तु जब वह केवल भोजन करने और स्वार्थ के उच्चारण करने के लिये ही हो तो वह शोभा रहित है। युक्तायुक्त विचार रहित, शास्त्र और व्यवहार के संस्कार रहित, अंट संट बकने से सुन्दर मुख भी बुरा लगता है। जिस प्रकार दूध जगत् का अमृत कहलाता है परन्तु जब वह कुत्ते के कच्चे चमड़े में रक्खा हो तो अपवित्र-अशुद्ध हो जाता है इसी प्रकार शरीर में मुख सबसे श्रेष्ठ है और सब कर्मेन्द्रियों में वाणी की विशेषता है क्योंकि वह प्रथम तत्त्व आकाश की है। यदि वह अशुद्ध हो तो सब इन्द्रियां, सब शरीर

और मनुष्य देह भी अपवित्र समझा जाता है। वाणी से ही प्रेम और द्वेष होता है, वाणी से मित्रता होती है और वाणी से ही अपना भाव प्रकट किया जाता है। वाणी जो शुद्ध है, उच्च भाव की है, वह साक्षर की वाणी है, जैसे राजा के शरीर पर रहा हुआ मुकुट शोभा देता है इसी प्रकार वाणी मनुष्य को शोभा देने वाली होती है। वाणी परम भूषण है, जो इस भूषण से रहित है वह कंगाल है।

सत्य किसको कहते हैं ? इसके उत्तर में कहा है कि जिसमें सब भूत प्राणियों का हित हो, वह सत्य है। जिनको असत्य भाव ही सत्य हो रहा है ऐसों को सत्य का समझना अत्यन्त कठिन है। सत्य अनेक प्रकार का है। सत्य के जितने प्रकार हैं वे एक दूसरे की अपेक्षा से हैं, निरपेक्ष सत्य तो एक ही है और उसमें ही सब भूत प्राणियों का हित है। अन्य सत्य जितनी हद वाला है, उतनी हद में ही उस सत्य का प्रभाव है। आचार्यों ने मुमुक्षुओं को सुख से बोध कराने के निमित्त सत्ता तीन प्रकार की कही है:-प्रातिभासिक व्यवहारिक और पारमार्थिक। इन सत्ताओं के भेद से सत्य भी तीन प्रकार के भेद वाला है और फिर उसके बहुत से भेद हो सकते हैं। स्वप्न की सृष्टि और व्यवहार में होने वाला भ्रम जैसे अन्धेरे आदि के कारण से रस्सी के स्थान में सर्प भासना प्रातिभासिक है। जगत् के पदार्थों को जगत् की रीति से देखना जैसे मटके को मटका अथवा वस्त्र को वस्त्र जानना, यह दूसरी व्यवहारिक सत्ता है। तीसरी पारमार्थिक सत्ता परब्रह्म स्वरूप है। प्रत्येक सत्ता में जाना हुआ पदार्थ जब तक उस सत्ता

की निवृत्ति न हो तब तक सत्य होता है। जैसे रस्सी में दीखने वाला सर्प जिस भ्रम से दीखता है, जब तक देखने वाला उस भ्रम में है तब तक उसके लिये वह सर्प झूठा नहीं होता। भ्रम निवृत्त होने पर देखने वाला जब उस सत्ता से हट कर व्यवहारिक सत्ता में आता है तब उसके लिये जो सर्प सत्य था, वह झूठा होता है। व्यवहारिक पदार्थों की सत्यता भी इसी प्रकार की है। व्यवहारिक भाव से हटे विना व्यवहारिक पदार्थ मिथ्या नहीं होता। जब व्यवहारिक भाव से हट कर पारमार्थिक सत्ता में आते हैं तब ही व्यवहारिक के सब पदार्थ मिथ्या होते हैं। इस प्रकार पारमार्थिक सत्ता में प्रातिभासिक और व्यवहारिक दोनों झूठे हैं। केवल पारमार्थिक ही सत्य है। प्रातिभासिक सत्ता तुच्छ है क्योंकि व्यवहार की अपेक्षा वह थोड़े समय की है और व्यवहार में भ्रम होने से होती है इसलिये प्रातिभासिक में रहा हुआ सत्य भी बहुत तुच्छ है। प्रातिभासिक से व्यवहारिक सत्ता की विशेषता है और व्यवहारिक सत्य व्यवहार दशा में भ्रम से उत्पन्न नहीं हुआ है किंतु अनादि माया कृत भ्रम से है इसलिये प्रातिभासिक से उसकी सत्यता विशेष है। जैसे प्रातिभासिक सत्ता हद वाली और व्यवहारिक बोध से निवृत्त होने वाली है इसी प्रकार व्यवहारिक सत्ता भी हद वाली है क्योंकि वह व्यवहार के सिवाय जगत् में अन्य किसी स्थान पर नहीं है और पारमार्थिक सत्ता—ज्ञान दशा में उसका नाश भी हो जाता है इसलिये वह प्रातिभासिक की अपेक्षा से विशेष होते हुए भी परमार्थिक सत्ता की अपेक्षा से तुच्छ है। पारमार्थिक

सत्ता में रहा हुआ सत्य ही अवाधित सत्य है जो अपेक्षा रहित, हद रहित, नित्य सत्य है। इस सत्य के सिवाय नाम मात्र के अन्य सत्य से सव का हित नहीं होता। जिन अज्ञानियों को पारमार्थिक सत्ता का वोध नहीं है वे ही ऐसा कहते हैं कि व्यवहार दशा में पारमार्थिक का नाश हो जाता है। वे लोग अपने अज्ञान से भले ही ऐसा कहा करें. परंतु तत्त्व रूप से रहा हुआ पारमार्थिक सत्य का कैसा भी अज्ञानी या मूढ़ योनि वाला हो कभी नाश नहीं होता। प्रातिभासिक और व्यवहारिक सत्य माया में हैं इसलिये वे सत्य नहीं हैं और पारमार्थिक सत्य ब्रह्म स्वरूप होने से देश, काल और वस्तु आदिक की अपेक्षा रहित नित्य सत्य है। तात्पर्य यह है कि जितने अन्य सत्य हैं, वे सव काल्पनिक हैं और पारमार्थिक सत्य वस्तु—तत्त्व स्वरूप है।

परब्रह्म ही सत्य है, उससे ही सव भूत प्राणियों का अखंडित हित होता है, अन्य उपाधि से खंडित हुए—व्यक्तता को प्राप्त हुए सत्य पूर्ण हितकर नहीं हैं। एक से एक का हित होता है, तव अन्य का अहित होता है। जितनी उपाधि की विशेष व्यापकता होती है, उतनी सत्य की व्यापकता होती है परन्तु वे मायिक होने से पूर्ण सत्य नहीं हैं इसलिये वे सव के हितकर भी नहीं हैं। वाणीसे सत्य वोलना ही सत्य नहीं है, झूठ वोलनेसे सच वोलना अच्छा है। वाणी से सत्य वोलने की अपेक्षा मन में सच्चे भाव होने की विशेषता है, मन से वुद्धि में सच्चा भाव होना विशेष है और वुद्धि के सत्य भाव से साक्षी भाव में टिकना विशेष है और

साक्षी के व्यक्ति भाव को छोड़कर परब्रह्म रूप सत्य सर्वोत्तम है। जो ज्ञानी होता है वह ही सत्य में टिका हुआ होता है, उससे ही सबका हित होता है। सब प्रकार के मायिक सत्य में व्यक्तियों की भिन्नता होती है। जाग्रत और स्वप्न में सब भिन्न हैं, सुषुप्ति में भी एक समान दीखती हुई दबी हुई भिन्नता है परमतत्त्व भिन्नता रहित है। वह सब का आदि, अंत और मध्य होने से सब का श्रेय—कल्याण रूप है। जो मनुष्य उस सत्य को प्राप्त होता है उसे सबका ही हितकर समझो। उसमें व्यक्ति भाव का विशेष अहंकार न होने से, सबको ही अपना स्वरूप समझने से, उसे सबमें प्रेम होता है। निर्मल निर्विकार प्रेम वाला चाहे क्रिया से अथवा ज्ञान से दूसरे का हित करे अथवा न करे, तो भी उससे सब का हित ही होता है. वह ही सब से श्रेष्ठ है। सामान्य मनुष्यों को काया वाचा और मन से हमेशा सब का हित चाहना चाहिये। जो सत्य है, वह ही तत्त्व है, सत्य ही तेज है, सत्य ही देव है, सत्य ही दान, धर्म है क्योंकि सत्य ब्रह्म है। सत्य से प्रजा की उत्पत्ति होती है, सत्य से लोक धारण है, सत्य से स्वर्ग में जा सकते हैं इसलिये बुद्धि अनुसार सत्य का ही अनुसरण करना चाहिये। उपाधि सहित में भी जितना सत्य का पालन होगा उतना उपाधि वाला हित ही होगा। अंतःकरण को शुद्ध करके सद्गुरु की शरण जाना और ज्ञान को संपादन करना इससे परम कल्याण होता है।

त्याग करने योग्य क्या है? उसके उत्तर में स्त्री का त्याग बताया है। स्त्री के दोष, चरित्र, स्वभाव आदि का विवेचन प्रथम

ही बहुत हो चुका है। संसार संसार नहीं है केवल स्त्री ही संसार रूप है। जिसको संसार से निवृत्त होने की तीव्र इच्छा हो, उसे काया, वाचा और मन से स्त्री का त्याग करना चाहिये। काया से वाचिक त्याग श्रेष्ठ है, और वाचिक त्याग से मानसिक त्याग श्रेष्ठ है। तीनों प्रकार के त्याग का तो कहना ही क्या है! जब स्त्री का यथा अधिकार त्याग होता है, तब ही मनुष्य मोक्ष के योग्य होता है। स्त्री माया की प्रत्यक्ष मूर्ति है, स्त्री का भाव रखते हुए माया से निवृत्त होना नहीं बन सकता। मुमुक्षु पुरुषों के लिये जैसे स्त्री का भाव त्याज्य है, ऐसे ही गृहस्थाश्रम से निवृत्त विधवा स्त्रियों के लिये पुरुष का भाव त्याज्य है। जैसे पुरुषों को स्त्री माया रूप है ऐसे ही स्त्रियों को पुरुष माया और बंधन रूप है। यहां जो स्त्री को त्यागने योग्य कहा है, वह संकुचित स्त्री अर्थ वाला नहीं है परंतु विस्तीर्ण माया रूप स्त्री से तात्पर्य है। जो लोग इन्द्रियों के वश में हैं वे देव माया रूपिणी स्त्री को देख कर उसके हाव भाव में मुग्ध होकर नीच गति को प्राप्त होते हैं। अग्नि में गिर कर पतंग की जैसी दुर्दशा होती है ऐसी ही उनकी दशा होती है।

विदेह नगर में पिंगला नाम की एक वेश्या रहती थी। एक दिन सायं काल के समय वह वस्त्राभूषणों से सजी हुई नगर वासियों को अपने शयन गृह में ले जाने के लिये द्वार पर आकर खड़ी हुई। यह वेश्या जिस पुरुष को रस्ते में आता हुआ देखती थी, उसको धनी और काम की इच्छा वाला समझती थी जब वह पुरुष निकट से चल देता तब वह निराश होती थी और

विचारती थी कि अब कोई विशेष धन देने वाला आता होगा। इस चिंता में रात्रि हो गई तो भी वह द्वार पर खड़ी रही। आते हुए पुरुष को देखकर आशा बांधती थी और चला गया देखकर निराश होती थी, कभी २ निराश होकर घर के भीतर चली जाती थी और फिर आशा से खिंची हुई द्वार पर आ जाती थी। इस प्रकार आधी रात्रि व्यतीत होगई परन्तु कोई न आया। जब वह अत्यन्त निराश हुई तब पूर्व के पुण्य के प्रभाव से उसे ज्ञान का भाव आया। वह इस प्रकार विचारने लगी "आशा के बन्धनों का काटने वाला खड्ग एक वैराग्य ही है, जिसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न नहीं होता उसका अशांतिका बन्धन कभी नहीं टूटता! हाय! मुझमें कुछ भी विवेक नहीं है। मेरा मन किंचित् भी मेरे वश में नहीं है, मेरे मोह का फैलावा कितना है! मेरी बुद्धि अत्यन्त मन्द है! मैं तुच्छ मनुष्यों को कान्त समझ कर धन पाने की कामना करती हूं! मैं कितनी तुच्छ बुद्धि वाली हूं! मैं अपने हृदय के भीतर रमने वाले समीपवर्ती, नित्य रति और धन देने वाले आत्म रूप परम पुरुष को छोड़कर, कामना पूर्ण करने में असमर्थ, दुःख, शोक, भय, चिंता, मोह आदिक देने वाले तुच्छ पुरुषों का भजन करती हूँ! मैंने अत्यन्त निंदित वेश्या वृत्ति से आत्मा को व्यर्थ ही तपाया है! यह शरीर मल मूत्र से भरा हुआ घर है, सब स्थान पर हड्डियों, रोम तथा नखों से युक्त है, इसके सब द्वारों में से विकार बहता है! मेरे सिवाय ऐसी कौन मूर्ख स्त्री होगी जो ऐसे पर पुरुषों को कांत समझेगी! इस विदेह नगर में मैं ही एक मूढ़ हूँ, जो अच्युत पुरुष को छोड़कर,

अन्य पुरुप की कामना करती हूँ ! यह शरीर धारियों का प्रिय सुहृद् आत्मा है, मैं आत्म समर्पण से इसे मोल लेकर या इसीके हाथों विककर लक्ष्मी के समान उसके साथ रमण करूंगी ! आदि अंत वाली अनित्य कामनायें और इनके देने वाले नश्वर मनुष्य अथवा कामके भयसे भयभीत देवगण अपने उपासकोंका कितना प्रिय कर सकते हैं ! कुछ नहीं कर सकते ! आज अत्यन्त क्लेश पाने से ही मुझे इस प्रकार का वैराग्य हुआ है ! इस प्रकार के वैराग्य से ही मनुष्य गृह आदिक के बन्धनों को काट कर परम शांति पाते हैं ! अब मैं वैराग्य धारण करके विषय संग की दुराशा को छोड़ कर विष्णु स्वरूप ईश्वर के स्मरण में लगती हूँ, इस अनायास प्राप्त हुए वैराग्य पर श्रद्धा रख कर जो कुछ मिलेगा उसी में निर्वाह करूँगी ! सन्तोप पूर्वक आत्मा को रमण मान कर उसीके साथ सुख से विहार करूंगी ! संसार कूप में पतित, विषयों की प्रवल वासना से नष्ट दृष्टि आत्मा की परमात्मा सिवाय कौन रक्षा कर सकता है ? जब इस जगत् को काल रूपी सर्प का ग्रास देख कर आत्मा सावधान होता है और इस लोक और परलोक के सब प्रकार के भोगों से विरक्त हो जाता है, तब आप ही अपनी रक्षा करता है !” वेश्या ने इस प्रकार निश्चय करके किसी नगर वासी के आने की और धन पाने की इच्छा को छोड़ कर शांति प्राप्त की और अपनी शय्या पर जा कर सुख से सो गई।

ऊपर के दृष्टांत में पिंगला को बुद्धि समझो। अनेक प्रकार की कामनाओं से बुद्धि अशांत रहती है। जब अत्यन्त कष्ट प्राप्त

होता है—कामना करते करते निराश हो जाती है तब पूर्व पुण्य के उदय होने से वैराग्य की उत्पत्ति—त्याग की प्राप्ति होती है, त्याग से सुखी होती है। माया की तरफ से हट जाना स्त्री का त्याग है। माया के हाव भाव में लुब्ध न होना माया—अविद्या का त्याग है। जिस प्रकार पिंगला पुरुष रूप मोह उत्पन्न करने वाली माया की आशा का त्याग करके सुखी हुई इसी प्रकार पुरुषों को जो जो माया के स्वरूप मोह उत्पन्न करके अन्ध कूप में डालने वाले हैं, उनका त्याग करना चाहिये। ग्रहण बन्धन रूप है और त्याग सुख रूप है। त्याग के विना किसी को भी सुख की प्राप्ति नहीं होती और संपूर्ण त्याग एक स्त्री के त्याग से ही सिद्ध होता है क्योंकि स्त्री पांचों विषयमय है, उस एक के त्याग से सम्पूर्ण विषयों का त्याग होजाता है।

कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से दान तीन प्रकार का है। स्थूल शरीर से स्थूल पदार्थों का देना कायिक दान है। वाचा से देना वाचिक दान है जैसे उपदेश आदिक। किसी के निमित्त शुभ चिंतवन करना, अपने मन को दूसरे के कार्य में लगाना मानसिक दान है। द्रव्य दान, विद्या दान, कन्या दान, अन्न दान आदिक अनेक प्रकार के देने योग्य पदार्थ हैं, जिस पदार्थ का जितना विशेष महत्त्व होता है उतना ही वह दान श्रेष्ठ कहलाता है। एक दान तो ऐसा है कि जिससे एक दिन की तृप्ति होती है और एक दान ऐसा होता है जिससे बहुत दिनों की तृप्ति होती है और एक दान ऐसा है जिससे आयु भर सुख से व्यतीत होती

है। प्रथम के दोनों दानों से किसी को हुनर सिखा देना-उद्यम में लगाना विशेष महत्त्व का है, इससे भी विद्या का दान उत्तम है क्योंकि विद्या आयु पर्यन्त काम देती है और उससे अपना और अन्य का भी भला होता है। सव उपरोक्त दान देश, काल और पात्र की योग्यता के अनुसार देने योग्य हैं परन्तु परम देने योग्य पदार्थ—परम दान सव से ही विशेप है। परम दान अभय है इसलिये देने योग्य क्या है ? इसके उत्तर में कहा है कि देने योग्य अभय है। अभय लौकिक और परम ऐसे दो प्रकार का है। 'किसी एक भय से मैं तेरी रक्षा करूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके रक्षा करना अभय दान कहलाता है। यह अभय दान एक प्रसंग का और अस्थिर होने से लौकिक है। ऐसा अभय-प्राण रक्षा भी महा पुण्य का हेतु है परन्तु उससे भी आत्म दान देना-सदुपदेश देकर आत्मा का साक्षात्कार कराना परम अभय है। अज्ञान में पड़ा हुआ कोई भी भय रहित नहीं है, चाहे तुच्छ से तुच्छ योनि हो, चाहे श्रेष्ठ योनि हो, सव योनियों में भय ही रहता है। स्वरूप का अज्ञान ही भय की आकृति है। अज्ञान की निवृत्ति कराके स्वरूप का बोध करा देना परम अभय है। परम अभय इस कारण है कि जिसको एक समय परम अभय की प्राप्ति होजाती है वह कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता, तुच्छ प्राणियों से लेकर इन्द्र और काल तक भी उसे भय देने को असमर्थ होते हैं। मूल सहित जगत् की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति अभय स्वरूप है। जिसे ऐसा अभय प्राप्त होता है उसे व्यक्ति का अभिमान नहीं रहता और व्यक्ति के अभिमान रहित को कभी भी भय नहीं

होता। भय दूसरे में होता है, जिसको सब कुछ अपना ही स्वरूप होजाता है, उसे किसी से किस प्रकार भय हो! वह ही निर्भय स्थान है, और जितने स्थान हैं सब भय वाले हैं। इन्द्रादिक महान् देवताओं को भी शास्त्र में वारम्वार भय होता देखा है इसलिये परम पद सिवाय और कोई निर्भय स्थान नहीं है। दान देने वाला दूसरे को वह ही पदार्थ दे सकता है, जो उसे प्रथम प्राप्त हो। निर्भय हुआ कोई महान् सन्त ही वास्तविक निर्भयता को दे सकता है। इस निर्भयता के दान के पुण्य की कोई हद नहीं है, दाता और गृहीता दोनों को अक्षय पुण्य की प्राप्ति कराता है। कोई कोई अभय दान का अर्थ योग्य अधिकारी को संन्यास देना ऐसा करते हैं। ऊपर के विवेचन से वह मिलता है। ब्रह्म और आत्मा वस्तुतः एक ही हैं, ऐसा ज्ञान ही उत्कृष्ट अभय है। राजा जनक को याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार का अभय दान दिया था और अन्य ऋषि मुनियों ने भी योग्य अधिकारियों को दिया था। अब भी ज्ञानी पुरुष योग्य अधिकारियों को उपदेश द्वारा अभय प्राप्त कराते ही हैं और आगे भी इसी प्रकार होता ही रहेगा। राजा भर्तृहरि ने भय को दिखलाते हुए कहा है:-भोग में रोग का भय है, कुल में भ्रष्ट होने का भय है, धन में राजा का भय है, मौन में दीनता का भय है, वल में शत्रुओं का भय है, रूप में बुढ़ापे का भय है, शास्त्र में वाद का भय है, गुणों में खलों का भय है और कार्य में काल का भय है। इस प्रकार जगत् में सब वस्तुयें मनुष्यों को भय देने वाली हैं एक वैराग्य में ही अभय है। राग में भय है;

त्याग में निर्भय है। आत्म बोध विना त्याग की पूर्ण सिद्धि नहीं होती इसलिये स्वरूप का बोध ही निर्भय है।

बिहार प्रान्त में गंगाजी के समीप अर्गल नाम का एक छोटा सा राज्य था। वहां गौतम नाम का राजा राज करता था। दिल्ली के बादशाह की आज्ञा से अयोध्या के नवाब ने अर्गल पर चढ़ाई की। राजा गौतम की सेना ने बादशाह की सेना को बुरी तरह कत्ल किया और वह हार कर भाग गई। राजा ने अपने स्थान पर हर्षोत्सव मनाया। उसके दूसरे दिन प्रातःकाल को अर्गल की रानी अपनी थोड़ी दासियों को लेकर गंगा स्नान करने गई। प्रत्येक पूर्णिमा को वह गंगा स्नान करने जाया करती थी। 'राजा इस समय गंगा स्नान को जाने के लिये मने करेगा' ऐसा समझ कर रानी ने जाने की किसी को खबर न की। घाट पर जाकर आनन्द से स्नान किया और विधियुक्त गंगाजी का पूजन किया। वहां से कुछ दूर पर बादशाह का हारा हुआ नवाब और कुछ लोग छावनी डाल कर पड़े थे। उन्हें कुछ स्त्रियों के आने की खबर पड़ गई और निश्चय होगया कि उनमें अर्गल की रानी भी है। नवाब विचार करने लगा कि यदि रानी इस समय पकड़ कर कैद कर दी जाय तो राजा गौतम सहज में संधि कर लेगा और खंडनी (कर) जो वसूल होगी, उसे दिल्ली भेजने से हमारी बहादुरी समझी जायगी, हाथ में आया हुआ मौका छोड़ना न चाहिये। ऐसा विचार कर नवाब ने दासियों सहित रानी को पकड़ने को बहादुर लड़ने वालों को आज्ञा दी।

जब रानी स्नान करके अपने घर की तरफ लौट रही थी तब मुसलमानोंने उसे घेर लिया। रानी सब बात समझ गई परन्तु न. घबराते हुए.लाल नेत्र करके उसने कहा "तुम कौन हो और हमको त्रास क्यों देते हो?" नायकने सभ्यता से उत्तर दिया "रानी साहब! हम पर गुस्सा न कीजिये, हम तो चिट्ठी के चाकर हैं, नवाबने हम को दासियों सहित आपको पकड़ कर ले आने को भेजा है!" रानी बोली "पाजी! तुम दूसरे की औरतों को नवाब के हुकुम से जबरन पकड़ना चाहते हो, राजपूतों की स्त्रियों को तुम जबरन पकड़ कर नहीं ले जा सकते। हौंसला रखते हो तो आ जाओ, मैदान में!" यह कहते ही रानी ने चंडी का स्वरूप धारण किया और दासियों ने भी स्वामिनी का अनुकरण किया! सब शस्त्र. निकाल निकाल कर तैयार हो गईं। यह मामला देख कर मुसल-मान दंग हो गये। रानी ने ही प्रथम शस्त्र चलाना आरम्भ किया। बहुत समय तक युद्ध होता रहा। मुसलमान विशेष होने के कारण जब जीतने का ढंग दिखाई न दिया तब रानी ने इस प्रकार वचन कहा। "क्या इस आपत्ति में से अबलाओं का उद्धार करने वाला कोई राजपूत वीर नहीं है? जो कोई वीर आस पास हो तो आर्य अबलाओं के निमित्त तुरकों से युद्ध करे, जो ऐसा न कर सके तो आर्य अबला की प्रतिष्ठा का शपथ है! जो ऐसा न हो तो हम अपने प्राण देने को तैयार हैं!" एक आवाज आई "महारानी! चिंता मत करो! तुम्हारे रक्षण के लिये दो क्षत्रिय वीर समय पर आ पहुंचे हैं!" मुसलमान आवाज सुन कर इधर उधर देखने लगे। इतने में दो सैनिक

पंद्रह सवारों सहित मुसलमानों पर टूट पड़े। रानी अब तक शौर्य से लड़ती रही थी। बहुत से मुसलमान मारे गये और आये हुए दो वीरों में से भी एक मृत्यु को प्राप्त हुआ। रानी दासियों सहित शत्रुओं के घेरे में से बाहर निकल गई। मुसलमान सोच करते ही रह गये। जो दो वीर आये थे, उनमें एक का नाम अभयचंद और दूसरे का नाम निर्मलचंद था। निर्मलचंद का मृत्यु हुआ। पंद्रह घोड़े सवार सहित अकस्मात् आये हुए दो वीर राजा ने रक्षण के लिये भेजे थे। रानी ने अपने घिर जाने की और युद्ध की सब बात राजा को जा कर सुनाई। राजा ने वीरों की बहुत प्रशंसा की और बचे हुए वीर अभयचन्द का अपनी राजकुमारी से विवाह किया।

ऊपर के दृष्टांत में अभयचन्द ने जो रानी की रक्षा की वह अभय दान था। इसका विशेष आत्मिक भाव से अर्थ समझा जाय तो इस प्रकार है:—गौतम जीव है, रानी सुबुद्धि वाली मुमुक्षुता है, मुमुक्षुता पूर्ण होना पूर्णिमा है, गंगा स्नान जाना निर्भय होना है, जब गंगा स्नान रूप निर्मलता के लिये रानी रूप मुमुक्षुता आई तब मुसलमानी सैन्य अहंकार, काम, क्रोधादिक ने उसे घेर लिया। वह अपनी सामर्थ्य भर लड़ती रही। जब अपनी सामर्थ्य काम देते न देखी तब आश्रय के लिये दूसरे को आवाज दी। दो वीर जो आये वे विवेक और वैराग्य थे। वैराग्य मृत्यु को प्राप्त हुआ और विवेक सहित मुमुक्षुता आत्मा के पास पहुंची। राजा ने विवेक की प्रशंसा करके अपनी राज-

कुमारी रूप शांति उसको दी। इस प्रकार मुमुक्षुता निर्भय हुई और विवेक को शांति प्राप्त हुई। इस प्रकार सब एक हुए। एकता अखंड निर्भय स्थान परम पद है ॥२२॥

कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः,
क सर्वथा नास्ति भयं विमुक्तौ।
शल्यं परं किं निज मूर्खतैव,
के के ह्युपास्या गुरुवश्च वृद्धाः ॥२३॥

अर्थः—प्रश्नः-किसके नाश होने से मोक्ष होता है ? उत्तरः-मन के नाश होने से। प्रश्नः-सर्वथा किसमें भय नहीं है। उत्तरः-मोक्ष में। प्रश्नः-सब से बड़ा शल्य दुःख क्या है ? उत्तरः-अपनी मूर्खता। प्रश्नः-उपासना करने योग्य कौन हैं ? गुरु और वृद्ध।

छप्पय।

किस का होवे नाश, मोक्ष जिससे नर पावे।
मन का होवे नाश, मोक्ष तब ही हो जावे॥
भय नहिं किसमें होय, कौन भय रहित अनूपा।
निर्भय कारिणि मोक्ष, सच्चिदानन्द स्वरूपा॥
महा शल्य है कौनसा, महा शल्य निज मूर्खता।
को उपास्य गुरु वृद्ध दो, बड़भागी नर सेवता॥२३॥

विवेचन ।

मोक्ष स्वरूप जो आत्मा है, उसको जो बंधन हुआ मालूम होता है, उस बंधन की निवृत्ति किसके नाश होने से होती है, यानी बंधन की प्रतीति निवृत्त होने में कौन सी आड़ है, कौनसी आड़ को निवृत्त करना चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि मन के नाश होने से मोक्ष होता है। अन्य स्थानों पर अज्ञान का नाश कहा है और यहां पर मन का नाश कहा है, इसका हेतु यह है कि अज्ञान, माया, मन, कामना, वासना, भ्रम, कल्पना आदिक भिन्न भिन्न शब्द दीखते हुए भिन्न भिन्न प्रसंग में उनका प्रयोग होते हुए भी सब मन के पर्याय है। ये सब एक मन को ही दिखलाते हैं, मन के नाश होने से सब का नाश हो जाता है अथवा उनमें से किसी एक का नाश होने से सब का नाश होना संभव है इसलिये यहां मन का नाश कहा है। मन करके ही बंधन है और मन की निवृत्ति से मोक्ष है। न होता हुआ मन आत्मा के सामने खड़ा हो गया है और इससे अज्ञानियों का आत्मा ढक गया है। यह मन प्रपंच की तरफ दौड़ता है और प्रपंच अनेक हैं इसलिये मन अनेक भाव का होकर वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। इस मन का नाश तब होता है जब कि उसकी दृष्टि प्रपंच से हट कर आत्मा की तरफ जाय। आत्मा एक है और चैतन्य है, चैतन्य आत्मा की छाया मन में है। जब मन आत्मा की तरफ जाता है, तब लय भाव को प्राप्त होता है— मन की पृथक् स्थिति निवृत्त होती है, इसको ही मन का नाश

कहते हैं। ऐसा होने पर मोक्ष अनुभव सिद्ध है; आत्मा में तो बंध मोक्ष कोई नहीं है। जिसकी दृष्टि में बंधन है, उसकी दृष्टि में मोक्ष भी है। मन से बंधन है और मन की निवृत्ति में मोक्ष है। माया, अविद्या, अज्ञान, वासना आदिक जितने हैं, वे सब मन के व्यक्ति भाव से अपना प्रभाव प्रकट करते हैं। यदि मन का व्यक्ति भाव न हो तो उनका प्रभाव भी न हो। अज्ञान के भाव से एक शरीर में अपने व्यक्ति भाव को दृढ़ करने का नाम बंधन है, यह मन करके ही होता है। मन से अहंभाव है, मन की निवृत्ति से अहंभाव की निवृत्ति है। अहं सहित ही ममत्व होता है, जब अहंभाव निवृत्त हो जाता है तब ममत्व भी नहीं रहता। अब जो तत्त्व शेष रहता है, वह मोक्ष स्वरूप है। जड़ चैतन्य की अहंभाव रूप ग्रंथि जीव है, जीव बंधन में है। मन की समूल निवृत्ति से ग्रंथि की निवृत्ति है, ग्रंथि की निवृत्ति से जीव भाव की निवृत्ति है और जीव भाव निवृत्त होने पर परम तत्त्व ही शेष रहता है। जो बंधन में पड़ा है, वह ही बंधन से छूटता है। मन ही बंधन रूप है और मन ही बंधन में पड़ा है। मन का निवृत्त होना मन का मोक्ष है, मन अज्ञान स्वरूप है, अज्ञान का होना बंधन है और अज्ञान का मिट जाना मोक्ष है।

हर्ष शोक, पुण्य पाप, स्वर्ग नरक, बंध और मोक्ष आदि शब्द-विकार मन का है यानी समग्र ब्रह्मांड मन की रचना है। जिस संकल्प से सब रचना है, उस संकल्प की निवृत्ति से सब रचना की निवृत्ति है। संकल्प मन रूप है इसलिये संकल्प की निवृत्ति से मन की निवृत्ति है। मन के होने से मन के बंधन को

आत्मा अपना बंधन समझता है। स्फटिक श्वेत होता है, जिस प्रकार गुड़हर के फूल की छाया से स्फटिक लाल रंग का दीखता है इसी प्रकार विकार रहित आत्मा मन की छाया से बंधन वाला विकारी दीखता है। जैसे पित्तज्वर वाले का मुख कड़ुवा हो जाता है, यदि उसे मिश्री खाने को दी जाय तो कड़वी लगती है, यद्यपि मिश्री कड़वी नहीं हो गई है किंतु ज्वर के दोष से मीठी मिश्री भी मीठी न लगते हुए कड़वी लगती है, इसी प्रकार दोष के कारण सुख स्वरूप आत्मा सुख रूप मालूम नहीं होता। जिस प्रकार ज्वर की निवृत्ति होने पर मिश्री मिश्री का स्वाद देती है इसी प्रकार मन रूप विकार निवृत्त होने पर आत्मा सुख स्वरूप भासता है। आत्म छाया ही जब संकल्प विकल्प भाव संयुक्त दीखती है तब मन कहलाता है। यदि संकल्प विकल्प को निवृत्त करके मन को ढूंढें तो मन का पता नहीं लगता। प्रथम मन को शुद्ध करना चाहिये क्योंकि अशुद्ध मन कभी निवृत्त नहीं हो सकता। मन को शुद्ध करने की शास्त्र में सदाचरण आदि अनेक क्रियायें हैं। उत्तम पुरुष विचार द्वारा मन को शुद्ध कर सकते हैं, विशेष मलिनता वाले को प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि भी मन की शुद्धि के निमित्त दिखलाये हैं।

हमेशा भय किस में नहीं होता? इसके उत्तर में कहा है कि मोक्ष में हमेशा भय नहीं है। भय डर को कहते हैं, डर दूसरे से होता है। जब दूसरा बलिष्ट होता है और हमारी इच्छा को हम को और हमारे पदार्थों को ले लेता है, भ्रष्ट करता है, उससे

हमको भय होता है। जगत् में एक से एक विशेष हैं और विशेष से सब को भय लगा रहता है। संसार में सेर के लिये सवा सेर है, उससे भय होता ही है। इससे सिद्ध होता है कि संसार में कोई पदार्थ या स्थान हमेशा भय रहित नहीं है। संसार बंधन स्वरूप होने से बंधन में हमेशा भय रहता है। हमेशा के लिये निर्भय स्थान तो एक मोक्ष ही है क्योंकि मोक्ष अद्वैत है। जो द्वैत को देखता है वह भय को प्राप्त होता है, जहां एक ही एक है वहां, भय नहीं है। जहां एक ही आत्मा मोक्ष स्वरूप है, वहां भय नहीं है। पुण्य कर्म से स्वर्गादिक में उत्तम भोग और ऐश्वर्य प्राप्त होता है परन्तु पुण्य क्षीण होने पर वहां से गिरने का भय रहता है और अपने से श्रेष्ठ से भी भय होता है। मोक्ष में जन्म मरण होने का ही भय नहीं है, तो जन्म मरण से होने वाले दुःखों का भय कहां से हो? जब तक ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक अनेक प्रकार का भय रहता है। सब प्रकार का भय अज्ञान में है, अज्ञान के नाश होते ही सब प्रकार के भय का भी नाश होजाता है। ज्ञान प्राप्त स्वयं होना कठिन है क्योंकि ज्ञान स्वरूप-मोक्ष स्थान की प्राप्ति क्रिया करके नहीं होती, मन और वाणी वहां पहुँच नहीं सकते इसलिये विधिवत् गुरु शरण होकर गुरु के सदुपदेश द्वारा जब ज्ञान प्राप्त किया जाता है तब ही भय रहित होता है। जगत् में अनेक प्रकार का भय है उस भय की निवृत्ति संसारिक उपायों से हो सकती है परन्तु गया हुआ भय फिर न आवे या अन्य प्रकार का भय न हो ऐसा उपाय संसार के साधनों से नहीं होता इसलिये ऐसे भय की निवृत्ति भय

की पूर्ण निवृत्ति नहीं है। मोक्ष में तो कभी किसी प्रकार के भय उत्पन्न होने का संभव ही नहीं है इसलिये निर्भय स्थान मोक्ष ही है, अन्य नहीं है। जो पदार्थ जितना कीमती समझा जाता है, उसके नाश में उतना ही भय रहता है। कमती में कमती भय और विशेष में विशेष भय होता है। जितना भय स्थान, धन, इज्जत के नाश में होता है, उससे स्त्री पुत्रादिक के नाश या हरण में विशेष भय होता है। अपने शरीर का भय सब से विशेष है और उससे भी प्राण जाने का भय विशेष होता है। ये सब तो एक ही जन्म के भय हैं परन्तु अज्ञान का भय तो अनेक जन्मों तक रहता है। जब तक ज्ञान प्राप्त न हो तब तक अज्ञान निवृत्त नहीं होता। प्राण जाने का भय और उसका निवृत्त होना एक दृष्टांत से समझाते हैं, उससे अज्ञान की निवृत्ति भी समझ लेना।

एक साहूकार के पास बहुत सा धन था। स्त्री और एक कन्या के सिवाय उसके कुटुम्ब में और कोई मनुष्य न था। जिस शहर में वह रहता था, वहां के लोगों से उसकी दुश्मनाई हो गई थी इसलिये उसने वहां का रहना अपने लिये सुरक्षित न समझा और सब माल मकान बेच कर सुवर्ण और रत्न खरीद लिये। सब धन लेकर स्त्री और पुत्री सहित बैल गाड़ी में बैठकर वह दूसरे ग्राम को जाने लगा। कितनी दूर जाने के बाद विशाल जंगल आया। उस जंगल में वृक्ष बहुत पास पास थे, मार्ग छोटा होता चला जाता था, स्थान स्थान पर पेड़ों की डालियों को तोड़ तोड़ कर गाड़ी के लिये मार्ग करना पड़ता था। अन्धेरा भी हो गया था, यकायक आकाश को बादल ने घेर लिया, बिजली चम-

रने लगी, थोड़ी ही देर में जोर से वर्षा होने लगी, वायु भी अपनी प्रचंड शक्ति को प्रकट करने लगा। इस समय साहूकार की समझ में नहीं आता था कि किस स्थान पर जाकर आश्रय लें। उसकी कन्या जो ग्यारह वर्ष की थी, गाड़ी में से उतर कर एक पेड़ के नीचे बैठ गई और अपने प्राण की रक्षा करने लगी। कन्या के उतर जाने का हाल साहूकार को मालूम न हुआ, गाड़ी कुछ आगे निकल गई। थोड़ी देर में मेघ मण्डल छिन्न भिन्न हो गया और आकाश में तारे दीखने लगे। चन्द्र भी उदय हो आया तब साहूकार कन्या को न देखकर उसे ढूंढ़ने लगा किन्तु वह न मिली। कन्या जिस पेड़ के नीचे बैठी थी, वर्षा बन्द होने पर वहां से उठी और गाड़ी को ढूंढ़ने लगी किन्तु गाड़ी न मिली। मार्ग भी न मिला इसलिये वह इधर उधर घूमने लगी। थोड़ी दूर पर उसे एक झोंपड़ी दिखाई दी, वह प्रसन्न होकर झोंपड़ी में घुस गई। वहां एक बुढ़िया बैठी थी, उसने कन्या को देखकर कहा "हे पुत्री! तू यहां से जल्दी से भाग जा, यह तो नर पिशाचों का स्थान है, क्या तुझे खबर नहीं है कि वे तुझे मार डालेंगे!" कन्या कांपने लगी, डोकरी के पैरों पड़ कर बोली "बूढ़ी माई! मुझ पर कृपा करो, मेरे प्राण की रक्षा करो।" बुढ़िया को दया आई, उसने लड़की को एक बड़े पीपे में बैठने को कहा। जब कन्या पीपे में बैठ गई तब बुढ़िया बोली "संभल कर बैठी रहियो, थोड़ी देर में लुटेरे आते होंगे, जब तक वे सो न जांय, तब तक तूं कुछ न बोलियो, हिलियो मत और जोरसे सांस भी न लीजो! जब वे सो जांयगे तब मैं तुझे बाहर निकाल कर जंगल में छोड़

आऊँगी।" थोड़ी देर में एक युवान स्त्री के रोने का शब्द सुनाई दिया। लुटेरे स्त्री को मारते हुए लाये थे। वे स्त्री सहित झोंपड़ी में आये। स्त्री ने वहुत विनती की परन्तु लुटेरों ने न सुनी। उन्होंने स्त्री को मार डाला, उसके सब गहने उतार लिये। स्त्री के हाथ में एक अँगूठी थी जब लुटेरे उसे हाथ में से निकालने लगे तो वह उछल कर पीपे में जा पड़ी! यह देखकर बुढ़िया और कन्या दोनों घवरा गईं! एक लुटेरे ने कहा "माई! दीपक जोड़ ले, मैं पीपे में से अँगूठी निकाल लाऊं!" बुढ़िया ठिनक कर कहने लगी "हाय! इतनी जल्दी क्या है? क्या अँगूठी यहां से उड़ जायगी? सवेरे ढूंढ़ दूंगी!" लुटेरे ने यह सुनकर अंगूठी ढूंढ़ने की इच्छा छोड़ दी। बुढ़िया ने कुछ भोजन तैयार कर रक्खा था, उसको और मारी हुई स्त्री के मांस को पका कर नर पिशाचों ने खाया और खा कर सो गये। उन्हें नींद में पड़ा देखकर बुढ़िया उठी और लड़की को पीपे में से निकाल कर झोंपड़ी से बाहर जंगल में ले आई और कहने लगी "सुवह होने तक मैं तेरे साथ चलती हूँ, मार्ग में छोड़ दूंगी, वहां से तू चली जाना!" थोड़ी दूर जाने के बाद बुढ़िया लौट आई। लड़की ने थोड़ी दूर पर अपने पिता की गाड़ी जाती हुई देखी। लड़की ने आवाज दी, गाड़ी खड़ी हो गई। लड़की जाकर माता पिता से मिली। तीनों को आनन्द हुआ। रात्रि की सब बात लड़की ने सुनाई और उसकी सच्चाई के लिये अँगूठी निकाल कर दी।

कन्या के प्राण आपत्ति में आ पड़े थे, उस भय से बुढ़िया ने उसे बचाया। बुढ़िया की युक्ति विना वह बच नहीं सकती थी,

लुटेरों की झोंपड़ी निर्भय स्थान न थी, कन्या के लिये निर्भय स्थान माता पिता का साथ था। इस दृष्टांत को अध्यात्मिक भाव से इस प्रकार समझ सकते हैं:—साहूकार आत्मा है, उसकी स्त्री प्रकृति है, किसी कारण वश उनको अनात्म वासियों से द्वेष हुआ इसलिये वे अनात्म स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान में जाने लगे। मुमुक्षुता रूप मार्ग कंटक वाला था, उसमें होकर वे जा रहे थे। उनकी कन्या सुबुद्धि थी, मार्ग में उत्पात हुआ, अज्ञान का अंधेरा छा गया, अहंभाव का बादल घिर आया, भोग रूप बिजली चमकने लगी। विषय रूप वायु जोर से वहने लगा और अनेक प्रकार के विषय भाव रूप वर्षा होने लगी। उस समय सुबुद्धि रूप कन्या अपनी प्राण रक्षा के निमित्त समाधि रूप वृक्ष के नीचे ठहर गई, प्रपंच से वियोग हुआ, कुछ देर शांति रही, फिर संसार की वृत्ति रूप जंगल में भटकने लगी और काम क्रोध आदि लुटेरों के स्थान पर पहुंची, लुटेरों की ग़ैर हाजिरी में उपदेश रूप बुढ़िया मिली। काम क्रोध आदि लुटेरों के सामने उपदेश रूप बुढ़िया का कुछ वश नहीं चल सकता था इसलिये उसने सुबुद्धि रूप कन्या को अन्तःकरण रूपी पीपे में छुपा दिया जब काम क्रोधादिक सो गये—उनका वेग कम हुआ तव उपदेश रूप बुढ़िया ने सुबुद्धि रूप कन्या को मोक्ष मार्ग में पहुँचा दिया। सुबुद्धि ने तत्त्वमसि महा वाक्य की पुकार की और लक्ष द्वारा माता पिता से मिली। अंगूठी काम क्रोधादि की वल जोरी का चिह्न था। पुत्री का वियोग मिटते ही त्रिपुटी अद्वैत स्वरूप को प्राप्त हुई। यह निर्भय स्थान परम पद है।

शरीर में किसी स्थान पर कांटा लग जाय और कट कर भीतर रह जाय उसे शल्य कहते हैं। कंकर, पत्थर, लोहा, कांच आदिक भी शल्य कहाते हैं। दुःख देने वाले पदार्थ को शल्य कहते हैं। जो शरीर में रक्त के साथ मिलकर एक भाव को प्राप्त न होकर दुःख दे, उसे शल्य कहते हैं, सारांश जो दुःख देता है वह शल्य कहलाता है। संसार में अनेक पदार्थ हैं और प्राप्त होकर एक भाव में न आकर दुःख देते हैं वे सब शल्य-दुःखदायक हैं। परन्तु इन शल्यों-दुःखों की निवृत्ति सहज हो सकती है। अनेक प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधियों को शल्य समझो क्योंकि वे दुःख देती हैं। विष प्रयोग भी शल्य रूप है और औषधि आदि उपचार से निवृत्त होजाता है। इन सब शल्यों से बढ़ कर मूर्खता महा शल्य है, क्योंकि वह सहज में निवृत्त नहीं होती और अनंत दुःखों को देती है। मूर्खता दो प्रकार की है, एक व्यवहारिक और दूसरी आत्मा का अज्ञान रूप। व्यवहारिक मूर्खता में जो जो दुःख होते हैं, उनको तो सब ही जानते हैं। यहां केवल व्यवहारिक मूर्ख को मूर्ख नहीं कहा है किन्तु जो परम तत्त्व को नहीं जानता, उसे ही मूर्ख कहा है। अपना अज्ञान मूर्खपना है। आत्म बोध रहित सब ही मूर्ख हैं। चाहे कोई शास्त्र को जानने वाला हो, चतुर हो, इतिहास वेत्ता हो, कर्म कांड में कुशल हो, उत्तम प्रकार की वक्तृत्व और लेखन शक्ति वाला हो, जब तक उसने ब्रह्म विद्या संपादन नहीं की तब तक वह मूर्ख ही है क्योंकि जिस प्रकार मूर्ख अपने हिताहित को नहीं समझता और अपने दुःख की शांति नहीं कर सकता इसी प्रकार अन्य विद्या का

ज्ञाता होकर ब्रह्म विद्या बिना अपने श्रेय अश्रेय को नहीं समझ सकता। जब तक स्वस्वरूप का बोध नहीं होता तब तक जन्मना और मरना हुआ ही करता है और उनमें अनेक प्रकार का कष्ट भोगना पड़ता है। अज्ञानी को जगत् दुःखों का पुंज रूप है और ज्ञानी को आनन्दमय है।

प्राचीन काल में एक अहीर था, वह गरीब था और अपने को बहुत चतुर समझता था। एक बार वह अपने एक बछड़े को पांच रुपये में बेच कर किसी ग्राम से अपने ग्राम को लौट रहा था। मार्ग में एक तालाब मिला, अहीर जल पीने को गया। किनारे पर बहुत से मेंढक थे, वे मनुष्य के पैर की आहट सुनकर ऱ्योंक (एक) ऱ्योंक शब्द करते हुए तालाब में कूद पड़े। यह एक शब्द सुनकर अहीर ने विचार किया कि मैंने पांच रुपये में बछड़ा बेचा है, उसकी मेंढकोंको खबर नहीं है, 'मैंने एक रुपये में बछड़ा बेचा है' ऐसा समझकर बोलते हैं, इनकी भूल सुधारनी चाहिये, ऐसा विचारकर वह मेंढकों से कहने लगा "हे मेंढको! मैंने बछड़ेको एक रुपये में नहीं बेचा है, पांच रुपये में बेचा है, देखो! ये पांच रुपये मेरे पास हैं!" कोई मेंढक रुपये देखने नहीं आया! सब ऱ्योंक ऱ्योंक करते रहे! यह सुन कर अहीर पुकार कर कहने लगा "हे मूर्ख मेंढको! क्या मेरे कहने पर तुम्हें विश्वास नहीं आता?" मेंढकों ने बोलना बंद न किया! अहीर बहुत क्रोधित हुआ और मेंढकों को गालियां देने लगा। मेंढक बोलते रहे! अहीर गालियां देते देते थक गया और कहने लगा "हे मूर्ख, जिद्दी मेंढको!

तुमको विश्वास नहीं आता तो मैं गिनता हूं!" यह कह कर पत्थर पर उसने एक एक रुपये को डालकर टन टन करके एक से पांच तक गिन डाले! मेंढकों ने कुछ न सुना! ट्योंक ट्योंक बंद न हुई! अहीर के नेत्रों में जल भर आया, वह कहने लगा "रे मेंढको! मैं तुम्हें किस प्रकार समझाऊं? तुम मेरी बात नहीं मानते! अच्छा लो, मैं रुपये डालता हूं, गिन कर निश्चय कर लो!" यह कह कर अहीर ने पांचों रुपये तालाब में फेंक दिये! उसने समझ रक्खा था कि मेंढक रुपये गिन कर मुझे दे जायंगे! मेंढक रुपये देने को न आये! 'अब दे जायंगे, अब दे जायंगे' इस प्रकार अहीर विचारता रहा। जब शाम हो आई तब वह मेंढकों को गालियां देता हुआ बोला "मूर्खो! क्या तुम कभी पाठशाला में पढ़ने भी गये हो? क्या काला अक्षर भैंस बराबर ही है? पांच रुपये गिनने में इतनी देर! आधा दिन चला गया! ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारी इच्छा मुझे रात्रि भर यहीं बैठा रखने की है! परंतु मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण न होने दूंगा! यदि तुम साहूकार हो तो रुपये लेकर मेरे घर पर आ जाना, मैं तो जाता हूं!" ऐसा कह कर बहुत बुद्धिमान् अहीर खाली हाथों ही अपने घर चला आया! घर में कुछ खाने को था नहीं, स्त्री ने उसके नाम का रसिया गाया और लाठी से भली प्रकार पूजा भी की। हाय री मूर्खता! कितनी मूर्खता! विचारा अभी तक कष्ट भोग रहा है!

अहीर जीव है, उसने अपने अंतःकरण रूप बछड़े को बेच कर पांच ज्ञानेन्द्रिय रूप पांच रुपये प्राप्त किये। उसे यह मालूम

न रहा कि उनका सदुपयोग किस प्रकार होगा। मार्ग में उसे कर्म रूप जल वाला और दुःख रूप कीचड़ वाला तालाब मिला। उसमें वह जल पीने को गया, उस तालाब में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप मेंढक रहते थे। वे शब्द करने लगे। अज्ञानी अहीर रूप जीव ने स्पर्श आदि रूप मेंढकों को अपने समान चैतन्य और बुद्धि वाला समझ कर अपनी बुद्धि से ही उनमें लक्ष का आरोप किया और उनकी भूल सुधारने को उन्हें समझाने को पत्थर पर गिन कर दिखलाया किन्तु यह न समझा कि यह मेरी ही कल्पना है। अपने को सच्चा ठहराने के लिये उसने ज्ञानेन्द्रिय रूप पांच रुपयों को कर्म रूपी जल में फेंक दिये यानी शरीर की तीनों अवस्थाओं में इन्द्रिय ज्ञान का दुरुपयोग किया। वाह री मूर्खता ! महा शल्य तू ही है ! कितनी चातुर्यता ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की साहूकारी पर इन्द्रिय ज्ञान को छोड़ दिया। महा शल्य रूप मूर्खता से यह जीव अज्ञान से अज्ञान को प्राप्त हुआ है ! कष्ट भोग रहा है ! इस महा शल्य की आत्म ज्ञान सिवाय अन्य प्रकार से कभी निवृत्ति नहीं हो सकती !

उपासना किसकी करनी चाहिये ? इसके उत्तर में कहा है कि गुरु और वृद्धों की उपासना करनी चाहिये। उपासना के दो फल हैं, व्यवहारिक और पारमार्थिक। स्वर्ग प्राप्ति, ऐश्वर्य आदिक व्यवहारिक उपासना के फल हैं और परम पद पारमार्थिक फल है। पारमार्थिक फल सद्गुरु की उपासना से प्राप्त होता है और स्वर्गादिक व्यवहारिक फल वृद्धों की उपासना से प्राप्त होता है।

अन्धकार को नाश करके प्रकाश करने वाला गुरु कहलाता है। जगत् रूप अँधेरे का नाश और आत्म स्वरूप का प्रकाश जिन करके होता है वे ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु कहलाते हैं। वृद्धों को भी सामान्यता से गुरु कहते हैं क्योंकि गुरु का अर्थ बड़ा भी है। ज्ञानवृद्ध, गुणवृद्ध, जाति वृद्ध, वयोवृद्ध आदि कहे जाते हैं। जो अपने से विशेष ज्ञान वाला है वह ज्ञान वृद्ध है, जो अपने से विशेष गुण वाला है वह अपने लिये गुण वृद्ध है, जो जाति में अपने से उच्च है वह जाति वृद्ध है और जो अपने से उमर में बड़ा है वह वय वृद्ध है। यदि कोई वय में न्यून हो किंतु उसमें हम से किसी प्रकार की विशेषता हो तो वह वृद्ध कहा जाता है। विशेषता वाले से ही हमको कुछ प्राप्ति हो सकती है, इसलिये वह उपासना करने योग्य है। उपासना का अर्थ समीप में बैठना है। गुणी पुरुष के संग से गुणों का आविर्भाव होता है, इसलिये वे उपासना करने योग्य हैं। सामान्यता से गुरु पांच प्रकार के कहे हैं और विशेषता से तो अनेक गुरु होते हैं जिनकी गिनती ही नहीं हो सकती। पिता, पुरोहित, विद्या गुरु, मन्त्र गुरु और सद्गुरु-ज्ञान गुरु ये पांच प्रकार के गुरु हैं। जैसे गुरु पांच हैं, इसी प्रकार शरीर की अवस्थायें भी पांच हैं। सामान्यता से एक एक अवस्था का एक एक गुरु समझे। बाल्यावस्था, पौगंडावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था ये शरीर की पांच अवस्थायें हैं। बाल्यावस्था का गुरु पिता है क्योंकि बाल्यावस्था की प्राप्ति और उपदेश माता पिता से मिलता है। पौगंडावस्था का गुरु पुरोहित है, किशोरावस्था में विद्या देने वाला गुरु

है क्योंकि किशोरावस्था में ही विद्या की प्राप्ति होना सम्भव है। युवावस्था में मंत्र देने वाला गुरु है और इसके अनन्तर पक्व बुद्धिवाली वृद्धावस्था में ज्ञान का उपदेश देने वाला गुरु होता है। एक साथ में भी एक से विशेष गुरुओं का होना सम्भव है, पिता इस कारण गुरु कहा गया है कि साधन करने योग्य शरीर को देने वाला है और जन्म के वाद भरण, पोषण और रक्षा करके वड़ा करता है परंतु यह सव होते हुए भी वह संसार के दुःखों में डालने वाला है। पुरोहित–कुल गुरु वर्णाश्रमोचित कर्मों को करा कर कर्म फल रूप वंधन में डालता है। विद्या गुरु लौकिक विद्या को पढ़ाता है, उससे भी अज्ञान निवृत्त न होने से वंधन ही रहता है। मंत्र गुरु अन्य मत से अपने संप्रदाय में लाने के लिये अन्य देवताओं में द्वेष वुद्धि कराता है, अन्य मत को झूंठा और अपने पंथ को सच्चा वता कर राग द्वेष की वृद्धि कराता है। इससे भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार ये चारों गुरु जिन जिन निमित्त हैं, उस उसमें ही उपयोगी हैं और चारों ही अविद्या में पटकने वाले हैं, अविद्या को हटा नहीं सकते। यदि वे अविद्या को हटावें तो जिस निमित्त वे गुरु हैं, वह निमित्त ही मिथ्या हो जावे। पिता पुरोहित आदिक गुरुओं की विशेष करके संसार में फंसाये रखने के लिये प्रवृत्ति होती है। पांचवां जो ज्ञान गुरु है, वह ही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान द्वारा संसारिक वंधनों को कटवा कर और स्वस्वरूप का वोध करा कर मुक्त करता है। अन्य गुरुओं की सेवा आदिक व्यवहार के भाव से करने योग्य है और ज्ञान देने वाले गुरु की सेवा सुश्रुषा संपूर्ण भाव से ही करनी चाहिये।

रात्रि चार पहर की होती है, संसार रात्रि रूप है। रात्रि रूप संसार में चार पहर के पिता आदिक चार गुरु रूप हैं पांचवें पहर में सूर्य उदय होकर प्रकाश करता है इसी प्रकार पांचवां ज्ञान गुरु सूर्य के प्रकाश के समान है। जिस प्रकार सूर्य उदय होने पर अंधकार का नाश होने से कमल प्रफुल्लित होता है इसी प्रकार सूर्य रूप ज्ञान गुरु से आत्म रूप कमल प्रफुल्लित होता है। वेद की सब श्रुतियां शिर के रत्न के समान जिसके चरण कमल में हैं, वेदान्त रूप कमल को प्रफुल्लित करने में जो सूर्य के समान है, ऐसे गुरु को हम नमस्कार करते हैं, हममें जो जो दुर्गुण घुस गये हैं, जिनकी हमको खबर तक नहीं है, ऐसे दोषों को जो दिखलावे, उनसे निवृत्त करने की युक्तियां बतावे, निवृत्ति करने में बारम्बार मदद दे, शास्त्र के अर्थ को भली प्रकार समझावे शास्त्रों के भिन्न भिन्न प्रकार के भावों को एक में समन्वय करके शंका रहित करे, मोक्ष और बंध के मार्ग का भिन्न भिन्न प्रकार से विवेचन करे, पाप पुण्य के उत्पत्ति, हेतु, नाश और कारण आदिक को भली प्रकार से दर्शावे, कर्तव्य अकर्तव्य का भेद समझा कर कर्तव्य का निर्णय करे और उसी में प्रवृत्त करे वह ही सद्गुरु रूपी जहाज के सिवाय अन्य उपाय से संसार रूपी सागर से कोई पार नहीं हो सकता।

सद्गुरु के साथ चित्त को जोड़ते ही ज्ञान होता है। ज्ञानी गुरु की महिमा अपार है। जिसने ऐसे पुरुष से सदुपदेश ग्रहण किया है, उसका कहना ही क्या है? उसने सब कुछ कर लिया

और सब देवों को तृप्त किया ! ऐसे गुरु की सेवा करने वाले के लिये स्वर्ग घर में है, साम्राज्य की लक्ष्मी उसकी दासी समान है ! सौभाग्य आदि गुण समूह अपने आप उसके देह रूप घर में आकर वास करते हैं ! संसार महा सागर से पार जाना उसके लिये सहज है ! हाथ में आमले के समान मोक्ष सुख विना प्रयत्न ही आ जाता है ! ऐसा पुरुष शरीर रहते हुए भी शरीर से रहित परमानन्द स्वरूप होता है। उसे धन्य है ! धन्य है !! बारम्बार धन्य है !!! ॥२३॥

उपस्थिते प्राणहरे कृतान्ते,
किमाशु कार्यं सुधिया प्रयत्नात् ।
वाक्कायचित्तैः सुखदं यमघ्नं,
मुरारि पादांबुजमेव चिंत्यम् ॥२४॥

अर्थः—प्रश्नः—बुद्धिमानों को प्राण जाने के समय में यत्नपूर्वक क्या करना चाहिये ? उत्तरः—सुख को देने वाले और यम के भय को नाश करने वाले परमेश्वर के चरणारविन्द का शरीर, वाणी और मन से चिंतवन करना चाहिये ।

छप्पय ।

करने देह वियोग, प्राणहर्ता जब आवे ।
यत्न करे क्या प्राज्ञ, कष्ट आगे नहिं पावे ॥

काया वाणी चित्त, तीन का संयम करके।
जग–प्रपंच का ध्यान, दूर निज मन से धरके॥
जो सबका सरदार है, काल निवारक सुखद अति।
चरण कमल भगवान् के, करे चिंतवन विमल मति॥२४॥

विवेचन।

काल का गाल इतना बड़ा है कि उसमें सब समा जाते हैं! काल सबका ही काल है, किसी को छोड़ता नहीं है! नाम रूपात्मक जो जो उत्पन्न हुआ है, उसका अवश्य नाश होगा। नाश होने के लिये ही उत्पन्न होता है। जो उत्पन्न होता है उसका नाश होता है और मृत्यु वाले की उत्पत्ति अवश्य होती है। कोई कितना ही प्रयत्न करे, काल से किसी का वश नहीं चलता। जिसका मरण न हो, उसका जन्म कभी नहीं होता। प्रत्यक्ष देखते हैं कि बड़े २ धार्मिक शूरवीर हुए हैं उनमें से किसी का भी शरीर नहीं रहा। वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य आदिक सबका मृत्यु नित्य देखने में आता है। कोई हैजे से, कोई प्लेग से, कोई युद्ध में, कोई विष से, कोई कुयेमें, गिर कर, कोई फांसी की लकड़ी पर चढ़कर मरता है। इस प्रकार अनेक प्रकार की व्याधियों से मृत्यु होता है। यह सब निमित्त हैं वास्तविक तो प्रारब्धानुसार काल ही सब का क्षय करता है। प्रत्येक को किसी न किसी प्रकार की चिंता लगी रहती है परन्तु मृत्यु की चिंता सब को ही है। यह चिंता सब चिंताओं से प्रबल है। अन्य चिंतायें प्रसंग प्राप्त होने पर होती हैं

परन्तु मृत्यु की चिंता मृत्यु से प्रथम ही सताती है। अपनी मृत्यु का विचार आते ही सब दीन हो जाते हैं, जगत् में मरना कोई नहीं चाहता। सुखी, दुःखी, रोगी, मूर्ख, विद्वान्, पंशु, पक्षी आदिक सबको अपना प्राण प्यारा होता है परन्तु आश्चर्य है कि मरना न चाहते हुए भी कोई मरने से बच नहीं सकता। शास्त्र में यम यातना का बहुत प्रकार से विधान है। महान् विक्राल स्वरूप वाला, सब का नाश करने वाला, मृत्यु कृतान्त है। जब जानते हैं कि मृत्यु इतना बलिष्ट है तब उसके निमित्त उपाय करना बुद्धिमानों का काम है। शरीर का नाश तो अवश्य होगा परन्तु शरीर के नाश के समय में अथवा उसके बाद दुःख न हो, इसका उपाय करना चाहिये। आयुर्वेद आचार्यों ने निर्णय किया है कि रोग की औषधि है मृत्यु की औषधिं नहीं है। बुद्धिमान् पुरुष को मरते समय क्या करना चाहिये? यह प्रश्न है। जिसने पूर्व में कुछ भी प्रयत्न नहीं किया है, वह प्रयत्न को जानते हुए भी मृत्यु के समय में प्रयत्न नहीं कर सकता। जिसने प्रथम से अभ्यास कर रक्खा है, वह ही मृत्यु के समय अभ्यास के बल से कुछ कर सकता है। मृत्यु का समय महान् विपत्ति का होता है, उस समय बुद्धि व्यग्र होजाती है, कर्तव्या-कर्तव्य का विचार अथवा प्रयत्न नहीं हो सकता इसलिये जो मरने के समय में करना है इसका अभ्यास प्रथम से ही कर रखना चाहिये, आने वाले दुःख को जानते हुए भी उसके निमित्त जो प्रयत्न नहीं करता वह महा मूर्ख है। संसार में इस प्रकार के मूर्खों की संख्या बहुत है! आने वाले दुःख की निवृत्ति करने वाले भी

तीन प्रकार के होते हैं:-एक दीर्घ दृष्टि जो प्रथम से ही आने वाले दुःख को जान कर प्रयत्न कर ले, दूसरा समयोचित कार्य करने वाला-जब दुःख आवे तब समझकर दुःख निवृत्ति का उपाय करे और तीसरा दीर्घ सूत्री जो दुःख आने पर भी 'हां दुःख से निवृत्त होने का प्रयत्न करूंगा' ऐसा विचारता ही रह जाय और दुःख की निवृत्ति न कर सके। दीर्घ दृष्टि प्रथम ही चेत जाता है इसलिये सुखी होता है। दूसरा भी दुःख से निवृत्त होजाता है परन्तु उसमें संदेह रहता है। मृत्यु को सब जानते हुए भी न जानते हुए के समान ही हैं, एक दीर्घ दृष्टि ही उसको जानता है और उसके निमित्त प्रयत्न करता है।

महाभारत में एक दृष्टांत इस प्रकार है:-एक तालाब में बहुत सी मछलियां रहती थीं। उनमें तीन मछलियां आपस में मित्र थीं। एक दीर्घ दृष्टि, दूसरी समयोचित मति और तीसरी दीर्घ सूत्री। एक बार मल्लाहों ने आकर, जाल बिछा कर मछलियां पकड़ना आरम्भ किया। उन्होंने नीची जमीन में जल बहने को बन्द तोड़ दिया और वहां से बहते हुए पानी में से मछलियां पकड़ने लगे। तालाब का पानी धीरे धीरे कम होने लगा। ऐसा देखकर भय आता हुआ समझकर दीर्घ दृष्टि ने अपने दोनों मित्रों से कहा "मित्रो ! जब तक हमारे निकलने का मार्ग रुक न जाय इससे प्रथम ही हमको दूसरे स्थान पर चला जाना चाहिये। जब तक अनर्थ आ न पहुंचे तब तक उत्तम रीति से रोक देना चाहिये, जिससे संशय में आना न पड़े। यदि मेरा कहना तुमको ठीक जचता हो तो हम तीनों इस तालाब से निकल भागें !" दीर्घ सूत्री

ने कहा "मित्र ! तू ठीक कहती है परन्तु इतनी जल्दी करने की कुछ आवश्यकता नहीं है, अभी जल बहुत है ऐसी मेरी बुद्धि निश्चय करती है।" समयोचित मति ने कहा "मित्र ! जब समय आ जायगा तब मैं प्रयत्न कर लूँगी, मैं इस बात को भूलने वाली नहीं हूँ इसलिये मुझे हानि नहीं हो सकती है।" दोनों मछलियों की बात दीर्घ दृष्टि को न जची ! वह दोनों का साथ छोड़कर रात्रि के समय प्रवाह मार्ग से निकल कर गहरे जल में पहुँच गई। जब मल्लाहों ने देखा कि तालाब में से बहुत सा जल बह गया है तो मछलियों की आजीविका करने वाले उन मल्लाहों ने अनेक प्रयोग से मछलियां पकड़ना आरम्भ किया। उन्होंने उस तालाब को हिला डाला और अन्य मछलियों के साथ दीर्घ सूत्री और समयोचित मति दोनों मछलियां जाल के बन्धन में आगईं; पीछे मल्लाहों ने एक एक मछली को रस्सी में पोना आरम्भ किया। दीर्घ सूत्री मछली पोई गई और मरण को प्राप्त हुई। समयोचित मछली बांध कर रक्खी हुई मछलियों के बीच में घुस गई और अपने मुख से रस्सी को पकड़ कर टंगी रही, जब मल्लाह सब मछलियों को बांध चुके और उन्होंने देखा कि सब मछलियां पोई गई हैं तब वे बहुत जल वाले तालाब में मछलियों को धोने चले। जब वे मछलियों को धोने लगे तब समयोचित मति रस्सी छोड़ कर अलग हो गई। मंदात्मा हीन बुद्धि वाली जड़ और मूढ़ ऐसी दीर्घ सूत्री विकल इन्द्रिय वाले प्राणी के समान मरण को प्राप्त हुई। इस प्रकार मोह के कारण जो प्राप्त हुए समय को नहीं जानता वह दीर्घ सूत्री के समान नाश को प्राप्त होता है। जो पुरुष

ऐसा विचारता है कि मुझे क्या हानि होने वाली है और प्रथम से अपने कल्याण का यत्न नहीं करता वह समयोचित मति मछली के समान संशय में पड़ता है। यदि समय प्राप्त न हो तो उसका बचना भी कठिन होता है। समय प्राप्त होने के प्रथम और समय पर योग्य बुद्धि से कार्य करने वाला सुखी होता है। तीनों प्रकार की प्रकृति वाले पुरुष तीनों प्रकार की मछलियां हैं। संसार तालाब है, आयु जल है, जब से जन्म होता है तब से ही काल रूप मल्लाह आयु रूप जल को कम करता ही रहता है और जल कम होते ही पकड़ लेता है। आयु रूप जल कम होते हुए भी मृत्यु का विचार न करने वाला दीर्घ सूत्री मछली के समान है। अभी देर है, अभी देर है, ऐसा वह विचारता ही रहता है, काल अचानक आकर पकड़ ले जाता है। काल से कोई किसी प्रकार नहीं बच सकता। जो काल आने से प्रथम ही अपने कल्याण का उपाय नहीं करता वह मनुष्य जन्म रूपी रत्न को व्यर्थ खो कर दुःख ही उठाता है।

आयुष् भर में मरने का समय बहुत कीमती है, जिसने उस समय को संभाल लिया उसने आयुष् को संभाल लिया; क्योंकि मरते समय जो भाव दृढ़ होता है, उसका ही फल होता है। मरने का समय आयुष् भर की परीक्षा रूप है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने का आधार पूर्व किये हुए अभ्यास पर है। जिसने पूर्व से अभ्यास दृढ़ कर लिया है, वह ही उत्तीर्ण होता है। यदि पूर्व का अभ्यास न हो तो मरने के समय ईश्वर भाव, ईश्वर स्मरण, मोह का त्याग आदिक शुभ भाव आ नहीं सकते। आयु का

कोई प्रमाण नहीं है-असुक मनुष्य की असुक आयु है, यह निश्चय रूप से मालूम नहीं होता। चालू समय ही मृत्यु के आने का हो तो क्या पता, इसलिये ईश्वर स्मरण आदि भाव हमेशा ही करना चाहिये। 'अभी तो युवावस्था है, बूढ़े हो जायंगे तव भजन कर लेंगे, हाल में तो संसार के मौज मज़े भोग लें' ऐसा विचार करके जो भोगों में प्रवृत्त रहता है, उससे कुछ नहीं होता। युवावस्था में जब कि शरीर, इन्द्रियां और अंतःकरण समर्थ हैं तब ही जिसने कुछ न किया तो बुढ़ापे में जब कि इन्द्रियां शिथिल, शरीर अशक्त और अंतःकरण अनेक चिन्ताओं से ग्रसित होता है तब क्या हो सकता है ? इसलिये मृत्यु के समय में करने के कार्य को प्रथम कर लेना चाहिये।

सुख को देने वाले, मृत्यु को नाश करने वाले परमात्मा का चिंतवन मन, वाणी और शरीर से करना चाहिये। सुख को देने वाला और मृत्यु का नाश करने वाला ईश्वर के सिवाय और कोई नहीं है। माता, पिता, स्नेही आदिक व्यवहारिक सुख देने वाले कहे जाते हैं परन्तु वे सम्पूर्ण सुखदाता नहीं हैं, केवल कुछ भाव के सुखाभास को ही देते हैं वह सुखाभास भी दुःख रहित नहीं है और मृत्यु के सामने तो किसी प्रकार का वचाव करने में कोई समर्थ ही नहीं होता। कोई कैसा भी सामर्थ्य वाला हो अपनी मृत्यु को हटा नहीं सकता तव दूसरे की मृत्यु को किस प्रकार हटा सकता है ?

एक गृहस्थ बहुत कुटुम्ब वाला था। उसकी एक स्त्री दो पुत्र और दो पुत्रियां थीं। इनके सिवाय ताऊ, चाचा आदिक के बहुत

से लड़के और लड़कियां थीं, सब कुटुम्ब में सुमति थी सब एक दूसरे को चाहते थे और ईश्वर कृपा से दो पैसे से सुखी थे। यह कुटुम्ब सुखी कुटुम्ब के नाम से प्रसिद्ध था। उस गृहस्थ का बड़ा पुत्र पच्चीस वर्ष का धन्धे में कुशल था। शांत प्रकृति वाला था और सब से मेल मुलाहिजा रखता था। वह व्यवहारिक, कौटम्बिक कार्य में दक्ष था; न्याति, जाति, मुहल्ला, शहर, छोटे बड़े साहूकार, गरीब और राज कारभारी सब उसे चाहते थे। उस शहर में एक यह ही मनुष्य था कि जो मणि के समान शीतल प्रकाश से प्रकाशित हो रहा था, सब प्रकार का सुख था, उसका विवाह हो गया था और एक पुत्र भी था। दैवयोग से वह बीमार पड़ा, उसकी बीमारी असाध्य थी, बहुत रुपया खर्चा गया, बहुत अमूल्य दवाओं का उपयोग किया गया और सब ऐसा आशीर्वाद दे रहे थे कि वह आरोग्य हो जाय, परन्तु उस बीमारी ने किसी की बात न सुनी! दिन पर दिन बीमारी बढ़ती गई वैद्य, हकीम और डाक्टरों ने उसके जीते रहने की आशा छोड़ दी, कुटुम्ब में खलबली मच गई, सबका चहरा उदास हो गया! सब को ईश्वर का दोष दिखाई दिया। कुटुम्बी यहां तक चाहते थे कि उसके बदले में हम मर जांय तो अच्छा हो क्योंकि उसका जीता रहना सब के लिये हितकर है उसके जीते रहने से ही सब कुटुम्ब सुखी है, जब से उसका जन्म हुआ है तब से हमारी रति बढ़ती ही गई है, सब वैभव उसका ही है, सब मर जांय परन्तु सब का पालने वाला न मरे! इसी समय उस शहर में एक यतीराज आया, सब शहर वाले उसे बहुत प्रसिद्धि प्राप्त

किया हुआ सिद्ध समझते थे। उसने कई भारी भारी चमत्कार किये थे, लोगों में ऐसी श्रद्धा थी। यदि वह कृपा करे तो लड़का अवश्य वच जाय, ऐसा सब को विश्वास था। सहारा रहित होने से माता पिता उस यतीराज के पास पहुँचे और अपने लड़के की असाध्य बीमारी का हाल कहा। यतीराज वोले "संसार में सब संस्कार वश आते हैं, लेन देन का हिसाब चुकाते हैं! आना और जाना संसार का क्रम है! मरने वाले को कोई रोक नहीं सकता! जिसकी आयुष् प्रवल होती है, टूटी नहीं होती उसका नाश करने में कोई समर्थ नहीं है। आपत्ति में ईश्वर पर भरोसा रखना ही सब को हितकर होता है!" यह सुन कर लड़के का पिता वोला "आप सब प्रकार समर्थ हैं! हमारे लिये आप ही ईश्वर हैं! यदि आपकी कृपा हो जाय तो उसका वच जाना असंभव नहीं है! आप तो प्रारब्ध की रेख पर भी मेख मारने वाले हैं! हमारी रक्षा आपको अवश्य करनी होगी! हम लड़के को आपके पास ले आते परंतु उसकी हालत वहुत खराव है, वह आपके पास ले आने के योग्य नहीं है। आप कृपा करके हमारे घर पधारिये और उसे कृपा दृष्टि से देखिये। हमको पूर्ण विश्वास है कि आपके दर्शन से उसकी सब बीमारी दूर हो जायगी. वह हमारा प्राण है। यदि हमारे प्राण के वदले उसका प्राण बच जाय तो हम तैयार हैं! उसके विना सब कुटुम्ब अनाथ हो जायगा!" यह सुन कर यतीराज को संदेह हुआ कि यह लोग उसके वदले में अपने प्राण देने को कहते हैं, परंतु जहां तक मेरा ख्याल है वहां तक ये अपने प्राण देने वाले नहीं हैं। चाहे अपना

कितना ही प्यारा हो संसारी मनुष्य दूसरे के निमित्त अपने प्राण नहीं दे सकता। उसके घर पर जाकर परीक्षा करना चाहिये, ऐसा विचार कर एक भभूति की पुड़िया एक श्वेत शीशी में डाल कर उसमें कमंडलु में से एक छटांक जल डाल कर यतीराज लड़के के पिता माता के साथ उनके घर पहुँचा। उसके पहुँचते ही लड़के के प्राण निकल गये। सब रोने पीटने लगे। यतीराज ने कहा "रोओ पीटो मत, लड़का तो मर ही गया है, परन्तु उसके जी जाने का एक उपाय है!" लड़के की बहिन बोली "महाराज! किसी प्रकार से उसे सजीवन कर दीजिये!" यतीराज बोले "क्या तुझे अपना भाई प्यारा है? क्या तू उसके लिये अपने प्राण दे सकती है?" बहिन बोली "महाराज! मैं प्राण देने को तैयार हूँ! किसी प्रकार वह जी जाय! यह चाहती हूँ!" यतीराज ने जल भरी शीशी निकाल कर कहा "यह विष है, इसको पी जा! इसके पीने से तू तो मर जायगी और तेरा भाई जी जायगा!" बहिन बोली "यतीराजजी! मैं मरने को तो तैयार हूँ परन्तु यह कड़वा विष पिया न जायगा। कड़वी दवा मुझसे पी नहीं जाती!" यतीराज बोले "यह विष कड़वा नहीं है!" बहिन हाथ जोड़ कर कहने लगी "महाराज! मुझे दवा के नाम से ही कै आ जाती है! मैं पी नहीं सकती!" यतीराज बोले "खैर! तू नहीं पी सकती तो न सही, क्या कोई और पी सकता है वह तो सबका ही प्यारा था!" उसका छोटा भाई वहां खड़ा था, यतीराज ने उसकी तरफ देख कर कहा "बच्चा! क्या यह विष पीकर तू अपने भाई के बदले मरना

चाहता है ?" वह बोला "महाराज ! मैं अकेला ही क्या, यह मेरा भाई जी उठे तो उसके लिये हमारा कुटुम्ब भर मरने को तैयार है !" यतीराज ने कहा "अच्छा ! तो इस विष को पी जा ! वह बोला "क्या विप पीकर मर जाने के सिवाय उसके जीने का कोई और उपाय नहीं है ?" यतीराज ने कहा "नहीं !" वह बोला "महाराज ! कृपा कीजिये, मुझे विप पीने की आदत नहीं है !" इसकी स्त्री हाथ जोड़ कर कहने लगी "महाराज ! इसे विप मत दीजिये, इसके विना मेरा जीवन व्यर्थ है, क्योंकि मैं अभी व्याही आई हूं !" लड़का बोला "हाय ! क्या किया जाय ! महाराज ! मैं विष पीने का विचार कर ही रहा था, इतने में यह कहां से आन मरी ! मैं लाचार हूं !" तब यतीराज ने मृतक की मां की तरफ देख कर कहा "माई ! तू तो मरने वाले की माता है ! माता को जितना पुत्र प्रिय होता है, उतना और किसी को नहीं होता ! क्या तू मरने वाले के बदले विष पीने को तैयार है ?" मां रोने लगी और यती-राज के पैरों पर गिर कर कहने लगी "महाराज ! लड़का जीना चाहिये !" यतीराज ने कहा "माई ! यदि तू विष पी कर मर जायगी तो लड़का अवश्य जी उठेगा !" मां ने कांपते हुए हाथ से शीशी को लेकर डाट खोली और मुख की तरफ ले जाकर हाथ को हटा कर कहा "हाय ! मैं कैसी अभागी हूँ ! महाराज की आज्ञानुसार लड़का जीने के निमित्त मुझसे विप नहीं पिया जाता ! महाराज ! मालूम होता है कि मैंने बहुत पाप किये हैं, जो मुझसे

विप नहीं पिया जाता ! मैं दिल से बहुत ही चाहती हूं परन्तु हाथ मुख की तरफ नहीं जाता !" यह कह कर वह शीशी को यत्नपूर्वक मुख की तरफ ले गई, इतने में ही उसे उबकाई आ गई और चौंक पड़ी। यतीराज ने उसके हाथ में से शीशी छीन ली। वह बोली "महाराज ! यह विप तो मुझसे पिया नहीं जाता !" यतीराज बोले "तुम लोगों का चाहे जितना प्रेम है मरने वाले के बदले तुम प्राण देने को तैयार हो परन्तु दिल के कमजोर हो (मृतक के पिता की तरफ देखकर) सेठ ! तू वृद्ध है, मैं समझता हूं कि पुत्र के बदले तू विष पी जायगा !" पिता बोला "महाराज ! यदि पुत्र जी जाय तो मैं विप पिये लेता हूं परन्तु मुझे एक शंका है कि यदि मैंने विप पी लिया, मैं मर गया और पुत्र न जिया तो फिर क्या होगा ? हम लोगों ने कच्चा दूध पिया है इसलिये बारम्बार शंका होती है, यदि पुत्र जी जाय तो यह शंका ही न रहे, पुत्र के जी उठने के बाद मैं विप पी लूँगा !" यतीराज बोले "सेठ ! तू बुद्धि-शाली है, तेरी इस शंका ने तुझे दीन किया है। भला सोच तो सही कि कहीं ऐसा हो सकता है, कोई एक पुरुप पुत्र के निमित्त विवाह करना चाहता था, उसमें शंका घुस गई कि विवाह कर लिया और पुत्र न हुआ तो क्या होगा ? इसलिये पुत्र प्रथम हो जाय तो पीछे विवाह कर लूँ, विचार तो सही कि विना विवाह-संबंध पुत्र कैसे हो सकता है ?" पिता बोला "महाराज ! यदि आप पुत्र को जिला देने की प्रतिज्ञा करें तो मैं विप पी लूँगा !" यती-राज बोले "बच्चा ! मैं सच कहता हूं, यदि तू प्रसन्न मन से विप को पी लेगा तो पुत्र सजीवन हो जायगा। जी में दुःखी होकर न

पीना, नहीं तो पुत्र सजीवन न होगा !" वह बोला "हाय ! महाराज ! आप तो अपनी सी बात करते हैं, मुझे अपने दिल की क्या खबर है ? यदि जरा भी दुःखी हो जाऊं तो मामला बिगड़ जाय ! मुझे अपने दिल का भरोसा नहीं है !" यतीराज बोले "तब विष पीना व्यर्थ है ! तेरे दिल में तो प्रथम से ही शंका घुसी हुई है ! क्या तुम्हारे कुटुम्ब में से कोई और मरने को तैयार है ?" वह बोला "पत्नी को पति विशेष प्यारा होता है, यह सामने खड़ी है, आप उससे पूछ देखिये, पुत्र के पीछे माता पिता मरते नहीं सुने हैं परन्तु पत्नियां तो बहुत सी सती होती हुई सुनी हैं !" यतीराज ने कहा "क्या तू अपने पति के बदले विष पीने को तैयार है ?" स्त्री बोली "महाराज ! अवश्य तैयार हूँ, साध्वी स्त्रियों का यह धर्म ही है ! मैं तो कब की सती हो गई होती परन्तु क्या करूं एक बच्चा पेट में है और एक गोद में है ! भला ! मैं विष किस प्रकार पी सकती हूं, विष पीने से तो दो की हत्या होगी, माता बिना बालक का दूसरा आधार नहीं होता ! हम गृहस्थियों को सब गृहस्थी का विचार करना पड़ता है, आप ही विचार कर कहिये, क्या मुझे विष पी जाना उचित है ?" यती-राज बोले "सती ! तेरी हिम्मत को धन्य है ! सती होने की तीव्र इच्छा होते हुए भी तू बच्चों के कारण साध्वी भाव को त्याग रही है !" स्त्री हाथ जोड़ कर बोली "महाराज ! आपके समान परोप-कारी दुनियां में कौन होगा आपको संसार में कोई कार्य करना बाकी नहीं है, शरीर के ऊपर आपकी आसक्ति नहीं है. मेरे हित के लिये-मेरे अखंड सौभाग्य रहने के लिये आप ही विष पी लें तो

कैसा अच्छा हो । मेरा पति विद्या, विनय संपन्न और सबका प्रेमी था, आप भी ऐसे ही हैं, समान बदले से ही कार्य सिद्ध होगा !" यतीराज हंसी को रोक कर बोले "हां ! यह विचार तो उत्तम है, मेरे विष पीने से भी वह जी सकता है !" मरने वाले की माता बोली "हां ! हां ! महाराज ! ठीक है ! तुच्छ मनुष्यों से क्या हो सकता है ! आप ही पी लीजिये, विलम्ब न कीजिये !" पिता बोला "हां ! युक्ति तो अच्छी है. आपके पीछे कोई रोने वाला भी नहीं है ! आपके न रहने से कोई कुटुम्बी भी दुःखी होने वाला नहीं है !" मृतक का भाई बोला "हां ! सच बात है ! आपके समान कौन पराक्रमी होगा ? आपके बदले मेरा भाई जी उठेगा, आप सामर्थ्य वाले हैं, पीछे आप भी जी उठेंगे !" बहिन बोली "महाराज ! जब आपने यहां तक आने की कृपा की है तब विष पीने की भी कृपा कीजिये ! आपकी वाह वाह हो जायगी, आपका यश दूर दूर तक फैल जायगा ! आपका नाम जब तक आकाश में चन्द्र सूर्य हैं तब तक बना रहेगा ! हम सुखी होंगे !" यतीराज ने प्रसन्न होते हुए सबकी बात सुनी, जिसकी जांच करने आये थे, उसकी जांच हो चुकी, प्रसन्न होते हुए बोले "हे कुटुम्बियो ! मैं ही विष पीता हूँ, मैं तत्क्षण नहीं मरूंगा, मेरे योग प्रभाव से मुझ पर विष का बहुत कम असर होगा !" ऐसा कहकर यतीराज ने शीशी का जल पी लिया और कहा "जब मैं मरूंगा तब यह सजीवन हो जायगा, यदि मैं विष से न मरा तो लाचार हूँ !" ऐसा कहकर चल दिये । इस दृष्टांत से सिद्ध होता है कि मृत्यु को कोई हटा नहीं सकता; माता, पिता, भाई, बहिन आदिक और ऐश्वर्य कोई

भी मृत्यु हटाने में समर्थ नहीं है। चाहे कोई कितना भी प्रेमी हो, प्रेमी के लिये अपने प्राण देना नहीं चाहता ।

एक ईश्वर में ही ऐसी सामर्थ्य है कि वारम्वार होने वाले मृत्यु से बचा सकता है। स्थूल शरीर की मृत्यु अवश्य होगी परंतु जिस मृत्यु से वारम्वार मृत्यु हुआ करती है उस मृत्यु की मृत्यु करने वाला ईश्वर का ज्ञान है इसलिये योग्यतानुसार शास्त्र विहित कर्म, उपासना अथवा परब्रह्म का ज्ञान करना चाहिये। मुर दैत्य को मारने वाले को मुरारि कहते हैं। मृत्यु को मुर दैत्य के समान समझो। जैसे विष्णु भगवान्‌के अवतार ने मुर दैत्यका नाश किया था इसी प्रकार परमात्माका चिंतवन वारंवार करनेसे मृत्यु के भय को नाश करता है। जैसे सब मनुष्य दो पैर से खड़े होते हैं, ऐसे ही जगत् और प्रलय जिसके दो पैर हैं ऐसा परब्रह्म उपासना करने योग्य है। जगत् और प्रलय दोनों जिससे हैं-जिसमें भासित होते हैं, उसका चिंतवन करना चाहिये। चिंतवन तीन प्रकार से होता है, शरीर से, इन्द्रिय से और मन से। संत महात्मा के पास जाना, तीर्थाटन करना और सगुण प्रतिमा आदिक में विष्णु आदिक भाव रख कर वाह्योपचार से सेवा करना शारीरिक है। सगुण देवता के गुण युक्त भाव की प्रतिमा को देखना, स्पर्श करना आदिक इन्द्रिय से होने वाले चिंतवन हैं, अथवा उस परब्रह्म के गुणानुवाद कथन करना, दूसरों को सुनाना भी इन्द्रिय चिंतवन है। मन करके हृदय में सगुण अथवा निर्गुण को जानना, सुने हुए और समझे हुए परब्रह्मका मनन करना, ध्यानधरना आदिक मानसिक चिंतवन है। सगुण उपासक जो मानसिक पूजन करता

है, वह भी मानसिक चिंतवन है। श्रद्धा भक्ति युक्त जितना जिसका अधिकार है, उसके अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया चिंतवन संबंधी करना चाहिये। दया, करुणा, संतोषादिक शुभ गुण और अनेक प्रकार के जो यज्ञ हैं, उनको ईश्वर के निमित्त करना ईश्वर चिंतवन है। कोई भी क्रिया जिसमें अपना विषय-अहं भाव न हो, ईश्वर के भाव से ईश्वर की क्रिया हो, वह भी ईश्वर चिंतवन है। ऐसे चिंतवन का अभ्यास पड़ जाने से मरने के समय पर चिंतवन हो सकता है। इस प्रकार अभ्यास करने वाले के स्थूल शरीर का तो नाश होगा ही परन्तु आगे के लिये उसका हित होगा। किये हुए शुभ कर्मों से यानी कायिक कर्मों के भाव से चिंतवन करने वाले को मरने के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती है और यदि उनमें ज्ञान का भी भाव हो तो ब्रह्म लोक तक की प्राप्ति हो सकती है। वहां जाकर दिव्य ऐश्वर्य को भोग कर अन्त में परम पद की प्राप्ति होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में मरण के समय ध्यान करते हुए शरीर छोड़ने को लिखा है योगी लोग समाधि द्वारा अपने प्राण छोड़ते हैं। जिसको दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि हुई है, उसको तो मरने के समय कोई मुख्य क्रिया करने को शेष नहीं रहती क्योंकि जिस समय उसको ज्ञान प्राप्त हुआ उसी समय शरीराभाव रूप उसका मृत्यु हो गया। अब वह प्रथम ही मर चुका है, इसलिये स्थूल शरीर के नाश के समय कुछ करने को बाकी नहीं रहता। यह जीवन्मुक्त महात्माओं के लिये है, उपासकों को तो मरते समय शुभ भाव, दिव्य भाव अथवा आत्मभाव अवश्य कर्तव्य है। ऐसा करने को

प्रथम से ही तैयार रहना चाहिये। उत्तम मनुष्यां को तो हर समय मृत्यु—काल समझ कर चिंतवन करना चाहिये। इस प्रकार चिंतवन करने वाला कभी धोखा नहीं खाता। यदि कोई कहे कि क्या ईश्वर को खुशामद प्रिय है, जो खुशामद करने वालों को उत्तम फल देता है। यह शंका पूर्ण मूर्खता की है। ईश्वर अपनी तरफ से न तो किसी को कुछ देता है न कुछ लेता है। उपासना, चिंतवन ईश्वर की खुशामद नहीं है, किंतु ईश्वर के नाम से अपनी ही खुशामद है। भूमि का यह स्वभाव है कि जो कोई उसमें अन्न डालता है, योग्यता के अनुसार वह उस अन्न को बहुत गुणा करके देती है इसी प्रकार परब्रह्म जो भूमा है वह भी तुम्हारा ही तुम्हारी तरफ अनंत गुणा करके लौटा देता है। परब्रह्म की तरफ तुम्हारा शुभ, अशुभ, ऊंच नीच जो भाव जायगा वह अनेक गुणा होकर लौटेगा। इसलिये शुभ भावना से परमात्मा का चिंतवन करना चाहिये। जो जैसा बोवेगा वैसा ही काटेगा! जैसे अन्न बोने की वर्षाऋतु है इसी प्रकार मरण समय भाव बोने की उत्तम ऋतु है ॥२४॥

के दस्यवः संति कुवासनाख्याः,
कः शोभते यः सदसि प्रविद्यः।
मातेव का या सुखदा सुविद्या,
किमेधते दान वशात्सुविद्या ॥२५॥

अर्थः—प्रश्नः—चोर कौन है? उत्तरः—बुरी वासनायें। प्रश्नः—सभा में कौन शोभता है? उत्तरः—महा विद्वान्। माता के समान

सुख देने वाली कौन है ? उत्तरः-सुविद्या। प्रश्नः-दान देने से क्या बढ़ता है ? उत्तरः-सुविद्या।

छप्पय।

कौन कहावे चोर ? नित्य पर धन को हरती।
बुरी वासना चोर, आत्म धन चोरी करती॥
भाग्यवन्त नर कौन ? सभा में शोभा पावे।
परि पूरण विद्वान्, सभा के मध्य सुहावे॥
क्या सुख दायिनि मातु सम, सुविद्या है सुख दायिनि।
क्या बढ़ता है दान से ? सुविद्या सहज सुहावनि॥२५॥

विवेचन।

जो दूसरे के माल को चुराता है, वह चोर कहलाता है। चोरी दो प्रकार की होती है, आत्मिक धन की और लौकिक धन की। लौकिक धन आत्मिक धन की अपेक्षा से तुच्छ है क्योंकि लौकिक धन का उपयोग जिन्दगी मात्र का है और आत्मिक धन की सार्थकता अनेक जन्मों का फल रूप है। आत्मिक धन को चुराने वाली कुवासना से स्वरूप का बोध नहीं होता इसलिये स्वरूप के बोध को चुराने वाली-रोकने वाली कुवासना है। लोक में तो शास्त्र निषिद्ध और लोक निषिद्ध वासनाओं को कुवासना कहते हैं परन्तु परम पद के भाव में आने वाले को तो चाहे लौकिक कुवासना हो चाहे सुवासनायें हों दोनों ही कुवासनायें हैं। स्वर्ग प्राप्ति की वासना अथवा नरक प्राप्ति की वासना मुमुक्षु को

दोनों ही घोर रूप हैं, कुवासना मलिन वासना को कहते हैं। लोक वासना, शास्त्र वासना और देह वासना ये तीन मलिन वासनायें हैं, उनके भेद में अनेक प्रकार की वासनायें होती हैं, वे सब ही कुवासनायें हैं। सब संसार मुझको भला कहे, कोई मेरी निन्दा न करे, स्तुति ही करे, इस प्रकार के आचरण को ही मैं करूँगा, ऐसा जो आग्रह है उसे लोक वासना कहते हैं अथवा स्वर्गादि अमुक लोक में मैं जाऊँ वहां ऐश्वर्य को भोगूं, इस वासना को भी लोक वासना कहते हैं, सब संसार ही भला कहे, यह होना अशक्य है, स्वर्ग और ऐश्वर्य आदि की वासना भी कर्तव्य सहित दृढ़ होती है और उसमें उसकी सहायक अदृष्ट आदि कई सामग्री के साथ फल की प्राप्ति होती है। फिर भी फल नाशवन्त होता है इसलिये वह कुवासना है। गुणवान् और वीर्यवान् शुभ मनुष्यों की निन्दा करने में भी लोग नहीं चूकते। इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए श्रीरामचन्द्रजी भी साक्षात् लक्ष्मी की अवतार रूप जगत् मातु सीताजी के लोकापवाद को सुन न सके तो अन्य निन्दा को किस प्रकार सुन सकते हैं? इन सब कारणों से लोक वासना सम्पादन करना कठिन है। नीति में कुशल पुरुष निन्दा करो, स्तुति करो, लक्ष्मी इच्छानुकूल प्राप्त हो अथवा जाओ, मरण आज हो अथवा युग के अन्त में हो, धीर पुरुष न्याय मार्ग से एक पैर भी नहीं डिगते। जो भीतर में वास करती है—बसती है, वह वासना है। जो भाव दृढ़ होता है, वह वासना है। शास्त्र वासना तीन प्रकार की हैं:—पाठ वासना, बहु शास्त्र वासना और अनुष्ठान वासना।

शास्त्र वासना भी जन्म का हेतु होती है। यह वासना अच्छी कही जाती है परन्तु तत्त्व के ग्रहण होने तक ही उसका भाव उपयोगी है उस भाव में ही रुक कर तत्त्व की तरफ न जाना अच्छा नहीं है। जो पढ़ना पढ़ने के लिये अथवा दूसरों को पढ़ा कर आजीविका करने के निमित्त हो वह पढ़ना गुणना रूप नहीं है। पढ़ना गुणने के निमित्त होना चाहिये और गुणना आचरण-स्थिति के निमित्त होना चाहिये। स्थिति के बाद पढ़ने और गुणने के अभिमान-आग्रह को छोड़ देना चाहिये ऐसा न होगा तो स्थिति न होगी क्योंकि स्थिति अहंभाव के शिथिल करने और त्याग करने में है इससे विरुद्ध पढ़ना और गुणना अहंभाव को दृढ़ करता है। तत्त्व बोध के निमित्त पढ़ने और गुणने का भाव वासना नहीं कही जाती क्योंकि वह उपाय रूप है। जो मरण तक भी निवृत्त न हो ऐसी दृढ़ भाव वासना है। वासना अन्तःकरण को मलिन करती है, विवेक नहीं होने देती। लोक वासना, शास्त्र वासना और देह वासना से मनुष्य को ज्ञान नहीं होता। मैत्री, करुणा, मुदिता आदिक भाव प्रतिकूल वासनाओं के रोकने में मदद रूप हैं। शरीर के ऊपर दृढ़ भाव होना देह वासना कही जाती है। देह की वासना पुनः देह धारण कराने में हेतु रूप होती है। जो शरीराध्यास है, वह ही देह वासना है। शरीर को ही 'मैं' समझना, समझ कर बर्ताव करना देह वासना है। जब तक जन्तु देह वासना से बँधा हुआ है तब तक उसका कल्याण नहीं हो सकता। जब किसी पदार्थ के देखने अथवा सुनने से वृत्ति चिपट जाय तो देह छूटने के बाद जहां

वृत्ति निवृत्त नहीं होती है, वहां विद्वान् पुरुष को भी जन्म धारण करना पड़ता है। इस कारण से ही महात्मा जड़ भरत को मृग योनि में जन्म लेना पड़ा था। वासना से बंधा हुआ वासना के पदार्थ में खिंच आता है और अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता।

किसी योगेश्वर का जब प्राणान्त समय समीप आया तब उसने अपने शिष्य को भूमि आदि पवित्र करके आसन बिछाने की आज्ञा दी। शिष्य ने आसन तैयार किया। योगेश्वर उस पर आसन लगा कर ध्यान में बैठा। ध्यान से प्राण छोड़ने की इच्छा से ऐसा किया गया था। स्वरूप का ध्यान करते समय दृष्टि के सामने एक आम के वृक्ष की शाखा झुक रही थी और उसमें एक पका हुआ सुन्दर आम लटक रहा था। उस आम को देख कर योगेश्वर की इच्छा उसके खाने की हुई। इच्छा हुई परंतु बोल बंद हो चुका था। इच्छा होते ही प्राण शरीर से निकल गया। योगेश्वर ने मरने से प्रथम अपने भक्तों से कह रक्खा था कि जिस समय मेरा प्राण शरीर से भिन्न होगा तब मेरे शरीर में से एक प्रकार का प्रकाश निकलता हुआ और आकाश में जाता हुआ मेरे भक्तों को दिखाई देगा। शरीर में से प्रकाश किस प्रकार निकल कर जाता है, यह देखने को सब भक्त उत्सुक थे परंतु किसी ने प्रकाश को न देखा इसलिये सब दुःखी हो रहे थे। मैंने प्रकाश नहीं देखा तो दूसरे ने देखा होगा ऐसा समझ कर सब 'तूने देखा तूने देखा' इस प्रकार एक दूसरे से पूछने लगे। सब ने यह ही कहा कि हमने प्रकाश नहीं देखा।

घंटा भर व्यतीत हो गया फिर भी प्रकाश न दीख पड़ा ! उस समय वहां एक दूसरा योगेश्वर आया, उससे सब ने प्रकाश न दीखने का कारण पूछा। उस बुद्धिशाली योगी ने देखा तो मृतक योगेश्वर की दृष्टि के सामने पका हुआ आम दिखाई दिया तुरंत ही उसने उस आम को तोड़ कर चीर डाला। उसमें से एक जंतु निकल पड़ा और बाहर की हवा लगने से थोड़ी देर में मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसी समय योगेश्वर के भक्तों ने कीड़े में से एक प्रकाश निकल कर आकाश में जाता हुआ देखा। यह देख कर सब भक्त प्रसन्न हुए। योगेश्वर की रथी धूम धाम से निकाली गई। इस दृष्टांत से समझ में आ गया होगा कि वासना महा शत्रु-महा चोर है, "देह का कर्म देह करती है, आत्मा की उसमें हानि नहीं है" ऐसे कथन करने वाले बोध रहित शुष्क वेदान्तियों से भाषण करना भी उचित नहीं है। वासना इतनी दुस्तर होते हुए भी जब ज्ञान होता है तब अज्ञान के साथ अज्ञान की समग्र वासनाओं का नाश हो जाता है। अहं ग्रंथि 'मैं और मेरा' कर्म ग्रंथि 'पाप और पुण्य' और संशय ग्रंथि 'ऐसा होगा या नहीं' इतनी ग्रंथियां होते हुए कोई भी मुक्त नहीं हो सकता।

मोक्ष का किसी स्थान में वास नहीं है, मोक्ष किसी ग्राम विशेष में नहीं है, हृदय की अज्ञान रूप ग्रन्थि के टूटने का नाम ही मोक्ष है। अन्तःकरण के अभाव विना भाव स्वरूप मोक्ष कहां ? आकाश में, पाताल में अथवा पृथिवी पर मोक्ष नहीं है, संशय की निवृत्ति और चित्त का चेतन में लय होना ही मोक्ष

है। जब तक मन स्थिर नहीं है तब तक मोक्ष नहीं है। मन वासना से स्थिर नहीं होता। जब मन स्थिर हो जाय तब मोक्ष सहज है! वासना होने का कारण भी चित्त की अस्थिरता है। ये सब अच्छी और बुरी जगत् वासनायें कुवासना ही कही जाती हैं। निर्मल ज्ञान और अपने स्वरूप का यथार्थ अनुभव कराने वाली होने से 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसी अखंडाकर वृत्ति ही सुवासना कही जा सकती है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की दृढ़ वासना, अविद्या से हुए चित्त के विक्षेप रूप रोग को नाश करने वाली रसायन है। 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसी अखंड वृत्ति होने के बाद प्रारब्धानुसार शरीर का धर्म रहे भी, तो देखने मात्र ही होता है। जैसे लोहे की खुरपी घास ही खोदती है किन्तु जब उसे पारस का स्पर्श हो जाता है तब खुरपी की आकृति होते हुए भी सुवर्ण हो जाती है, घास खोदने की क्रिया नहीं करती तैसे ही ब्रह्माकार वृत्ति होने के बाद शरीर इन्द्रियों की आकृति देखने मात्र की होती है। अज्ञानियों के समान ज्ञानी का देह, इन्द्रियां क्रिया नहीं करतीं और न किसी प्रकार की वासना रहती है क्योंकि साक्षात्कार होते ही व्यवहारिक सत्यता का लोप हो जाता है। जो पुरुष वासना निवृत्त हुए बिना ही मोक्ष मानता है वह कुत्ते के समान है। मुमुक्षुओं की आत्म प्राप्ति की वासना-भाव जो शुद्ध कहा जाता है-सुवासना कही जाती है, वह भी जब निवृत्त हो जाती है तब परम पद होता है।

किसी एक नगर में दो मित्र रहते थे उनमें से एक शुद्ध अन्तःकरण का था और दूसरे का अन्तःकरण मलिन और वैर

भाव वाला था। उसने वैर लेने के निमित्त एक युक्ति की। 'मेरे साथ मित्र का प्रेम है, यद्यपि मेरा तो वह वैरी है, मैं ऊपर से उसे मित्र भाव दिखाता हूँ, उसका सब धन मेरे घर है, यदि वह मर जाय तो मेरे लड़के उस धन के मालिक बन जांय, मैं मर जाऊँ तो मेरा मित्र भी मेरे पीछे मर जायगा' ऐसा विचार कर एक ऊँचे स्थान से गिर कर वह मर गया! उसका मरण सुन कर शुद्ध अन्तःकरण वाले ने विचार किया "मेरा मित्र मुझको सूचना दिये विना आपघात न करता, वह अवश्य अकस्मात् गिर कर मर गया है, इस प्रकार मर जाने से उसमें वासना रह जाने का सम्भव है इसलिये मुझे ऐसा करना चाहिये जिससे उसकी गति होजाय!" ऐसा विचार कर वह उच्च स्थान पर गया और "मेरे मित्र की गति हो" ऐसा कहते हुए गिर कर मर गया। दोनों के मरने के वाद का परिणाम ऐसा हुआ:-कपटी मित्र अपने मित्र के मारने को मरा था, उसकी वासना बुरी थी परन्तु शुद्ध मित्र की वासना जो कपटी मित्र के लिये की गई थी, उस शुभ गति की वासना के अनुसार तुरन्त उसकी गति हो गई और कपटी मित्र की कुवासना शुद्ध मित्र को प्राप्त होने से उसकी गति होने में विलम्ब हुआ। इस प्रकार वासनाकी गति विचित्रहै, अपनी हो या दूसरे की हो जिसमें मेल होजाय-बस जाय, उसको फल होता है। चोर चोरी करके माल को ले जाता है, जब पकड़ा जाता है तब बन्धन में पड़ता है परन्तु यहां तो जिसकी वासना चोर होती है, वह कुवासना मालिक (आत्मा) को बन्धन में डालती है इसलिये वासना के समान विलक्षण चोर कोई भी न

होगा ! चोर चोरी करे और साहूकार बांधा जाय । यह न्याय वासना पर लागू होता है । जैसे बने वैसे मनुष्य को स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप सब प्रकार की वासना रूप चोर को भगाना चाहिये । सम्बंध की चिकनाई से वासना होती है ।

सज्जन पुरुषों के समुदाय-मंडली को सभा कहते हैं । सभा में विद्वानों की शोभा है, मूर्खों की नहीं, सज्जनों के समाज में सभ्यता से वाद विवाद और विचार होता है, मूर्खों में तो गाली गलौज मार पीट होती है इसलिये मूर्खों का समुदाय सभा नहीं कही जाती । सभा में विद्वान् शोभते हैं । विद्वान् दो प्रकार के होते हैं लौकिक विद्या वाले और आत्म विद्या वाले । इन दोनों में आत्म वेत्ता ही वास्तविक विद्वान् है, उसकी प्रतिष्ठा को कोई अन्य नहीं पा सकता । जिन राजा महाराजों का सेवन सैकड़ों हजारों मनुष्य करते हैं ऐसे राजा महाराजा भी विद्वान् आत्म वेत्ता की कृपा दृष्टि की इच्छा करते हैं । मनुष्य में बुद्धि की विशेषता है । आत्म भाव की बुद्धि अन्य भाव की बुद्धियों से श्रेष्ठ है और जो आत्म स्वरूप हुआ है उसका तो कहना ही क्या है ! वह ही सभा में शोभा पाता है इतना ही नहीं उससे सब सभासद् शोभा को प्राप्त होते हैं । जिस करके और भी शोभा को प्राप्त हों उसका कहना ही क्या है । जैसे नलिनी दल के वृंद में हंस शोभा पाते हैं, पर्वतों की गुहा में सिंह शोभा पाते हैं, उच्च जाति के घोड़े जिस प्रकार युद्ध भूमि में शोभा पाते हैं ऐसे ही विद्वान् पुरुष विचक्षण-चतुर पुरुषों की सभा में शोभा को प्राप्त होता है ।

एक समय विदेहनगर के राजा जनक ने सब पंडितों को इकट्ठा किया। सभा में दूर दूर के बहुत पंडित आये थे। राजा ने सब पंडितों को सभा के बीच में एक भारी पारितोषक रक्खा और कहा "हे विद्वानो! तुम में से जो कोई सब से श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ विद्वान् हो वह इस पारितोषक को ले जाय!" सब नामी नामी पंडित एक दूसरे की तरफ देखने लगे। 'मैं सब से विशेष ब्रह्मज्ञ विद्वान् हूँ' इस प्रकार का कोई अपना निश्चय न कर सका! किसी ने भी गौओं का पारितोषक न लिया तब याज्ञवल्क्य ऋषि ने गौओं को ले जाने की अपने शिष्य को आज्ञा दी। शिष्य गौओं को ले गया। जो धन की इच्छा वाले थे वे याज्ञवल्क्य के इस कार्य से अप्रसन्न हुए और कहने लगे "हम सब बैठे हुए हैं, तू गौओं को अपने यहां ले जाने वाला कौन? तूने अपने को सर्व श्रेष्ठ किस प्रकार समझा? जब तक तू हम सबमें से प्रत्येक को जीत न सके तब तक तू गौओं को नहीं लेजा सकता, हमारे प्रश्नों के उत्तर दे!" यह कह कर सब ने प्रश्न किये और याज्ञवल्क्य ने सब के उत्तर दिये। इस प्रकार एक एक पंडित के प्रश्न का उत्तर देकर अपने वैदिक तत्त्व सिद्धांत को प्रकाश करके याज्ञवल्क्य सर्व श्रेष्ठ सिद्ध हुए। जिस प्रकार राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य शोभा को प्राप्त हुए थे इसी प्रकार विद्वान् सभा में शोभा को प्राप्त होते हैं। याज्ञवल्क्य को धन और कीर्ति प्राप्त हुई और अंत में संन्यास से परम पद भी प्राप्त हुआ। उनके उपदेशामृत को आज भी अधिकारी पान करते हैं! शरीर ही एक समाज स्थान है, अंतःकरण, इन्द्रियां, प्राण,

काम, क्रोधादि रिपु, करुणा, मुदिता, समता, धैर्य, उत्साह, तेजादि शुभ गुणों का समुदाय सभासद हैं। इनमें विद्वान् ऐसा आत्म ज्ञानी ही शोभा को प्राप्त होता है और जब शरीर रूप सभा स्थान में आत्म ज्ञानी न हो तो शरीर समाज कौवों कुत्तों की समाज के समान ही है। सभा में वस्त्र शोभा नहीं देते, धन शोभा नहीं देता, उच्च जाति और आयु भी शोभा देने वाली नहीं होती परन्तु वेद, शास्त्र और अनुभव के अनुसार युक्ति प्रयुक्ति, दृष्टांत, सिद्धांत संयुक्त श्रोता के कर्ण में जाकर शुभ संस्कार पैदा करने वाली विद्वान्-ब्रह्म वेत्ता की वाणी ही शोभा को प्राप्त होती है। ब्रह्म वेत्ता के शब्दों में अमूल्य रत्न, सुवास और सिद्धांत चमकते हैं, सभा के मध्य वे ही शोभा को प्राप्त होते हैं।

माता के समान सुख देने वाली कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में सुविद्या को सुखदायिनि बताया है। विद्या तीन प्रकार की है, अविद्या, विद्या और सुविद्या। आत्म भाव से विरुद्ध भाव के अभिमान संयुक्त जो व्यक्त-जीव है उस जीव के फल भोग के निमित्त शास्त्र में जिस कर्म कांड का विधान है उसका बोध होना अविद्या कही जाती है, देवताओं का ज्ञान और मुमुक्षु भाव में कर्तव्य रूप जो उपासना है वह विद्या कहलाती है। अविद्या कर्म में फंसाती है और विद्या कुछ दिव्यता में ले जाने वाली है। इन दोनों से विरुद्ध अपने आद्य स्वरूप के ज्ञान युक्त सुविद्या कही जाती है। उसे ब्रह्म विद्या, आत्म विद्या आदिक भी कहते हैं। अविद्या कर्म का फल देने वाली है, फल उत्पत्ति नाश वाला है,

फल भोग में अन्य फल भोग की इच्छा होती है इन सब कारणों से अविद्या शांति-सुख देने वाली नहीं है, किंतु उसमें अशांति ही रहती है। दूसरी जिसे विद्या कहते हैं वह भी एक प्रकार का कर्म रूप होने से पूर्ण शांति-सुख देने वाली नहीं है। सुविद्या ही पूर्ण शांति, वास्तविक सुख की देने वाली है। सुविद्या में फल भोग की वृत्ति न होने से चंचलता—अशांति नहीं है। लौकिक सुख दुःख की अपेक्षा वाला और निवृत्त होने वाला है। सुविद्या में ब्रह्म-आत्म सुख होने से अखंडित सुख है इसलिये सुविद्या ही संपूर्ण सुख-शांति की देने वाली है। सुविद्या को स्वविद्या भी कह सकते हैं, स्व आत्म की विद्या स्वविद्या है। योग से, सांख्य से, कर्म से और अन्य विद्याओं से मोक्ष नहीं होता, मोक्ष तो ब्रह्मात्मैक बोध से ही होता है। आत्मा सुख स्वरूप है, अविद्या से दुःखानुभव करता है और वह ही आत्मा जब ब्रह्मविद्या को प्राप्त होता है तब जीव बुद्धि को त्याग कर शांति को प्राप्त होता है। अज्ञान से नाम रूप को सच्चे मान कर दुःखी होता है। जब ब्रह्मविद्या के प्रभाव से नाम रूप मिथ्या दीखते हैं तब शांति होती है। जब नाम रूप मिथ्या समझ लिये जाते हैं तब मिथ्या समझे हुए पदार्थों में रुचि नहीं होती। ज्ञान के बाद प्रारब्धानुसार शरीर बना रहे तो भी मिथ्या पदार्थों में सत्य बुद्धि नहीं होती इसी प्रकार शरीर आदिक में भी 'अहं' 'मम' बुद्धि नहीं होती। जैसे कोई मनुष्य बहुत गरीब अवस्था में मजदूरी करके अपना पेट भरता हो, प्रारब्ध वशात् ईश्वर की कृपा उस पर हो जाय और लक्ष्मी देवी के आने से वह धनवान बन जाय तो उसे

प्रथम के समान ऐसी इच्छा कभी नहीं होती कि बाजार में जा कर चार आने की मजदूरी कर लाऊं इसी प्रकार जिसको ब्रह्म रूप धन की प्राप्ति हो जाती है, वह प्रपंच के तुच्छ पदार्थों में भाव वाला नहीं होता । एक वार जिस पदार्थ को कै करके निकाल दिया है उसको फिर से भोजन करने में कभी भी किसी की इच्छा नहीं होती इसी प्रकार प्रपंच के पदार्थों में ज्ञानी की कभी इच्छा नहीं होती, यह ब्रह्म विद्या का प्रभाव है। इससे ही परम शांति और अलौकिक-आत्मिक अखंड सुख होता है। जिस प्रकार बच्चे को माता की गोद में ही पूर्ण शांति मिलती है, किसी प्रकार का भय नहीं रहता इसी प्रकार जो ब्रह्म विद्या रूप परम माता की गोद में जाता है उसको सब कार्यों की सिद्धि सहित अखंड निर्भयता प्राप्त होती है; इसी कारण सुविद्या को माता के समान सुख देने वाली कहा है।

दान करने से प्रत्येक पदार्थ घटता है परंतु सुविद्या यदि किसी को दी जाय तो देने वाले के पास से न जाते हुए बढ़ती है और लेने वाले को भी पूर्णकाम कर देती है फिर उसे लेने की आवश्यकता नहीं रहती इसलिये ब्रह्म विद्या रूप सुविद्या की विशेषता है। सुविद्या देने वाले और लेने वाले दोनों को पूर्णता प्राप्त कराती है। चोर जिसको चुरा न सके, भाई बंधु कुटुम्बी आदिक जिसमें से हिस्सा न ले सकें, अग्नि और राजा जिसे हरण करने को समर्थ नहीं हैं, जो बोझ करने वाली नहीं है, खर्च करने से घटती नहीं है, उलटी बढ़ती है ऐसी सुविद्या रूप

संपत्ति है। यह धन सब धनों में प्रधान है। जिसने ब्रह्म विद्या रूप धन को प्राप्त किया है वह कभी भी दरिद्री नहीं होता, न कभी दीन होता है। यह धन किसी प्रकार से जा नहीं सकता। अन्न, धन, वस्त्रादि देने से घटता है, सुविद्या रूप धन दान देने से बढ़ता है। जितनी कला हैं वे सब बिना अभ्यास नाश को प्राप्त होती हैं, उनके बने रहने के लिये हमेशा अभ्यास करना पड़ता है परन्तु ज्ञान कला तो जब एक बार उत्पन्न हुई अभ्यास हो अथवा न हो कभी नाश को प्राप्त नहीं होती, निरंतर बढ़ा ही करती है। पृथिवी में बोया हुआ अन्न जिस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता है इसी प्रकार सत् पात्र–अधिकारी को दी हुई ब्रह्म विद्या भी वृद्धि को प्राप्त होती है। सर्व प्रकार के दानों में ब्रह्म विद्या का दान ही श्रेष्ठ है। जिसने योग्यता सहित इस दान को ग्रहण किया वह इतना श्रीमान् हो जाता है कि फिर कभी भी किसी प्रकार के दान लेने के योग्य नहीं रहता। इसलिये ब्रह्म विद्या का दान ही वास्तविक दान है, सब दानों का मूल्य और माप हो सकता है, जिसका मूल्य न हो सके, माप न हो सके ऐसी ब्रह्म विद्या का दान लेने वाला दाता का ऋणी ही रहता है। त्रयलोक में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, अथवा त्रयलोक का समग्र ऐश्वर्य ऐसा नहीं है जिसको देकर ब्रह्म विद्या के दाता से ऋण मुक्त हो सके परंतु ब्रह्म विद्या में एक विलक्षण शक्ति है जिससे ब्रह्मविद्या का ग्रहण करने वाला दाता के ऋण में पड़ता ही नहीं। ब्रह्म विद्या दाता और गृहीता दोनों को एक कर डालती है इतना ही नहीं ब्रह्मांड भर को एक कर देती है तब दाता और गृहीता रहते

ही नहीं। ब्रह्म विद्या देने के बाद दाता लेने से मुक्त होता है और गृहीता ग्रहण करने का बदला चुकाने से मुक्त होता है क्योंकि उसने किसी का कुछ लिया नहीं है यदि लिया होता तो देना पड़ता, उसने अपना ही लिया है इसलिये सब प्रकार से वह मुक्त ही है।

अनादि काल से ब्रह्म वेत्ता पुरुष ब्रह्म विद्या का दान देने को तैयार रहते हैं परन्तु जो अधिकारी होता है वह ही उसे ग्रहण कर सकता है, अन्य नहीं।

जाज्वलि नाम के एक ऋषि समुद्र के किनारे के जंगलों में तपश्चर्या करते थे। उन्होंने उग्र उग्र तपश्चर्या की थीं। एक समय एक पक्षी ने उनकी जटा में घोंसला बना लिया और बच्चे दिये तब भी जाज्वलि चलित न हुए। जब बच्चे बड़े होकर उड़ गये तब उनको इस प्रकार का गर्व हुआ कि मैं सिद्ध हुआ हूं। तब एक दैवी संपत्ति ने सूचना दी कि तुझे इस प्रकार करना उचित नहीं है, तू थोड़े से तप की सामर्थ्य वाला है परन्तु तुझसे विशेष कृतकार्य ब्रह्म विद्या का ज्ञाता काशी नगर में रहने वाला तुलाधार नाम का एक वैश्य है। जाज्वलि उस वैश्य से मिलने को गये। तुलाधार ने सत्कार पूर्वक जाज्वलि ऋषि को बैठाया और अनेक प्रकार और प्रसंगों से अपनी स्थिति का वर्णन किया, ब्रह्म विद्या का रहस्य जांज्वलि को समझाया। तप करके जिनका अंतःकरण शुद्ध हुआ था ऐसे जाज्वलि मुनि ने तप का गर्व छोड़ दिया और अपने को तुच्छ समझ कर एक

वैश्य से उपदेश ग्रहण किया। तुलाधार वैश्य ने जाज्वलि मुनि को ब्रह्म विद्या का दान दिया और जाज्वलि मुनि ने उस दान को प्रेम पूर्वक ग्रहण किया। तुलाधार और जाज्वलि दोनों परम शांति को प्राप्त हुए ॥२५॥

कुतोहि भीतिः सततं विधेया,
लोकापवादाद्भव काननाच्च ।
को वास्ति बंधुः पितरौच कौ वा,
विपत्सहायः परिपालकौ यौ ॥२६॥

अर्थः—प्रश्नः-हमेशा भय किससे रखना चाहिये ? उत्तरः-लोगों के अपवाद से और संसार रूप वन से। प्रश्नः-वंधु कौन है और माता पिता कौन है ? उत्तरः-जो विपत्ति में सहायता दे वह वंधु है और जो पालन पोषण करें वे माता पिता हैं।

छप्पय ।

ऐसा कौन पदार्थ, सदा भयदायक क्षण क्षण ।
लोगों का अपवाद, और संसार विकट वन ॥
बन्धु कौन कहलाय, भरोसा जिसका कीजे ।
दे विपत्ति में साथ, बन्धु सो ही चुन लीजे ॥
दयावान अस कौन है, मातु पिता जो मानिये ।
पालन पोषण जो करें, मातु पिता हितु जानिये ॥२६॥

विवेचन ।

संसार रूपी महान् विकट अरण्य है, उसमें सरल मार्ग नहीं है. पद पद पर पत्थर, कंकर और गड्ढे हैं। जो संसार से भय नहीं रखता–उसमें से निकलने का उपाय नहीं करता उसका जन्म मरण रूप भय निवृत्त नहीं होता। जिसको संसार का भय नहीं है, वह संसार से निवृत्त होने का प्रयत्न नहीं करता। संसार भय रूप है और उस संसार में वहुत से कार्य जो लोगों में निंदा कराने वाले हैं, उनसे भी भय रखना चाहिये यानी लोकापवाद से डरते रहना चाहिये। जिस समुदाय में हो उस समुदाय के अनुकूल कार्य करने वाले को लोगों की तरफ से आपत्ति नहीं आती और समुदाय में रहते हुए समुदाय से विरुद्ध कार्य करने वाला समुदाय से तिरस्कार को प्राप्त होता है। यदि शुद्ध होते हुए भी लोग विरुद्ध हों तो उन लोगों के वीच में विरुद्धाचरण करने योग्य नहीं है। व्यवहारी मनुष्यों के लिये यह वहुत उपयोगी है और ज्ञानियों के लिये भी उपयोगी है। जगत् में कोई मनुष्य ऐसा नहीं निकलेगा जिसकी सव लोग प्रशंसा ही करते हों और ऐसा भी कोई नहीं मिलेगा जिसकी सव निन्दा ही करते हों। जगत् में प्रत्येक मनुष्य के प्रति निन्दा और स्तुति लगी हुई है। इतना तो हो सकता है कि जो सज्जन मनुष्य है उसकी स्तुति–प्रशंसा करने वाले सज्जन वहुत हों और दुष्ट की प्रशंसा करने वाले थोड़े से दुष्ट हों अथवा सज्जनों की निन्दा करने वाले थोड़े से दुष्ट हों और दुष्ट में भी कोई सद्गुण होने के कारण कितनेक

सज्जन उसके गुण की प्रशंसा करते हों। प्रमाण में न्यूनाधिक भले हों परन्तु निन्दा रहित कोई भी नहीं हो सकता। जिनको लोग पूज्य बुद्धि से मानते हैं, ईश्वर अथवा ईश्वर का अवतार समझते हैं ऐसे रामचन्द्र, कृष्ण आदिक के कार्य की हजारों वर्ष हो जाने पर भी निन्दा करने वाले देखे जाते हैं, निन्दा स्तुति रूप ही संसार है। संसारी मनुष्य ऐसा नहीं समझ सकते कि संसार में कोई भी निर्दोष है। लोकापवाद सबको लगता है परन्तु जिसमें अपना अथवा दूसरों का कोई धर्म युक्त फल नहीं है और जिससे लोक में निन्दा होती हो, ऐसे लोकापवाद से डरने को कहा है। डरने से मतलब यह है कि इस प्रकार का बर्ताव न करे। यद्यपि लोकापवाद का निंद्य फल ज्ञानी को नहीं हो सकता तो भी लोक निंद्य कार्य के लिये ज्ञानी आग्रह भी क्यों करे? ज्ञानी के ऊपर अन्य मनुष्यों का भाव होता है उसके आचरण के अनुसार सब चलना चाहते हैं ज्ञानी को कुछ प्रत्यवाय न होते हुए दूसरों को जिसका प्रत्यवाय हो ऐसा कार्य ज्ञानी क्यों करे? ज्ञानी अज्ञान से हटा हुआ है परन्तु है तो संसार में ही, इसलिये जिस प्रकार सज्जन पुरुषों का बर्ताव होता है इसी प्रकार जगत् को तुच्छ समझते हुए भी ज्ञानी का बर्ताव होता है। जगत् तुच्छ है इसलिये चाहे जैसा बर्ताव करे यह ज्ञानी को युक्त नहीं है और ज्ञानी ऐसा करता भी नहीं क्योंकि ज्ञानी तब ही होता है जब कि पूर्व शुभ संस्कारों में से थोड़े से प्रारब्ध कर्म भोगने के लिये शेष होते

है इसलिये ज्ञानी से लोक निंद्य-अनुचित कार्य होने का भी संभव नहीं है।

जिनको ज्ञान नहीं है ऐसे व्यवहार में फँसे हुए मनुष्यों को शुभ आचरण करना चाहिये क्योंकि शुभ आचरण उनका हित करने वाला होता है, जिस वात को सज्जन खराव वताते हैं वह ही लोकापवाद है, ऐसा कार्य व्यवहारिक मनुष्य को न करना चाहिये क्योंकि वे ज्ञानी तो हैं नहीं, यदि किसी ने झूँठा अपवाद-निन्दा की तो उसको सुनने से तिरस्कार के भाव से उसके संस्कार अवश्य पड़ेंगे, ये निन्दक संस्कार उनका अहित करने वाले हैं इसलिये सच्चा हो अथवा झूँठा हो, ऐसा कोई भी अपवाद न होने का ख्याल रखना चाहिये। कई प्रसंगों में ऐसा होता है कि कर्तव्य अकर्तव्य समझने में मूढ़ होते हैं तव शुद्ध बुद्धि से विचार पूर्वक निर्णय करना चाहिये।

एक वड़ा साहूकार था। उसकी देश परदेश में वहुत सी दुकानें थीं, मुनीम गुमाश्ते, नौकर आदिक रहा करते थे, उनमें से कई चले भी जाते थे उनकी जगह नये रखने पड़ते थे। जव वह किसी स्थान के लिये मुनीम गुमाश्तों को नौकर रखता तव अन्य योग्यता के साथ उनकी बुद्धि की परीक्षा भी लिया करता था, जो उसमें उत्तीर्ण होता था उसे ही वह नौकर रखता था। एक वार दो मनुष्य मुनीमगीरी करने के लिये आये। सव वातों की जांच करने के वाद बुद्धि की परीक्षा ही शेष रही थी, साहूकार ने दोनों को अपने पास वैठा रक्खा। उन दिनों शहर

में महामारी फैल रही थी। थोड़ी देर में उस रास्ते से दो मुरदे निकले। दोनों के साथ ४०, ५० आदमी थे। साहूकार ने एक से कहा "देखो, ये दो मनुष्य मर गये हैं, उनको श्मशान में लेजा रहे हैं, तुम चुपके से उनके पीछे जाओ और देख आओ कि वे दोनों मर कर कहां गये, स्वर्ग में या नरक में ?" ऐसा कह कर उसे मुरदों के पीछे भेज दिया। वह मनुष्य मोटी बुद्धि वाला था, थोड़ी दूर जाकर सोचने लगा "यह कैसे जाना जाय कि वे स्वर्ग में गये या नरक में ? जो देखने का विषय हो, वही देखा जा सकता है, यदि मैं श्मशान में जाऊँ भी तो क्या जानूँगा! जला दिये इतना ही तो जानूंगा, खैर ! एक से पूछ देखूँ !" ऐसा सोचकर उसने मुरदनी में जाने वाले एक मनुष्य से कहा "क्योंजी ! यह मुरदा जो जा रहा है, उसका जीव कहां गया, स्वर्ग में या नरक में ?" वह मनुष्य था मसखरा, कहने लगा "मैं क्या जानूँ, कहां गया, यदि तुझे जानने की इच्छा हो तो मर कर उसके पीछे चला जा, मरे विना स्वर्ग नरक का जाना मालूम नहीं होगा !" मनुष्य जी में कहने लगा "कैसी बेहूदी बात सेठजी ने पूछी है ! क्या मैं ईश्वर हूँ कि यह जान सकूं कि मरा हुआ स्वर्ग में गया या नरक में !" ऐसा कहता हुआ विचारा निराश होकर सेठजी के पास आया और कहने लगा "सेठजी ! मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि मरने वाला स्वर्ग में गया या नरक में ? जब मैंने एक से पूछा तो उसने उत्तर दिया कि मर कर देख आ ! मैं तो आपके पास नौकरी करने को आया हूं, मरने को नहीं आया।" साहूकार हँस कर बोला "आप घर को जाइये, आप जैसे मुनीम

के लिये मेरे यहां नौकरी नहीं है !" मनुष्य चला गया, साहूकार ने दूसरे मनुष्य से कहा "दो मुरदे अभी गये हैं, घाट पर नहीं पहुँचे होंगे, वे दोनों मर कर स्वर्ग में गये या नरक में, यह देख आओ !" वह मनुष्य उत्साह से चला और जो मुरदा प्रथम गया था उसके मनुष्यों के साथ हो लिया और उनकी वातें इस प्रकार सुनने लगा। एकः—"यह कैसा गुणी पुरुष था ! दया तो उसके रुयें रुयें में भरी थी ! ऐसा दयावान् पुरुष मैंने नहीं देखा !" दूसराः—"हां भाई ! वड़ा ही चतुर था ! जो उसे जानते हैं सब प्रशंसा करते हैं ! बहुत से अनाथ और विधवाओं का गुप्त रूप से पोषण किया करता था ! ईश्वर का भी कहीं कहीं अन्याय है ! विचारे को थोड़ी उमर में ही उठा लिया !" मुनीम ने इन बातों से निश्चय कर लिया कि यह अवश्य स्वर्ग में गया है, फिर वह दूसरे मुरदे के मनुष्यों के साथ हो लिया और उनकी बात चीत सुनने लगाः—एकः—"क्या करूं ? मैं तो मुरदनी में नहीं आता परन्तु कुटुम्बी था इसलिये आना पड़ा ! इसने जो दुःख दिया है उसको मेरा जी ही जानता है !" दूसराः—तू अपनी ही रो रहा है ! उसने किसी का भी भला किया है जो तेरा करता ! जितने दोष हैं, सब ही उसमें थे ! उसने माता पिता को भी तो सुख नहीं दिया ! भला किया ईश्वर ने जो एक दुष्ट को दुनियां से बाहर किया ! जीता रहता तो न जाने कितना अधर्म करता !" यह सुन कर मनुष्य ने निश्चय किया कि यह अवश्य नरक में गया है ! उसने सेठजी से जाकर कह दिया कि प्रथम जाने वाला स्वर्ग में गया है और दूसरा नरक में गया है। सेठजी प्रसन्न होते हुए बोले

"मुनीमजी! तुमने कैसे जाना?" मुनीम ने सब वृत्तांत सुनाया। सेठजी ने प्रसन्न होकर अच्छी तनखा पर उसे मुनीमगीरी पर भेज दिया। इस प्रकार नरक में जाने वाले का अपवाद और स्वर्गमें जाने वाले की स्तुति होती है। जो विशेप मनुष्य अपवाद-निन्दा करें यह ही लोकापवाद है।

जिस प्रकार लोक निंदा से डरना चाहिये इसी प्रकार संसार जो अरण्य रूप है उसके दुःखों से भी डरते रहना उचित है, यदि दुःखों से न डरेंगे तो जगत् के दुःखों की मूल सहित निवृत्ति के मार्ग में चित्त न जायगा-उसके लिये प्रयत्न न होगा-मुमुक्षु भाव प्राप्त न होगा। जो संसार के दुःखों को दुःख रूप जानता है वह ही ऐसा जानने को समर्थ होता है कि सम्पूर्ण जगत् दुःख रूप है। विद्वानों को भी संसार और उसके दुःखों से डरना ही चाहिये क्योंकि बलवान् माया भले भलों को भी अपने मोह चक्र में डाल देती है। संसार को देखने से भी संसार से हटी हुई रूचि फिर हो जाने का संभव है। जरत्कार ऋपि समान भी संसार का श्रवण करने से मोह को प्राप्त हुए थे। सौभरी ऋषि मत्स्य का समागम देखकर मोह को प्राप्त हुए थे इसलिये निवृत्ति में आने के पश्चात् संसार को किस कारण सुनना और देखना, इस प्रकार संसार के बन्धन में न आनेका भय रखना चाहिये यह भाव यश-कारक है क्योंकि इस प्रकार के बर्ताव से शुद्धाचरण और मुक्ता-चरण होता है।

जो जगत् में बन्धु हैं, वे ही बन्धु हैं, ऐसा नहीं है क्योंकि बंधुओं में स्वार्थ और कलह का संबंध ही विशेष होता है। कोई २

कहते भी हैं:-'शत्रु कहां रहता है ? मां के पेट में' माता के उदर में बंधु रहता है या शत्रु ? हिस्सेदार होने से विशेष करके वह शत्रु का ही वर्ताव करता है इसलिये बंधु नहीं है ! चाहे बंधु हो चाहे कोई अन्य हो जो विपत्ति में सहायता करे वह ही बंधु है। विपत्ति दो प्रकार की होती है व्यवहार में और मरण में। व्यवहार में पड़ी हुई विपत्ति में सहाय करने वाला व्यवहारिक बंधु है। मरण की विपत्ति जन्म मरण रूप है, उस विपत्ति से बचाने वाला-सहायता करने वाला एक सद्गुरु ही है, वह पारलौकिक बंधु है। सहोदर भाई यदि झूंठा प्रपंच रचे, स्त्रियों की बातों में आ जाय, भीतर में शत्रु भाव रक्खे और दुःख दे तो वह भाई नहीं है। जैसे मृग के शरीर में से कस्तूरी और लेंड़ियां दोनों पदार्थ निकलते हैं तो ऐसे विरुद्ध स्वभाव वाले एक ही माता के उदर के निकले हुए भी भाई ही कहे जांयगे।

शोभाचन्द नाम का एक मनुष्य एक राजा के यहां मुख्य कारभारी था, उसके छोटे भाई का नाम भाईचन्द था। भाईचन्द जब तक छोटी उमर का था तब तक भाई के साथ में रहा। कुछ बड़ी उमर होते ही शोभाचन्द ने उसे अलग कर दिया और जो माल मिलकत थी उसमें से कुछ भी न दिया। भाईचन्द संतोष वाला था उसने मिलकत लेने को कुछ झगड़ा न किया। कुछ दिनों तक तो वह धंधे विना भटकता रहा, अंत में एक मनुष्य की सिफारिश से उसने दरबार में एक क्लर्क की नौकरी कर ली। शोभाचन्द को यह भी पसंद न आया ! "भाईचन्द दरबार

की नौकरी से छूट जाय' इसके लिये उसने कई यत्न किये परन्तु भाईचन्द की नौकरी न छूटी। भाईचन्द जिसके पास नौकरी करता था उसकी उस पर प्रसन्नता थी, भाईचन्द चतुर और महनती था और अपने भाई शोभाचन्द को पिता रूप मानता था। शोभाचन्द विरुद्ध होते हुए भी भाईचन्द का उस पर प्रेम था। यह एक सामान्य नियम है कि जो जिस पर प्रेम करता है उस पर वह भी प्रेम करता है परन्तु यहां इससे विरुद्ध था, शोभाचंद भाई को नहीं चाहता था तो भी भाईचंद उसे चाहता था। भाईचंद अपने कार्य करने की चतुराई से थोड़े दिनों में ही छोटी नौकरी से बड़ी नौकरी पर पहुँच गया। अब उसे ऐसी नौकरी मिली थी कि राजा के सामने उसे वार वार जाना पड़ता था। राजा उसकी बोल चाल, सभ्यता और चतुराई से प्रसन्न होता जाता था। एक दिन राजा ने मुख्य कारभारी शोभाचन्द से कहा "कारभारीजी ! तुम्हारा छोटा भाई एक योग्य मनुष्य है, उसके कार्य से मैं प्रसन्न हूं, तुम्हारे बाद मैं उसको मुख्य अधिकारी के पद पर नियुक्त करूंगा !" शोभाचन्द राजा के मुख पर मीठी मीठी बातें करके घर पर चला आया। उसका हृदय जलता रहा। उसने सोचा कि भाईचंद के ऊपर राजा की कृपा हमारा अहित करने वाली है, मेरे बाद मुख्य अधिकारी के पद का हक़दार मेरा पुत्र प्रेमचन्द है, आज तो राजा ने मेरे बाद भाईचंद को अधिकारी बनाने को कहा है, यदि किसी कारण से राजा मुझसे नाखुश हो जाय और उसी समय मुझको हटा कर मेरे स्थान पर भाईचंद को नियुक्त कर दे तो आश्चर्य क्या है ? भाई-

चंद भाई नहीं है, वह तो मेरा शत्रु है। मेरे और मेरे पुत्र के हक में बाधा डालने वाला है! मैंने छोटेपन में उसे पाला, मैंने बड़ी मूर्खता की! किसी प्रकार उसका नाश करना चाहिये! ऐसा सोच कर उसने जल्लाद को एक चिट्ठी लिखी और एक कटोरदान में बन्द करके भाईचन्द को बुला कर उसके हाथ में दी और कहा "भाई! तुझ पर मुझे पूर्ण विश्वास है, राज्य का बहुत जरूरी और गुप्त कार्य तुझे सौंपता हूं, इस कटोरदान पर मैंने जिसका नाम लिखा है, उसे इसको जाकर दे आ, यह काम गुप्त रखने का है, कटोरदान को खोलियो मत, कहीं भी रुके बिना जल्दी जाकर दे आ, इसमें रक्खी हुई चिट्ठी गुप्त है, यदि किसी को खबर पड़ जायगी तो मामला बिगड़ जायगा।" भाईचन्द को विश्वास था। भाई ने मुझे गुप्त काम सौंपा है ऐसा समझ कर वह प्रसन्न होकर कहने लगा "हां! आपकी आज्ञानुसार मैं चिट्ठी न पढूँगा और अन्य कोई भी पढ़ न पावेगा, जिसके नाम की है वही पढ़ेगा, अभी जाकर दिये आता हूँ।" ऐसा कहकर चल पड़ा, मार्ग में उसका भतीजा प्रेमचन्द जुये में मिला, वह जुये में हार गया था। काका को जाते हुए देख कर उसने उसे अपने पास बुलाया। भाईचन्द ने मने किया परन्तु प्रेमचन्द के हठ करने पर उसे उसके पास जाना पड़ा क्योंकि उन दोनों का आपस में प्रेम था, प्रेमचन्द बोला "काकाजी! मेरा चित्त ठिकाने नहीं है, मैं दाव पर दाव हार रहा हूँ, कृपा करके तुम मेरी तरफ से दाव फेंको!" भाईचन्द ने कहा "क्या तुझे खबर नहीं है? मुझे जुये पर तिरस्कार है, मुझे यह कटोरदान

देने को जल्दी से जाना है, यह राज्य का गुप्त काम है, शाम होने वाली है !" भतीजे ने न माना और कहा "लाओ कटोरदान मैं दिये आता हूं, तुम मेरी तरफ से खेलो !" अति आग्रह से भाईचन्द खेलने बैठ गया और प्रेमचन्द कटोरदान लेकर जल्लाद के घर पर पहुँचा । जल्लाद ने कटोरदान खोला और चिट्ठी निकाल कर पढ़ी, उसमें लिखा था:—"चिट्ठी ले आने वाले को क्षण भर भी विचार किये विना मार डालना" जल्लाद आश्चर्य में पड़ा ! मुख्य अधिकारी अपने पुत्र को ही क्यों मरवाता होगा ? खैर ! उसने मुझे विचार करने को मने किया है !" ऐसा विचार कर जल्लाद ने तलवार के झटके से प्रेमचन्द के शिर को धड़ से अलग कर दिया और कटे हुए शिर को कटोरदान में बन्द करके शोभाचन्द के पास भेज दिया ! शोभाचन्द ने कटोरदान खोला तो वह अपने पुत्र का शिर देखकर हाय करके बेहोश होगया ! घर के लोग दौड़ आये ! शोभाचन्द होश में आकर कहने लगा "हाय कपट ! मेरा ही पाला हुआ, मेरा सत्यानाश करने वाला नमकहराम भाई कहां है ? जाओ और खबर लाओ कि भाईचन्द कहां है !" लोगों ने जाकर खबर की कि भाईचन्द अमुक स्थान पर जुआ खेल रहा है, शोभाचंद ने दूसरे दिन राजा के दरबार में जाकर अपने पुत्र के खून करने का आरोप भाईचंद पर लगाया । राजा ने तलाश की तो शोभाचंद की चिट्ठी जल्लाद के पास मिली और गवाहियों से राजा की समझ में आगया कि मामला किस प्रकार हुआ था । राजा ने शोभाचन्द और जल्लाद को फांसी दिये जाने की आज्ञा दी । भाईचन्द उसी समय सभा में आकर

कहने लगा "हे राजन्! शोभाचन्द ने राज की सेवा की है! भूल सबसे होती है, आप उसे जीवदान दीजिये!" राजा ने तिरस्कार पूर्वक शोभाचन्द से कहा "हे दुष्ट! तूने अपने छोटे भाई की जान लेने का यत्न किया था तो भी वह उदार चित्त तेरी सिफारिश करता है!" शोभाचन्द की आंखों में आंसुओं की धारा बहने लगी। राजा ने उसी समय शोभाचन्द को देश निकाला दिया और भाईचन्द को मुख्य अधिकारी के पद पर नियत किया। भाईचन्द प्रेमचन्द के मरने से उदास था परन्तु अब कुछ हो नहीं सकता था।

ऊपर के दृष्टांत से इस प्रकार समझना चाहियेः—क्या शोभाचन्द भाईचन्द का भाई नहीं था? भाईचन्द की तरफ शोभाचन्द ने शत्रुता का ही कार्य किया था! भाईचन्द भी शोभाचन्द का भाई ही था, अनेक कष्ट देने पर भी वह शोभाचंद को अपना भाई ही समझता था। शूली की सजा की आपत्ति के समय भी भाईचन्द ने राजा से सिफारिश करके शोभाचन्द की रक्षा की। आपत्ति में भाईचन्द ने सहायता की इसलिये वह ही बन्धु था। यह व्यवहारिक दृष्टांत व्यवहारिक बन्धु समझने के लिये है। कोई मित्र, सगा, जाति वाला अथवा पशु पक्षी जो आपत्ति में सहायता दे, यदि वह नीच से नीच भी हो तो भी बन्धु कहा जाता है। संसार में कोई भी विपत्ति रहित नहीं है। महान् स्मृद्धि वाला राज्य हो, कुटुम्ब हो, यश कीर्ति हो और चारों तरफ से खमा खमा का उच्चार होता हो, सुवर्ण के पलंग

पर शयन करता हो, हजारों दास दासी हुकुम उठाने को उपस्थित हों, सब प्रकार के वाहनों और सैन्य से सज्जित हो, ऐसा राजा भी आपत्ति रहित नहीं होता ! कहा भी है कि बड़े अथवा छोटे सबका समय एकसा नहीं जाता ! आपत्ति कई प्रकार की होती हैं,—हृदय की आपत्ति, कीर्ति की आपत्ति, मुकद्दमे की आपत्ति, विवाह की आपत्ति, सन्तान की आपत्ति, स्त्री की आपत्ति, रोग की आपत्ति, मरण की आपत्ति इत्यादि अनेक प्रकार की आपत्ति हैं। किसी न किसी आपत्ति से शरीरधारी घिरा हुआ होता है। इन सब आपत्तियों में से किसी भी आपत्ति में सहाय करने वाला बन्धु है, ऐसे ही माता पिता भी विपत्ति में सहाय देने वाले हैं, माता पिता जन्म देते हैं और बाल्यावस्था में दूध और अन्न से पोषण करते हैं। वे बालक के निमित्त स्वयम् दुःख सहन करते हैं किन्तु बालक को कष्ट होने नहीं देते इसलिये उनके जितने गुणानुवाद गाये जांय, थोड़े ही हैं, बाल्यावस्था में माता पिता जो जो सेवा करते हैं उसके बदले में यदि कोई मनुष्य अपने शरीर के चर्म का जूता सिलवा कर पहिना दे तो भी बदला नहीं चुकता ! माता पिता भी तब माता पिता कहे जाते हैं जब कि बचपन से ही बच्चों को शुभ मार्ग में चलने की शिक्षा दें। बच्चों का सुधारना अथवा बिगाड़ना माता पिता के शिक्षण के ऊपर आधार रखता है, मोह में फंस कर लाड़ लड़ाये जांय और बालक को योग्य शिक्षा न दें तो ऐसे माता पिता माता पिता कहलाने के योग्य नहीं है ! दूसरी रीति से कहा जाय तो ऐसें माता पिता बालक के शत्रु ही हैं। जो बालक की जिन्दगी के बिगाड़ने वाले

हों वे विपत्ति में सहाय करने वाले नहीं कहलाते। बाल्यावस्था मूढ़ अवस्था है; मूढ़ अवस्था रूप विपत्ति में जो सन्मार्ग की शिक्षा दें वे ही विपत्ति में सहाय देने वाले माता पिता हैं।

दूसरी प्रकार से विचार किया जाय तो संसार में पैर पैर पर आपत्तियां हैं, उन सब आपत्तियों की निवृत्ति होना असंभव है। संसार में जन्म होना ही एक महान् आपत्ति है।, वह अनेक आपत्तियों का पहाड़ है। यदि जन्म धारण न हो तो सब आपत्तियों की निवृत्ति हो जाय। जब तक संसार है तब तक जन्म मरण और आपत्तियां लगी हुई हैं। संसार अज्ञान से है, अज्ञान की निवृत्ति से संसार की निवृत्ति है, संसार की निवृत्ति से जन्म मरण की निवृत्ति है और जन्म मरण की निवृत्ति से सब प्रकार की आपत्तियों की निवृत्ति है। इस आपत्ति में जो सहायता दे—आपत्तियों की हमेशा के लिये निवृत्ति करादे वह ही वास्तविक विपत्ति में सहायक है। ऐसा विपत्ति में सहाय देने वाला—परम तत्त्व को प्राप्त कराने वाला संसारी नहीं हो सकता संसार से मुक्त हुआ ही हो सकता है। ऐसा सहायक सदाचरणी, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु ही है, ऐसे गुरु के सिवाय संसार की आपत्तियों से निवृत्त करने वाला अन्य कोई नहीं इसलिये सदुपदेशदाता सद्गुरु ही बन्धु है, ज्ञान गोष्ठी दाता मित्र है और परमानन्द की प्राप्ति कराने रूप जन्म का देने वाला पिता है और सद् विचार से पुष्ट कराने वाली माता है। जिस प्रकार माता पुत्र का अहित कभी नहीं चाहती इसी प्रकार सद्गुरु भी अपने शिष्य का अहित कभी नहीं

चाहता। इसी कारण सद्गुरुओं के ये वाक्य हैं:—सब दुःखों को उत्पन्न करने वाला, सब आपत्तियों का निवास स्थान, सब पापों का घर, ऐसे इस संसार का त्याग करके गुरु शरण में जा, इस संसार में जिनका चित्त आसक्ति वाला है, ऐसे मनुष्यों को स्त्री का शरीर-माया, बन्धन रहित को बन्धन रूप और महा विष है, विना हथियार ही छेदन करता है, इस विष की निवृत्ति के निमित्त सम्पूर्ण भाव से सद्गुरु के शरण में जा, लोहे की जंजीर से जकड़ा हुआ, लोहे की बेड़ी में पड़ा हुआ मनुष्य किसी न किसी दिन मुक्त होजाता है परन्तु स्त्री और द्रव्य में फँसे हुए की सद्-गुरु के शरण में गये विना कभी मुक्ति नहीं होती इसीलिये सद्गुरु के शरण में जा, संसार आदि मध्य और अन्त में दुःख रूप है इसलिये संसार को छोड़कर आसक्ति को त्याग कर तत्त्व निष्ठा में स्थिर होने के लिये सद्गुरु के शरण में जा, संसार की आप-त्तियों से सद्गुरु ही तेरा उद्धार करेगा॥२६॥

बुद्ध्या न बोध्यं परिशिष्यते किं,
शिव प्रशांतं सुख बोध रूपम्।
ज्ञाते तु कस्मिन् विदितं जगत्स्या-
त्सर्वात्मके ब्रह्मणि पूर्ण रूपे॥२७॥

अर्थः—प्रश्नः—बुद्धि से जाना न जाय ऐसा अन्त में क्या शेष रहता है? उत्तरः—सुख रूप और बोध रूप ऐसा जो शांत शिव तत्त्व है सो। प्रश्नः—किसको जानने से यह सब जगत् जाना

जाता है ? उत्तरः—सबके आत्म स्वरूप, सदैव पूर्ण परब्रह्म को जानने से।

छप्पय।

बुद्धी से भी पार, पार बुद्धी नहिं पावे।
शेष विशेष अनन्त, अन्त जिसका नहिं पावे॥
कहो कौन वह तत्त्व तत्त्ववेत्ता बतलाया।
शिव प्रशांत सुख बोध, बोधवानों ने गाया॥
कौन तत्त्व पहिचान कर सर्व जगत् पहिचानिये।
जानि ब्रह्म सर्वात्म सत् सर्व जगत् ही जानिये॥२७॥

विवेचन।

जगत् में जितने पदार्थ हैं उन सबका बोध बुद्धि से होता है। यदि बुद्धि न हो तो जगत् और जगत् के पदार्थों का बोध न हो। जब कोई मनुष्य विक्षिप्त—पागल हो जाता है तब उसमें व्यवहार का ज्ञान करने वाली बुद्धि नहीं रहती और वह किसी पदार्थ का भी बोध नहीं कर सकता, इससे सिद्ध होता है कि सब पदार्थों का बोध बुद्धि से होता है। इसमें इतना भेद है कि जो पदार्थ इन्द्रियों का विषय होता है उसका बोध बुद्धि इन्द्रियों द्वारा करती है यानी जो जिस इन्द्रिय का विषय होता है उसका उसी इन्द्रिय द्वारा बुद्धि बोध करती है और जो बुद्धि का ही विषय होता है उसका बोध इन्द्रियों की सहायता विना बुद्धि स्वयं करती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

गंध इन बाहर के विषयों का बुद्धि इन्द्रियों द्वारा बोध करती है और आंतर में जो सुख दुःख आदिक होते हैं उनका बोध बुद्धि स्वयं करती है। यहां प्रश्न यह है कि बुद्धि जिसका बोध न कर सके, ऐसा अन्य सब से अंत में शेष रहने वाला कौन है? बुद्धि जितने विस्तार को प्राप्त होती है उस विस्तार के भीतर के सब पदार्थ उत्पत्ति और नाश वाले हैं और स्वयं बुद्धि भी उत्पत्ति और नाश वाली है। ऐसा तत्त्व कौनसा है कि जब बुद्धि का नाश—अभाव होता है तब शेष रहता है अथवा सब प्रपंच होते हुए भी जो ज्यों का त्यों टिका हुआ है और बुद्धि होते हुए भी जिसका बोध नहीं कर सकती ऐसा तत्त्व कौन सा है? इसके उत्तर में कहा है कि जो सुख स्वरूप है, सुख स्वरूप ही नहीं जो बोध स्वरूप भी है, बोध स्वरूप ही नहीं जो अविचल शांत भी है—आपेक्षिक शांति वाला नहीं जो शांत स्वरूप ही है। ऐसा शिव-कल्याण स्वरूप तत्त्व है, जिसको परम पद और ब्रह्म भी कहते हैं।

बुद्धि माया का कार्य है, बुद्धि का स्वरूप जड़ है। माया के कार्य रूप बुद्धि की गम माया से आगे नहीं पहुंच सकती। बुद्धि अवलम्बन वाली है इसलिये अवलम्बन वाले पदार्थ का ही बोध कर सकती है। परम तत्त्व निरालम्ब-अवलम्बन रहित है इसलिये बुद्धि का विषय नहीं है। बुद्धि में प्रथकृता से बोध करने का सामर्थ्य जिस परम तत्त्व से प्राप्त हुआ है, उसका बोध बुद्धि किस प्रकार कर सकती है? यथार्थ स्वरूप का बोध बुद्धि से नहीं हो सकता। श्रुति में कहा है कि मन सहित वाणी जिसको न पहुँच कर लौट आती

हैं, वह परम तत्त्व है। भगवद्गीता में भी कहा है कि जिस स्थान पर जाकर योगी नहीं लौटते, वह मेरा परमोत्कृष्ट रूप धाम है, उस ब्रह्म स्वरूप ज्योति को सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते। मतलब यह है कि उस तत्त्व को प्रकाशने–जानने को सूर्य रूप बुद्धि, चन्द्र रूप मन और अग्नि रूप इन्द्रियां समर्थ नहीं हैं! बुद्धि चिदाभास से होती है, चिदाभास सूर्य रूप होने से बुद्धि सूर्य रूप है। परन्तु सूर्य, चन्द्र और अग्नि सब पदार्थ और जगत् जिसके प्रकाश से प्रकाशित होता है उसे प्रकाश करने की किसमें सामर्थ्य है? किसी में नहीं, जैसे जब कोई मनुष्य बहुत ही सूक्ष्म द्वितीया के चन्द्र को देखता है और दूसरे से पूछता है कि तूने देखा या नहीं? दूसरा कहता है कि नहीं; तब पहिला कहता है कि सामने के घर के कोण में है अथवा अमुक पेड़ की शाखा पर है, फिर कहता है कि ऊपर जो पक्षी उड़ रहा है उसके ऊपर है, फिर कहता है कि बादल के किनारे पर है, फिर अंगुली आगे करके कहता है कि मेरी अँगुली पर देख। इसमें जितने स्थान दिखलाये हैं, उनमें से किसी स्थान पर चन्द्र नहीं है, उन सबसे भिन्न है। चन्द्र को हाथ से पकड़ कर कोई दिखला नहीं सकता किंतु अवलम्बन पर लक्ष पहुँचाने से चन्द्र दीख जाता है। जिस प्रकार जब बुद्धि सूक्ष्म की जाय और अवलम्बन की सीध में नेत्र किरण को आगे फेंका जाय तब चन्द्र दर्शन होता है; इसी प्रकार शास्त्र भिन्न हैं, आत्मा को दिखलाने वाली प्रक्रियायें भिन्न हैं और मत मतांतर भी अनेक हैं। जब शब्द के वाच्यार्थ का त्याग

करके लक्ष्यार्थ का ग्रहण करते हैं तब ही स्वरूप का बोध होता है। स्वरूप का बोध सूक्ष्म आत्म भाव वाली बुद्धि से होता है ऐसा कहीं कहीं कहा गया है, ऐसा कहना वृत्ति पहुंचाने तक ही है बोध बुद्धि से नहीं होता किंतु परब्रह्म का बोध शुद्ध आत्मा ही करता है। आत्म भाव की बुद्धि आत्मा तक जाने को समर्थ है—बोध करने में समर्थ नहीं है, बुद्धि में जो जानने की शक्ति है वह आत्मा की है उस शक्ति का उपयोग अन्य में हो सकता है आत्मा में नहीं हो सकता। आत्म बोध में व्यक्ति भाव की बुद्धि ही परदा है, परदा रूप बुद्धि आत्मा को ढांकने वाली है। आत्मा को ढांकने वाली बुद्धि आत्मा का बोध किस प्रकार कर सके? नहीं कर सकती।

नेत्रों में जो देखने का प्रकाश है, वह सूर्य का है। सूर्य के प्रकाश में नेत्र सब पदार्थों को देख सकता है परन्तु नेत्र सूर्य को नहीं देख सकता। जब नेत्र सूर्य को देखने जाता है तब नेत्र का किंचित् प्रकाश सूर्य के महान् प्रकाश में एकता को प्राप्त हो जाता है, सूर्य यथार्थ नहीं दीखता क्योंकि नेत्र उस समय सूर्य रूप ही हो जाता है। ऐसे ही बुद्धि सबका बोध कर सकती है परन्तु बुद्धि में बोध करने का तत्त्व आत्मा में से ही आया हुआ होने से बुद्धि आत्मा का बोध नहीं कर सकती। जब बुद्धि आत्मा का बोध करने को जाती है तो उसमें लीन हो जाती है इसलिये उसका बोध नहीं कर सकती। जैसे जब कोई नदी समुद्र में मिलने को जाती है तो मिलने से प्रथम ही वह समुद्र के

साथ एक भाव को प्राप्त हो जाती है, उसका मिलान नहीं रहता वह पृथक् नहीं रहती; इसी प्रकार वुद्धि आत्माभिमुख होते ही आत्म रूप होने से उसमें आत्मा का ज्ञातृत्व नहीं रहता इसलिये ऐसा कहा है कि शिव तत्त्व वुद्धि से जाना नहीं जाता। जगत् में जीव व्यक्ति अहंभाव से लेकर जितने भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, वे माया के हैं। जो यथार्थ वस्तु रूपसे न हो और कार्य रूप में भासती हो उसे माया कहते हैं। सब जगत् और जगत् के पदार्थ ऐसे ही हैं इसी से उत्पत्ति और नाश वाले भी देखते हैं। जिसको आद्य माया कहते हैं उसका भी आविर्भाव और तिरोभाव हुआ ही करता है, कल्प के आदि में आविर्भाव और कल्प के अन्त में तिरोभाव होता है। जब उसका तिरोभाव होता है तब उसका कार्य रूप जगत् और जगत् के पदार्थों का उसमें लय होता है यानी प्रलय में जो कुछ दीख रहा है, कुछ नहीं रहता। कुछ न रहते हुए कोई तो रहना ही चाहिये क्योंकि उत्पत्ति और विनाश किसी आधार के विना नहीं हो सकता। जो सब का शेष है वह ही सब का आधार है, वह ही परम तत्त्व है। वह परम तत्त्व किस प्रकार का है, यह जानने को वुद्धि की गम नहीं है तो भी लक्ष्य से समझने के लिये संज्ञा रूप से कुछ कहते हैं:-जो सुख रूप है, जगत् में जितना सुख प्रतीत होता है, जगत् में जो सुख मालूम होता है, वह परदे सहित है और पदार्थों के सहारे से प्रतीत होता है इसलिये अनित्य है परंतु यह सुख स्वरूप किसी सहारे रहित स्वयं सुख रूप है और नित्य है क्योंकि वह उस परम तत्त्व शिव तत्त्व का स्वरूप है। स्वरूप स्वरूपी से भिन्न नहीं

होता, अज्ञान दशा में उसका बोध न होने पर भी वह परमानन्द स्वरूप ही रहता है इसलिये नित्य है। यदि कोई पूछे कि उस परम-अविशेष तत्त्व का स्वरूप कैसा है तो इसका उत्तर देना कठिन है। जो लक्ष पहुंचा सकता है, उसके समझाने के निमित्त उस तत्त्व को बोध स्वरूप कहते हैं। बोध का जो स्वरूप है वही उसका स्वरूप है। स्वरूप वाले जितने पदार्थ हैं, वे सब परिच्छिन्न हैं, यह तत्त्व अपरिच्छिन्न है। बोध के सिवाय उसका कोई अन्य स्वरूप नहीं है। वह तत्त्व प्रशांत है, परम शांत को प्रशांत कहते हैं। इस प्रकार लौकिक सुख से परम सुख विलक्षण है। जो उस तत्त्व को प्राप्त होता है, वह माया जाल से हमेशा के लिये मुक्त हो जाता है, माया और माया का कोई भी कार्य उसकी दृष्टि में नहीं रहता, न कोई माया का पदार्थ उसको अपने आधीन कर सकता है। अनेक जन्मों के बाद प्राप्त हुए मनुष्य शरीर को प्राप्त करके अपने स्वरूप का बोध करना ही परम कल्याण है।

एक ग्राम में एक बुढ़िया रहती थी, वह अपनी उमर एक कम सौ वर्ष की बताती थी और अपने को सब से विशेष बुद्धि वाली समझती थी, वह कहा करती थी "पृथिवी पर तो क्या ब्रह्मांड भर में मैं जितना जानती हूं उतना कोई नहीं जानता ! जिसको मैंने न देखा हो अथवा न सुना हो ऐसा ब्रह्मांड भर में कोई पदार्थ नहीं है। मेरी अकल के सामने सब की अकल पानी भरती है" जब वह ग्राम में घूमती थी तो बुढ़िया होने पर भी नाचती कूदती चला करती

थी। ऐसा देखकर लड़के लोग जमा हो जाते थे और हुरियो ! हुरियो ! करके उसे चिढ़ाया करते थे। बुढ़िया किसी से दवती न थी, यदि किसी लड़के का हाथ उसके हाथ में आजाता तो दो चार धौल, थप्पड़ मारे विना नहीं छोड़ती थी ! यदि किसी लड़के के माता पिता लड़के की तरफ से बोलने को आते तो उन्हें भी भली बुरी सुना देती थीं। जव वह कहीं जाती और बीच में कोई गाड़ी आजाती तो गाड़ी वाले को गाड़ी घुमाकर ले जाने को कहती थी, आप नहीं खिसकती थी। यदि गाड़ीवान गाड़ी न हटाता तो दो चार अपशब्द सुनने का शिरोपा पा लेता था। बुढ़िया वोलने में वहुत तेज थी, उसकी लूली-जीभ क्षण भर भी स्थिर नहीं होती थी। वह वहुत ही वकने वाली थी, बकते बकते कभी थकती न थी। उसका मस्तक वज्र का था। यदि उसको भारी से भारी सजा देनी हो तो दो घन्टे चुप चाप वैठाना पूरी सजा थी। वह कहा करती थी "मुझे स्वर्ग में ले जाने के लिये देवदूत कई वार आचुके हैं, वे लोग मेरे इस सुवर्ण के समान शरीर को पृथ्वी पर छोड़ कर ही मुझे ले जाना चाहते हैं इसलिये मैं उनके साथ स्वर्ग में जाना नहीं चाहती। इस सुवर्ण के समान काया को छोड़कर स्वर्ग में जाना किस काम का ! मेरी इच्छा तो इस शरीर सहित ही स्वर्ग में जाने की है !"

एक दिन बुढ़िया रात्रि को खाट पर सो रही थी, उसे एक भारी प्रकाश दिखाई दिया। उस प्रकाश में से एक देवदूत निकल कर बुढ़िया के सामने आकर कहने लगा "डोकरी ! स्वर्ग में चल, मैं तुझे बुलाने को आया हूँ !" बुढ़िया बोली "हे देवदूत ! मैं अपने

शरीर सहित चल सकती हूँ, शरीर को छोड़ कर मैं स्वर्ग में जाना नहीं चाहती।" देवदूत कुछ हास्य करता हुआ बोला "मैं तुझे शरीर सहित स्वर्ग में ले जाने को आया हूं, तुझे मेरे साथ एक प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी, वह यह है कि जैसे जगत् में तू सबको तुच्छकारती है, यदि तूने स्वर्ग में भी ऐसा ही किया तो वहां से नीचे नरक में पटक दी जायगी। यदि तू इस शर्त को स्वीकार करे तो मैं तुझे शरीर सहित स्वर्ग में ले जा सकता हूं।" बुढ़िया ने यह बात मान ली। देवदूत शरीर सहित उसे स्वर्गलोक में ले गया। स्वर्ग की शोभा देख कर बुढ़िया प्रसन्न हो गई! उसका शरीर सुन्दर और युवा हो गया! अच्छा महल रहने को मिला! बुढ़िया महल के झरोखे में बैठ कर आने जाने वाले देवता लोगों की सब चेष्टा देखा करती थी। कुछ दिन बाद एक स्त्री अनेक छिद्र वाले एक मटके में जल भर कर शिर पर रख कर आ रही थी। सब छिद्रों में से जल टपक रहा था। यह देख कर बुढ़िया अपने मन में कहने लगी "यह कैसी मूर्ख है! कहीं कोई अनेक छिद्र वाले मटके में जल भर कर लाता होगा!" दूसरे दिन बुढ़िया शहर में टहलने गई वहां उसने एक देवता पेड़ की एक शाखा काटते हुए देखा, यह देवता जिस शाखा को काट रहा था, उसी पर बैठा हुआ था। उसको देख कर बुढ़िया आश्चर्य को प्राप्त हो अपने जी में कहने लगी "कैसा मूर्ख है! शाखा गिरी तो धड़ाम से नीचे गिरता हुआ ही दिखाई देगा। हड्डियों का चूरा हो जायगा। मैं तो समझती थी कि देवता लोग बुद्धिशाली होंगे; परंतु मेरी यह भूल थी; ये

तो पूरे मूर्ख हैं।" तीसरे दिन बुढ़िया ने धीरे धीरे चलती हुई एक गाड़ी देखी, उसमें बहुत सा बोझ लदा हुआ था, दो बैल जुते हुए थे, वे भी कमजोर थे, बहुत कठिनाई से गाड़ी को खींच रहे थे। इतने में एक देवता दूसरे दो बैल लेकर आया और गाड़ी के पिछले भाग में उन्हें बांध दिया—जोड़ दिया! बुढ़िया चकित होकर बोल उठी "अरे अकल के दुश्मन! अकल के पीछे लगाम लिये ही फिरता है! तुझमें कुछ बुद्धि भी है या नहीं? कितना बोझा लदा हुआ है! विचारे दो बैल खेंचते खेंचते मरे जाते हैं, तूने दो बैल और लाकर गाड़ी के पीछे जोड़ दिये! आगे जोड़ता तो गाड़ी जल्दी चलती! पीछे जोड़ने से क्या फल होगा? भले आदमी! अपनी साधारण बुद्धि का ही उपयोग कर!" बुढ़िया के मुख से ये शब्द निकल ही रहे थे, इतने में ही जिन बैलों पर उसे दया आई थी वे आगे के दो बैल गाड़ी को तेजी से खींच कर ले जाने लगे! गाड़ी इतनी जल्दी चली कि थोड़ी देर में ही दृष्टि से बाहर निकल गई? बुढ़िया कहने लगी "यहां का संसार ही कुछ विचित्र है! मैं सब जानती हूं, मैं जानती न होऊं अथवा मैंने सुना न हो, ऐसा कोई पदार्थ है ही नहीं! ऐसा कहना इस स्थान पर व्यर्थ है!" इतना विचारते ही वह वहां से उछल पड़ी और भारी नरक में जाकर गिरी! अभी तक वह वहां ही सड़ रही है! देवता से की हुई प्रतिज्ञा का भंग करने से उसे यह फल प्राप्त हुआ।

बुढ़िया बुद्धि स्वरूप है, उसे यह अभिमान है कि मैं ही सब कुछ जानती हूं परन्तु उसके जाननेपने का अभिमान आत्म

स्थान में व्यर्थ होता है। जब वह स्वर्ग रूप आत्म स्थान पर बैठ कर देखती है तब उसे वहां उसके अनुभव से उलटा दिखाई देता है क्योंकि वह मायिक है और आत्मा उससे विरुद्ध प्रकाश स्वरूप है। शरीर सहित बुद्धि अधिष्ठान में जाकर बुद्धि के प्रभाव वाली तीनों अवस्थाओं को देखती है। बुद्धि आत्म-अधिष्ठान में अध्यस्त है। छिद्र वाले मटके में जल भर ले जाने का यत्न करने वाली जीव की प्रपंच भाव की वासना है, वह वासना जीव की जाग्रत् अवस्था के भोग के समान है। जिस शाखा पर बैठ कर देवता शाखा को काट रहा था, वह विरुद्ध वर्ताव जीव की स्वप्नावस्था है, देवता तैजस् है। जहां पदार्थ नहीं हैं वहां पदार्थों का अनुभव करके सुख दुःख को प्राप्त होना शाखा पर बैठ कर शाखा को काटना है, वह स्थान कंठ देश है। न होते हुए संसार को देखना, इस प्रकार की विरुद्धता वाली स्वप्नावस्था है। गाड़ी के पीछे बैलों को जोड़ना और गाड़ी तेज चल कर अदृश्य हो जाना जीव की सुषुप्ति अवस्था है। यह अवस्था जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं से विरुद्ध है। इस प्रकार बुद्धि की जानी हुई सब चेष्टाओं से विरुद्ध चेष्टायें जिस परमात्म तत्त्व से सिद्ध होती हैं उस परम तत्त्व को जानने में बुद्धि असमर्थ है। अपने विशेष देहाभिमान से बुद्धि ने जीव को जन्म मरण रूपी नरक चक्र में अभी तक डाल रक्खा है।

श्रुति की यह प्रतिज्ञा है कि कौनसा एक तत्त्व ऐसा है जिसको जानने से सब जाना जाय। यह ही प्रश्न यहां है कि किसके

जानने से सब जगत् जाना जाता है ? उसके उत्तर में यह कहा है कि सबके आत्म रूप एक परब्रह्म को जानने से सब जगत् जाना जाता है, यह ही परब्रह्म की विशेषता है। सब जगत् मायिक है, वस्तु स्वरूप नहीं है। वास्तविक पदार्थ ही जाना जाता है, जो भ्रमात्मक-काल्पनिक हो उसको क्या जाने। जो वास्तविक नहीं है, घड़ी में कुछ और घड़ी में कुछ, एक को कुछ भाव युक्त और दूसरे को कुछ भाव युक्त; ऐसा जगत् यथार्थ रीति से नहीं जाना जा सकता। यदि कोई जानना चाहे तो जगत् के पदार्थों को भिन्नता से जानने वाले के करोड़ों जन्म बीत जांय तो भी सब जगत् के सब पदार्थ जानने को शक्तिवान् नहीं होता। वेदान्त के आचार्यों ने जगत् को स्वप्न के समान भास मात्र मनोमय कहा है तब उसका जानना किस प्रकार हो ? यह सब जगत् अज्ञान से परब्रह्म में अध्यस्त है। अध्यस्त भाव अनेक हैं और जिसमें सब अध्यस्त हैं उन सबका अधिष्ठान परब्रह्म एक है। 'परब्रह्म सिवाय अन्य कुछ वस्तुतः नहीं है' ऐसी भी श्रुतियां हैं। अनेकता जो दीखती है वह अविद्या के कारण से है। जब अविद्या की निवृत्ति सहित परब्रह्म का बोध होता है तब सब जगत् क्या है, क्यों दीखता है, वस्तु है या अवस्तु? इत्यादिक सब जानने में आ जाता है, कुछ जानने को बाकी नहीं रहता। एक परब्रह्म को जानने से सब जगत् यथार्थ मालूम हो जाता है इसलिये जिसको मोक्ष की इच्छा हो-जो परम पद को चाहता हो उसे परब्रह्म को जानना चाहिये। परब्रह्म सबका आत्मा होने पर भी एक है। जो आत्मा को न जानता हो और जगत् में अन्य बहुत कुछ जानता हो तो

वस्तुतः उसने कुछ नहीं जाना। जैसे एक मृत्तिका को जानने से मृत्तिका के सब पात्र जाने जाते हैं. इसी प्रकार जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों ही जो ईश्वर रूप है और ईश्वर का शुद्ध तत्त्व परब्रह्म है, उसे जानने से सब जगत् जाना जाता है। जैसे सब सामग्री तैयार करके भोजन बनाया गया, परन्तु जब तक भोजन नहीं किया तब तक सब सामग्री व्यर्थ है इसी प्रकार जब तक अपने आत्मा-परब्रह्म का दृढ़ अपरोक्ष बोध न हो तब तक शास्त्र पढ़ना, शुभ कर्म करना, उपासना करना, योग का अभ्यास करना और मुमुक्षु होकर ज्ञान प्राप्त करना भी व्यर्थ है। जब तक दृढ़ अपरोक्ष बोध न हो तब तक बोध न हुआ ही समझना चाहिये, यानी किया हुआ परिश्रम सफल न हुआ ही जानो। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय इन पांचों कोशोंके भीतर रहे हुए आत्माको पांचों कोशों के भाव को अलग करके जानना चाहिये। ब्रह्मा से लेकर चेंटी पर्यन्त सब में परब्रह्म व्यापक है। जैसे वस्त्र ताने बाने से युक्त होता है इसी प्रकार कूटस्थ—साक्षी सब में ओत प्रोत है। संसार के कष्टों से निवृत्त होने का और अपने आद्य परमानंद स्वरूप की प्राप्ति का उपाय रूप परब्रह्म का जानना ही है। परब्रह्म सबका तत्त्व रूप, सबका जीवन रूप और सबका आधार है।

एक राजा के दो रानियां थीं, पुत्र नहीं था। दोनों रानियां भिन्न भिन्न स्थान में रहती थीं परन्तु दोनों का महल एक दूसरे से बहुत दूर न था। एक दिन छोटी रानी के यहां एक साधु

आया। रानी को अपुत्र समझ कर साधु ने भिक्षा नहीं ली और कहा "यदि तेरी इच्छा हो तो मैं तुझे एक औषधि दे दूं!" रानी ने कहा "अच्छा!" साधु ने औषधि देकर कहा "इसको अनार के रस के साथ खा लीजो, इसके खाने से योग्य समय में तुझे पुत्र रूपी रत्न की प्राप्ति होगी, उसका नाम दाड़िमचंद रखियो, तेरे शत्रु तेरे पुत्र को मार डालने का प्रयत्न करेंगे, तू उसे संभाल कर रखियो, तेरे महल के सामने के तालाब में उत्तर दिशा में एक लोहे की छोटी सी सन्दूक गढ़ी है उसमें मोतियों का एक हार है, वही तेरे पुत्र का जीवन आधार है। जब तक वह तेरे शत्रुओं के हाथ में न पहुँचेगा तब तक तेरा पुत्र कुशल रहेगा!" ऐसा कह आशीर्वाद दे साधु चला गया। रानी को गर्भ रहा और पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने उत्सव मनाया। राजकुमार बड़ा होने लगा। जब वह खेलने योग्य हुआ तब कबूतरों के साथ खेलने लगा। एक दिन उसका कबूतर उड़ कर बड़ी रानी के महल में चला गया। राजकुमार उसे लाने को वहां गया, रानी ने अप्रसन्न होकर वह कबूतर कुमार को दे दिया परन्तु जी में जलती रही। कुमार के होने के बाद छोटी रानी को राजा विशेष चाहने लगा था, बड़ी रानी कुमार को मार डालने की युक्ति ढूंढ़ रही थी, उसने किसी से ऐसा सुन लिया था कि राजकुमार का जीवन रहस्य किसी अन्य के साथ जुड़ा हुआ है परन्तु उसे यह खबर न थी कि किसके साथ जुड़ा हुआ है। उसने विचार किया कि राजकुमार कबूतर लेने आया करता

है उसीसे यह रहस्य जान लेना चाहिये। दूसरे दिन भी राजकुमार का कबूतर उड़कर बड़ी रानी के महल में चला गया। जब राजकुमार कबूतर लेने को आया और रानी से कबूतर मांगा तब रानी ने कहा "पुत्र! जब तक तू मुझे एक बात नहीं बतावेगा तब तक मैं तुझे कबूतर न दूंगी!" कुमार ने कहा "माता! जो कुछ आप मुझसे पूछना चाहती हो, पूछो!" रानी बोली "प्रिय पुत्र! ऐसी कोई महत्व की बात नहीं है! मैं इतना ही जानना चाहती हूं कि तेरा जीवन किसमें रहा हुआ है?" राजकुमार बोला "मेरा जीवन मेरे देह में रहा हुआ है अन्य कहां होगा?" रानी बोली "नहीं! नहीं! तू साधु की प्रसादी से हुआ है, साधु ने तेरे जीवन का आधार किसी एक दूसरे ही पदार्थ बताया है, मैं उसे जानना चाहती हूं!" राजकुमार ने कहा "माता! मैं क्या बताऊं? मुझे इसकी खबर ही नहीं है!" रानी ने कहा "तू अपनी मां से पूछियो, मैंने पूछा है ऐसा मत कहियो! कल एकांत में आकर मुझसे कह जाइयो मैं तेरा कबूतर दिये देती हूं परन्तु तू मुझे वचन दे कि मैंने जो तुझसे पूछा है वह अपनी मां से न कहेगा!" राजकुमार ने वचन दे दिया और अपनी मां के पास आकर रहस्य पूछा। माता ने प्रथम न कहा परन्तु जब कुमार ने हठ की तब कह दिया। दूसरे दिन राजकुमार सब बात बड़ी रानी से कह आया। बड़ी रानी अपने कार्य सिद्ध होने का उपाय मिल जाने से प्रसन्न हुई। उसने रात्रि के समय तालाब के उत्तर दिशा में से लोहे की छोटी सन्दूक निकलवा ली और उसे तोड़ कर मोतियों का हार अपने हाथ में ले लिया।

उसी क्षण राजकुमार पृथ्वी पर गिर पड़ा और प्राण निकलने की तैयारी हो इस प्रकार के भयंकर चिह्न उसके शरीर में दिखाई देने लगे ! तुरन्त ही दास दासी उसे उसकी माता के स्थान में ले गये । राजा उसकी यह दशा सुनते ही घबरा गया । बड़ी रानी माला को हाथ में लेकर इधर उधर घुमा घुमा कर देखने लगी । इसी प्रकार कुमार माता की गोद में इधर से उधर खिंचने और उछलने लगा । ज्योंही बड़ी रानी ने माला कंठ में धारण की त्यों ही राजकुमार मृत्यु को प्राप्त होगया ! यह देखकर राजा बहुत व्याकुल हुआ । मन्त्री आदिकों ने यह विचारकर कि राजा कहीं पागल न होजाय राजकुमार का अग्नि संस्कार न कराया किंतु एक उपवन वाले महल में सुगन्धित पदार्थों के बीच में राजकुमार की लाश को संभाल कर रखने की आज्ञा दी । राजा रानी अत्यन्त दुःखी रहे । एक दिन वही साधु फिर रानी के पास आया । रानी ने सब वृत्तांत सुनाया । साधु ने इसी प्रकार की एक दूसरी माला रानी के हाथ में दी और कहा "किसी चतुर दासी को इस माला को देकर बड़ी रानी के पास भेज, वह इस माला को इससे बदल ले तो दाड़िमचन्द सजीवन हो जायगा !" रानी ने साधु की युक्ति के अनुसार कार्य किया, उसका कार्य सफल हुआ, राजकुमार की जीवन आधार माला हाथ में आते ही जहां राजकुमार था वहां रानी पहुँची ! इसके पहुँचते ही राजकुमार के प्राण चलने लगे । ज्योंही रानी ने माला उसके गले में पहिनाई त्यों ही वह उठ बैठा । राजा भी वहां आ गया, माता पिता और पुत्र तीनों मिले । बड़ी रानी यह समाचार सुन कर बहुत घबराई

और 'छल प्रकट होने से मुझे भारी दण्ड मिलेगा' ऐसा विचार कर आपघात करके मरण को प्राप्त हुई। राजा प्रजा दोनों सुखी हुए।

जिस प्रकार दाड़िमचन्द का सम्बन्ध–जीवन आधार–जीवन रहस्य मोती की माला थी इसी प्रकार सब जगत् का सम्बन्ध–जीवन आधार–जीवन रहस्य सत्ता स्फूर्तिदाता परब्रह्म है। उसको जानने और न जानने में ही जगत् की लय और स्थिति है, सब जगत् का जीवन परब्रह्म ही है, वही व्यापक है। उसको जानने से सब जाना जाता है और सब कार्य की सिद्धि रूप परम पद होता है ॥२७॥

किं दुर्लभं सद्गुरुरस्ति लोके,
सत्संगतिर्ब्रह्म विचारणा च।
त्यागो हि सर्वस्य निजात्म बोधः,
किं दुर्जयं सर्व जनैर्मनोजः ॥२८॥

अर्थः–प्रश्नः–जगत् में दुर्लभ क्या है? उत्तरः–सद्गुरु, सत्संगति और ब्रह्म विचार। प्रश्नः–सबके त्याग का अर्थ क्या है? उत्तरः–अपने आत्मा का बोध। प्रश्नः–सब मनुष्यों से जीता न जाय वह कौन है? उत्तरः–मनोज यानी काम।

छप्पय।

जग में क्या दुर्लभ, युक्त सद्गुरु का पाना।
सत्संगति अरु ब्रह्म विचार कठिन सब जाना ॥

सर्व त्याग क्या होय, वेद सन्तन के मत से।
निज स्वरूप का बोध, सिद्ध ऋषि मुनि सम्मत से॥
दुर्जय सबसे कौन है, सब जिससे घबराय हैं।
सबसे दुर्जय काम है, ब्रह्मादिक भय खाय हैं॥२८॥

विवेचन।

जगत् में जिस पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा करे और उसके लिये योग्य प्रयत्न करे तो वह पदार्थ मिल सकता है परन्तु जगत में बहुत कठिनाई से मिलने वाला जो हर किसी को प्राप्त नहीं होता ऐसा पदार्थ कौनसा है? इसके उत्तर में कहा है कि सद्गुरु, सत्संगति और ब्रह्म विचार कठिनाई से प्राप्त होते हैं। जगत् में जगत के पदार्थों की प्राप्ति सहज में होना संभव है परन्तु ये तीन पदार्थ जगत में होते हुए भी जगत के लौकिक भाव से भिन्न प्रकार के हैं इसीलिये जगत् में जन्म लेने वाले को ये तीनों कठिनाई से प्राप्त होने योग्य हैं। सद्गुरु, सत्संगति और ब्रह्म विचार जगत् में होते हुए जगत् के बाहर के तत्त्व से सम्बन्ध-भाव वाले हैं। ये तीनों केवल इस जगत् में ही प्राप्त होने दुर्लभ हों, ऐसा नहीं है किन्तु तीनों लोकों में प्राप्त होने कठिन हैं क्योंकि जिसको आत्म कृपा की उत्पत्ति हुई हो उसे ही गुरु और गुरु कृपा की प्राप्ति होती है। निर्मल और तीव्र बुद्धि बिना आत्म विचार नहीं हो सकता। ये सब संयोग प्राप्त होना कठिन है। जो सच्चे मार्ग को दिखलावे, अज्ञान-अन्धकार को दूर करे वह सद्गुरु है। जिससे सत का संग हो वह सत्संगति है, चाहे वह इशारे से हो, चेष्टा

अथवा कथन किसी प्रकार से हो और सच्चिदानन्द रूप जो ब्रह्म है, जिसे शास्त्र में अचिंतनीय कहा है जिसका विचार-चिंतवन करना अत्यन्त कठिन है-अलौकिक है, उसके विचार को ब्रह्म विचार कहते हैं। कोई कोई कहते हैं:-गुरु का मिलना कठिन ही क्या है ? हमको गुरु मिले हैं! हम ब्रह्म विचार करते हैं। ऐसा कथन करने वाले भले अपने मन से मान लें, उनको रोकने वाला कौन है ? सद्गुरु की प्राप्ति और ब्रह्म विचार का होना कोई सामान्य बात नहीं है, बालकों का खेल नहीं है। जब सद्गुरु की प्राप्ति हो और शिष्य, शिष्य भावके लक्षणोंसे युक्त हो तब परम पद की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता। कंठी मात्र को बांधने वाला, अथवा वेषधारी सद्गुरु नहीं होता! शास्त्र में गुरु के लक्षण इस प्रकार कहे हैं:-जो स्वयं ब्रह्मानंद रूप है, परम सुख का देने वाला है, ज्ञानकी मूर्ति है, हर्ष शोकादिक से रहित है, आकाशके समान निर्लेप है, तत्त्वमसि आदि महा वाक्यों करके जाना जाय ऐसा है, नित्य है, विमल है, अचल है, निरंतर साक्षी रूप है कल्पना में भी न आवे ऐसा है और तीनों गुणोंसे पर है, वही सद्गुरु है। ऐसे गुरु भाग्यवश ही प्राप्त होते हैं ऊपर से गुरु बने हुए मलिन वासना वाले बहुत हैं वे स्वयं नरक में जाते हैं और शिष्य को भी नरक में पटकते हैं इसलिये दाम्भिक और ढोंगियों के जाल में फंसना न चाहिये। जब शुद्ध ज्ञानवान् समदर्शी गुरु से उपदेश लिया जाता है तब ही ब्रह्म विचार हो सकता है। यदि स्वयं अधिकारी न होगा तो शुद्ध गुरु से भी लाभ होना संभव नहीं है। सद्गुरु से शास्त्र श्रवण करना, सत्पुरुषों का बोध और

समागम करना, संसार में निरन्तर वैराग्य की दृष्टि रखना, जिसमें सत् तत्त्व का संग हो, ऐसी सत्संगति करना और ईश्वर का विचार करना, मनुष्य जन्म धारण करके सब से विशेष यह ही कर्तव्य है। आत्म, अनात्म वस्तु का विचार करके ब्रह्म स्वरूप को जानना, श्रवण, मनन और निदिध्यासन में मग्न रहना, इसका नाम ब्रह्म विचार है। ब्रह्म विचार मृत्युलोक के सिवाय अन्य लोक में नहीं हो सकता, इसलिये अपने कल्याण के निमित्त दुर्लभ ऐसे ब्रह्म विचार को अवश्य करना चाहिये। इस प्रकार विचार करने वालों में से भी हजारों में से एक ही को यथार्थ बोध होता है। बहुत देशों की भाषा सीखने से, शास्त्रार्थ के ज्ञान से, व्यवहार की कुशलता से अथवा बहुत शब्दों के ज्ञान से तत्त्व ज्ञान नहीं होता, किन्तु अनुभव सहित जो तत्त्व बोध है वह ही यथार्थ तत्त्व ज्ञान है। यदि जानने से ही ज्ञान होता हो तो अठारह पुराणों के कर्ता महात्मा श्रीवेदव्यासजी को अपनी विद्या के ज्ञान से ही निश्चिंतता प्राप्त हो जाती जब देवर्षि नारदजी से बोध प्राप्त हुआ तब ही वे चिन्ता से मुक्त हुए। जब तक ईश्वर का अनुग्रह नहीं होता तब तक सद्गुरु और सत् शास्त्र नहीं मिलते। जब तक आत्म कृपा नहीं होती तब तक ईश्वर का अनुग्रह नहीं होता। सत् की खोज और जगत् में दोष दृष्टि बिना आत्म कृपा नहीं होती।

सद्गुरु ब्रह्म स्वरूप होने से सद्गुरु का पूर्ण वर्णन हो नहीं सकता! समझने में मदद रूप होने के निमित्त एक व्यवहारिक उपदेश का दृष्टांत देते हैं—

एक किसान की कन्या थी, वह बहुत चतुर थी। किसान के पास जमीन जागीर कुछ न थी। कन्या के कहने से वह राजा के पास गया और कुछ सरकारी जमीन खेती करने के लिये मांगी। राजा ने तलाश की तो मालूम हुआ कि किसान मेहनती है परन्तु अपनी जमीन न होने से अपने संसार को दुःख से चला रहा है। राजा ने उसे कुछ जमीन खेती करने को दे दी। मौसम आने पर किसान ने जमीन जोती तो उसमें से एक बटलोई निकली जो सुवर्ण मुद्रा से आधी भरी हुई थी। बटलोई को लेकर किसान अपने घर गया और बेटी को दिखला कर कहने लगा "बेटी! इन मिली हुई सुवर्ण मुद्रा पर हमारा अधिकार नहीं है। राजा ने हमको गरीब समझ कर अपनी जमीन खेती करने को दी है, हम जो उसमें पैदा हो उसमें से भी कर देकर जो बचे, उसके ही लेने के अधिकारी हैं। जमीन राजा की है, उसमें से जो माल निकला है वह भी राजा का है इसलिये सुवर्ण मुद्रा वाली यह बटलोई राजा को दे देनी चाहिये!" लड़की ने बटलोई देखी तो आधी भरी हुई देखकर कहने लगी "पिताजी! मैं सच कहती हूँ तुम ऐसा मत करो! ऐसा करने से तुम पर विपत्ति आ जायगी! आधी भरी हुई बटलोई देखकर राजा को शंका होगी, वह ऐसा विचार करेगा कि आधी सुवर्ण मुद्रा किसान ने ले ली है और आधी देने को आया है इसलिये अच्छा रस्ता तो यह ही है कि राजा के पास जाना ही नहीं!" सीधे सादे किसान ने पुत्री के कहे हुए वचनों पर लक्ष न दिया, सुवर्ण मुद्रा सहित बटलोई को ले जाकर राजा के सामने रख

दिया और कहा "महाराज! यह वटलोई जोतते समय खेत में से निकली है!" राजा आधी भरी हुई वटलोई को देखकर कहने लगा "ठीक है! परन्तु उसमें की आधी मुद्रा कहां हैं?" किसान ने कहा "महाराज! जितनी मुद्रा सहित वटलोई निकली थी, उतनी ही लेकर मैं आपके पास आया हूँ, मैंने इसमें से एक भी मुद्रा नहीं निकाली!" राजा को उसके कहने पर विश्वास न आया, वटलोई अपने खजाने में भिजवा दी और किसान को जेलखाने में भेजने की आज्ञा दी! जेलखाने में पड़ा हुआ किसान कुछ खाता पीता नहीं था और चिल्लाता था "हाय! हाय! मैंने अपनी पुत्री का कहा न माना! यदि उसके कहे अनुसार चलता तो आज जेलखाने में पड़ने का समय न आता।" जेलर ने किसान के इन वचनों को राजा से जाकर कहा। किसान की पुत्री यह वृत्तांत सुनकर दुःखी हुई। राजा ने लड़की को बुलाने के लिये चपरासी भेजा। लड़की को कुछ भय न था, राजा के सामने जाकर खड़ी हो गई। राजा ने कहा "लड़की! तूने अपने पिता से क्या कहा था?" लड़की ने कहा "सुवर्ण मुद्रा से आधी भरी हुई वटलोई खेत में से निकली थी, मेरा पिता आपका माल समझ कर आपको देने को आता था, मैंने उसे रोका और कहा था कि राजा को अवश्य सन्देह होगा कि तुमने आधी सुवर्ण मुद्रा निकाली हैं इसलिये तुम देने को मत जाओ, यदि तुम देने को जाओगे तो आपत्ति में पड़ोगे!" राजा को निश्चय हो गया कि इतनी ही मुद्रा वटलोई में थीं! लड़की की प्रशंसा करके राजा ने कहा "लड़की! मुझे कैसे

निश्चय हो कि ऐसा ही है ! यदि तू मुझे निश्चय करा दे कि इतनी ही सुवर्ण मुद्रा निकली हैं तो मैं तेरे पिता को छोड़ दूंगा और मुद्रा सहित बटलोई को तेरी बुद्धि की चतुराई में तुझे भेंट करूँगा !" लड़की ने बटलोई मंगवा कर राजा को दिखलाई और कहा "देखो ! जहां तक सुवर्ण मुद्रा भरी हुई थीं, वहां तक बटलोई में लकीर है, ऊपर के हिस्से पर कुछ विशेष काई लगी हुई है !" राजा की शंका निवृत्त हुई, किसान को छोड़ दिया, लड़की की बुद्धि की प्रशंसा की और मुद्रा सहित बटलोई उसे भेंट दी।

उपदेश इसी प्रकार का होता है, जिसमें हित हो, हानि से लाभ विशेष हो वह ही उपदेश कहलाता है। ब्रह्म का उपदेश भी माया में किया जाता है, झूँठे शब्दों से किया जाता है किन्तु परिणाममें सत् की प्राप्ति होती है। लड़कीके समान सद्गुरु बिगाड़े हुए को भी सुधार लेता है। सद्गुरु जो उपदेश देता है वह अधिकारी की योग्यता और संयोग सहित होता है। यह कोई नियम नहीं है कि उपदेश सच्चा ही हो किन्तु जिस करके क्रम से सच्चे ही की प्राप्ति हो, वही सदुपदेश कहा जाता है। गुरु के साथ सत्संग और ब्रह्म विचार का सम्बन्ध है। सब जगत् और जगत् के पदार्थ मिथ्या हैं, अपना आत्म स्वरूप उनसे विलक्षण सच्चा है। ।जगत् का संबंध असत् की संगति है। जगत् के भाव वाले सत् ईश्वर को असत् और असत् जगत् को सत् मानते हैं, ईश्वर जो दृष्टि में नहीं आता उसकी परवाह न करना सत् को असत् मानना है और माया को ईश्वर समझना असत् को सत्

मानना है ! जैसे किसी को द्रव्य, पुत्र, स्त्री अथवा किसी अन्य पदार्थ की प्राप्ति हो तो वह ऐसा समझता है कि ईश्वर की कृपा हुई। जब कोई राजा किसी को जागीर इनाम देता है पट्टा लिख देता है तो वह जागीर यकायक चली नहीं जाती, परंपरा से उपयोग में आती है इसी प्रकार जो पदार्थ ईश्वर ने दिया है, वह क्यों जाना चाहिये ? ऐसा विचार नहीं होता। स्त्री पुत्रादिक सब झूंठी माया के पदार्थ हैं। माया स्वयं मिथ्या है तो उसके पदार्थ कैसे सच्चे हो सकते हैं ? जब कुंभार ही असत्य-नाश वाला है तब उसके बनाये हुए पदार्थ सच्चे कैसे हों ? इसी प्रकार झूंठी माया के जगत् में सच्चे पदार्थ नहीं हो सकते। स्त्री पुत्रादिक की प्राप्ति में ईश्वर कृपा मानना मिथ्या है क्योंकि उन पदार्थों से ईश्वर के निकट नहीं पहुंचा जाता—अपने आद्य स्वरूप को प्राप्त नहीं होता सद्गुरु कृपा और शास्त्र कृपा से ही अपने गये हुए स्थान की प्राप्ति हो सकती है। जैसे कोई पूर्व में राज्य का न्याया-धीश हो, उसकी पदवी किसी कारण से छूट गई हो तब वह यदि अमात्य मंडल से अनेक प्रकार प्रार्थना करे और अमात्य राजा से विनती करे तो राजा न्यायाधीश को पुनः उसकी पदवी दे देता है इसी प्रकार मनुष्य अज्ञान से अपने स्वरूप से हट गये हैं इसलिये व्रत नियमादिक का पालन करते हुए शुभ कर्म करने से, इष्टदेव की उपासना करने से इष्टदेव परब्रह्म से प्रार्थना करके उपासक को सद्गुरु और सत् शास्त्र की प्राप्ति करा देता है, यह ही वास्तविक ईश्वर कृपा है, इसीसे स्वपद की प्राप्ति होती है। जैसे एक लोटे का जल जब नदी में डाल दिया जाता है तब नदी

में मिल कर समुद्र में मिल जाता है, देरी नहीं लगती इसी प्रकार जिस अधिकारी को सद्गुरु की प्राप्ति हुई है उसकी परब्रह्म से एकता होने में विलम्ब नहीं है। सद्गुरु की प्राप्ति से ही सत् संगति और ब्रह्म विचार होता है इसलिये जगत् में सद्गुरु की प्राप्ति ही दुर्लभ है।

दुष्ट का संग हमेशा ही बुरा होता है। कहा भी है 'दुष्ट संग नहिं देय विधाता' दुष्ट माया है, माया में चाहे कितना ही ऐश्वर्य हो तो भी वह दुःख रूप ही है। असत् का संग दुष्ट का संग है और सत् ऐसे आत्मा का संग सत्संग है, ऐसे सत्संग की प्राप्ति भी गुरु की प्राप्ति से ही होती है।

पंद्रहवीं सदी में बीजापुर में आदिल शाह का अमल था, बीजापुर से जाते हुए पूना के मार्ग में ऋद्धि सिद्धि से पूर्ण कल्याण नगर है। उस समय पर वहां का सूबा मौलाना अहमद था। मौलाना का मीरखान नाम का युवा और बहादुर पुत्र था। मीरखान की सौन्दर्यवान् युवती रोशनआरा थी। एक दिन बीजापुर से कल्याण नगर में एक पत्र आया, जिसमें यह लिखा हुआ था:-'कल्याण नगर में जितना खजाना जमा हुआ हो उस सब को रुक्के-पत्र के देखते ही बीजापुर भेज दो'। शिवाजी इस समय अपने मनुष्यों सहित लूट मार कर रहा था। मरहठों ने पत्र लाने वालों से युक्ति पूर्वक मिल कर पत्र की मोहर तोड़कर पत्र का मतलब जान लिया था। मोहर टूटा हुआ पत्र देख कर मौलाना अहमद को शंका हुई कि अवश्य यह मरहठों का कार्य

है। उसने विचार किया कि खजाना अवश्य भेजना है, मरहठे मार्ग में विघ्न करेंगे इसलिये पूरे बंदोबस्त सहित खजाना भेजना चाहिये। ऐसा विचार करके मौलाना ने खजाने के ऊंटों के साथ सौ रक्षक और अन्य कई मनुष्यों सहित अपने पुत्र मीरखान को भेजने का निश्चय किया। जाते समय मीरखान रोशनआरा से मिलने गया। रोशनआरा को मालूम हो गया था कि खजाने के साथ जाने में जान जोखम का संभव है इसलिये उसने मीरखान को जाने से रोका। मीरखान पिता की आज्ञा को उल्लंघन नहीं कर सकता था। रोशनआरा के रोकने से वह न रुका, इन दोनों के कहने सुनने में दो तीन घंटे की देर हो गई, अन्त में मीरखान खजाने के ऊंटों के साथ सैन्य सहित चल दिया। दो मंजिल चलने के बाद जब बोरघाट उतरने की तैयारी हो रही थी तब शिवाजी के मनुष्य आसपास की झाड़ी में से निकल आये। उन्होंने मुसलमानों को परास्त करके खज़ाना लूट लिया और मीरखान को पकड़ कर शिवाजी के पास भेज दिया। मौलाना अहमद को मुसलमानों के हारने और खजाना लूटने का समाचार मिला परंतु मीरखान का कुछ समाचार न मिला। समाचार न मिलने से मौलाना नें उसे मारा गया समझा। रोशनआरा अपने पति के मृत्यु का समाचार सुनकर दुःखी हुई परन्तु उसका हृदय मीरखान की मृत्यु को क़बूल नहीं करता था। मौलाना अपने पुत्र के मृत्यु का समाचार सुनकर आधा पागल सा होगया था। किले की अव्यवस्था का मौका देखकर मरहठे किले में घुस आये, किले

पर अपना अधिकार कर लिया। मौलाना अहमद और अंतःपुर की स्त्रियों को सैनदेव नामक एक सरदार के साथ शिवाजीके पास भेज दिया गया। सब मुसलमानों को यह निश्चय था कि रोशन आरा सहित सब स्त्रियों की मरहठे वैसी ही दुर्दशा करेंगे जैसी मुसलमानों ने मरहठों की स्त्रियों की की थी।

शिवाजी ने दरबार किया, उसमें मौलाना को बुलाया और आदर कर कहा "आप घबराइये मत" बाद रोशनआरा बुलवाई गई। शिवाजी ने उसका बुरका खोलने को दासी को आज्ञा दी। दासी ने बुरका खोला। उसका सुन्दर मुख देखकर शिवाजी अपने आसन से उठा, उसके सामने गया और नमन कर बोला "मेरी माता भी तेरे समान सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर होता! बाई! घबरा मत! तू मेरी पुत्री और बहिन समान है!" इस प्रकार कहकर शिवाजी आसन पर जा बैठा और एक सरदार को कुछ इशारा किया। सरदार ने बाजू की खिड़की खोली और उसमें से मीरखान को ले आया। शिवाजी ने धर्म भगिनी रोशन आरा का हाथ पकड़ कर मीरखान के हाथ में दिया। पिता पुत्र भी मिले। शिवाजी ने नूतन भगिनी रोशनआरा के कपड़े के लिये कितनी ही रकम मौलाना को दी और सबको बंधन से मुक्त किया। दुश्मनाई होते हुए भी शिवाजी के सत्संग ने हित ही किया।

गुरु प्राप्ति—सत्संग में ही ब्रह्म विचार होता है। 'मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, परब्रह्म क्या है, कैसा है, माया क्या है, कैसी है, मेरा

और माया का क्या सम्बन्ध है, वास्तविक है या अज्ञान से। ब्रह्म से माया का क्या सम्बन्ध है?" इत्यादि का वारम्वार विचार करना, अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं से सिद्ध करके शेष तत्त्व को अपना आद्य स्वरूप समझ कर पूर्ण निश्चय में आना, यह ब्रह्म विचार है। ब्रह्म विचार आदि तीनों पदार्थ की प्राप्ति शुभ संस्कारी को ही होती है, इसीलिये तीनों ही दुर्लभ हैं।

त्याग त्याग के निमित्त नहीं है। त्याग का जो वास्तविक फल है, यदि वह न हो तो त्याग कहने मात्र ही कहना चाहिये। जब तक स्वरूप का बोध न हो तब तक जगत् के पदार्थों का चाहे जितना त्याग किया जाय सफल नहीं होता। मलिनता रूप पदार्थों का भाव आत्मा में आवरण रूप है, जब तक पदार्थों का भाव है तब तक आत्मा का बोध होना असंभव है इसीलिये त्याग की आवश्यकता है। आत्म बोध में त्याग मदद रूप है, यदि त्याग आत्म बोध में उपयोगी न हो तो ऐसे त्याग से क्या फल है? ऐसा त्याग तो पशु भी करते ही हैं। रहने को स्थान नहीं, संग्रह कर रखने को जगह नहीं, लड़ने को अनेक युक्ति पूर्ण यंत्र नहीं, पहिनने को वस्त्र नहीं, इत्यादि प्रकार के त्याग से त्यागी नहीं कहा जाता। यदि कोई कहे कि त्याग से ही बोध हो जायगा तो यह भी ठीक नहीं है, त्याग के पश्चात् भी बोध के प्रयत्न-लक्ष की आवश्यकता है। आंतर त्याग ही वास्तविक त्याग है, आंतर त्याग विना बाहर के त्याग से कार्य नहीं चलता। आंतर त्याग सहित बाहर का त्याग विशेष शोभा देता है। जिसे आंतर त्याग नहीं

है, ऐसा कोई भी परम पद-आत्म बोध को प्राप्त नहीं हो सकता 'सब' जिसको कहते हैं, वह 'सव' मायिक है, उसके त्याग से ही परब्रह्म शेष रहता है। जब तक अहंभाव का लय न हो तब तक न तो त्याग है और न बोध है, इसका एक लौकिक दृष्टांत देते हैं:—

जगत् का नियम इसी प्रकार है कि छोटा हो या बड़ा, सब का समय एकसा नहीं जाता-किसी का प्रारब्ध एकसा नहीं होता इसलिये भोग भी एक समान नहीं होता। एक राजा पराक्रमी और बुद्धिशाली भी था, उस राजा का एक दूसरे राजा से राज्य की हद के बारे में झगड़ा हुआ। अन्त में दूसरे राजा ने बुद्धि-शाली राजा को परास्त कर लिया और उसके राज्य के ऊपर अपना अधिकार जमा लिया। बुद्धिशाली राजा उसका बल और पराक्रम देख अपनी खोटी दशा समझ कर जंगल में जाकर पहाड़ की एक गुफा में छुप गया। नवीन राजा ने बुद्धिशाली राजा की बहुत खोज की परन्तु उसका पता न लगा। दूसरे राजा के मन में भय था कि कहीं पूर्व का राजा अपना सामर्थ्य बढ़ा कर मुझसे राज्य छीन न ले, उसको या तो कैद कर देना अथवा उसका नाश कर देना ही ठीक है। 'शत्रु छोटा हो तो भी उसकी उपेक्षा न करे' यह बड़ों का कथन है। ऐसा विचार कर नवीन राजा ने सब शहर में ढँढोरा पिटवा दिया कि जो कोई पूर्व राजा को पकड़वा देगा उसे पांच हजार सुवर्ण मुद्रा का इनाम मिलेगा। शहर में घर घर और शहर के आस पास के जंगल में इनाम की चर्चा होने लगी। कोई कोई लालची मनुष्य कहता था कि यदि

राजा मुझे मिल जाय तो मैं उसे पकड़वा दूं, इनाम मिलने से मैं श्रीमान् हो जाऊंगा और कोई कोई सद्गुणी मनुष्य कहते थे कि ऐसे दयालु, पवित्र और बुद्धिशाली राजा को पकड़वा देने वाला कौन मूर्ख होगा ! सब प्रजा उसको अब भी चाहती है।

राजा जिस पहाड़ की गुफा में छुपा था, वहां एक गोपाल अपनी गायों को चरा रहा था, वह उमर में वृद्ध और अशक्त था। उसकी स्त्री जो बुढ़िया थी अपने दूल्हे को रोटी देने आई और शहर में चलती हुई इनाम की बात सुना कर कहने लगी "हम बहुत गरीब हैं, वृद्ध हुए हैं, यदि राजा कहीं मिल जाय तो उसे पकड़वा देने से हमें इनाम मिल जायगा, राजा यहां ही किसी जंगल में घूमरहा है !" बूढ़ा बोला "तू कैसी दुष्टा है ! हमारे थोड़े से स्वार्थ के लिये राजा की जान पर आ जायगी ! ऐसा करना हमको उचित नहीं है ! इस राजा ने हमारा कुछ बिगाड़ा नहीं है ! ऐसा नीच कर्म हम नहीं कर सकते ! हम गरीब हैं, दुःख पा रहे हैं, यह सच है परन्तु यह तो हमारे प्रारब्ध का है ! ऐसा अधर्म करने से हम विशेष दुःख को ही प्राप्त होंगे !" बुढ़िया ने कहा "आजकल धर्म का समय ही कहां है ! कलियुग वर्त रहा है ! मैं तो देखती हूँ, जो धर्म का विचार रखते हैं वे अवश्य दुःखी होते हैं। हमारा पूर्व राजा धर्मात्मा ही था, कैसा मारा मारा फिरता है !" बूढ़ा बोला "साठी, बुद्धि नाठी ! तुझे ऐसा उलटा भाव क्यों हो गया है ? भूखे मर जाना मुझे कबूल है परन्तु अधर्म नहीं करूँगा !" इन दोनों की बात

गुफा में छुपा हुआ राजा सुन रहा था। उसे निश्चय हो गया कि ये धन से दुःखी हैं, मुझे पकड़वा देने से इन्हें अवश्य धन मिलेगा, मेरा जो कुछ होगा हो जायगा, ये लोग तो सुखी होंगे। ऐसा विचार कर राजा गुफा से बाहर निकल आया और बूढ़े के सामने खड़ा होकर कहने लगा "बूढ़े! मैं पूर्व का राजा हूँ, तू मुझे ले जाकर अपने वर्तमान राजा को दे दे, वह तुझे इनाम देगा, तू सुखी हो जायगा!" बूढ़ा हाथ जोड़ कर बोला "महाराज! आप क्या कहते हैं? मुझसे ऐसा निकम्मा काम न होगा! वह आपकी बुरी दशा करेगा!" राजा बोला "इससे तुझको क्या? तू अपने दुःख की निवृत्ति करले!" इस प्रकार राजा अपने ले जाने को कह रहा था और बूढ़ा मने कर रहा था, इतने में वर्तमान राजा के भेजे हुए कुछ मनुष्य इस राजा को खोजते हुए वहां आ पहुंचे। इन पांच मनुष्यों ने राजा को पहिचान कर कैद कर लिया और वर्तमान राजा के पास ले जाकर खड़ा किया। बुढ़िया से गायों को घर ले जाने को कह कर बूढ़ा भी उन सब के पीछे पीछे चला गया। वर्तमान राजा ने पांचों से पूछा कि राजा को तुममें से कौन लाया है। पांचों में से प्रत्येक ने कहा कि मैं लाया हूं। इनाम एक को मिलने को था, पांचों दावा कर रहे थे तब वर्तमान राजा ने पूर्व राजा से कहा "तुम ही सच कहो; तुमको कौन पकड़ कर लाया है?" पूर्व राजा ने बूढ़े को बता कर कहा "मुझे यह पकड़ लाया है" वर्तमान राजा ने बूढ़े की तरफ देख कर कहा "बूढ़े! क्या तू राजा को पकड़ कर लाया है?" बूढ़े ने कहा "ना महाराज! यह राजा अपने

आप ही आया है !" ऐसा कह कर बूढ़े ने सब वृत्तांत सुनाया। राजा ने पांचों मनुष्यों को दंड दिया, पूर्व राजा को नमन किया और अपने पास आसन पर बैठा कर कहा "मेरे अपराध को क्षमा कीजिये, आप पवित्र हैं, आपका राज्य लेने को मैं समर्थ नहीं हूं, जैसी आपकी ख्याति थी ऐसा ही आज मुझको परिचय मिला है !" ऐसा कह कर वर्तमान राजा ने राज्य पूर्व राजा को सोंप दिया और बूढ़े को नियत इनाम दिया। शेष आयु भर दोनों राजा मित्र होकर रहे।

त्याग इसका नाम है। राजा ने अपने शरीर तक की भी परवाह न की, दूसरे के लिये अपना कैद हो जाना अथवा मर जाना भी अंगीकार किया। ऐसे त्याग का फल रूप राज्य की प्राप्ति हुई। पूर्व राजा के समान आत्मा है, आत्मा अपने राज्य को खो बैठा है, काम ने उसका राज्य छीन लिया है, शास्त्र रूप बूढ़े के हित साधने के निमित्त आत्मा ने अपना देहाध्यास-देहाभिमान छोड़ देना चाहा। मोहादिक झूंठे पकड़ने वालों को दंड हुआ। काम रूप वर्तमान राजा आत्म काम रूप बना। आत्मा को पूर्ववत् आत्म राज्य प्राप्त हुआ।

जिसका जय करना कठिन है, ऐसा मनोज काम है। कामके कारण से ही जो स्वयं शिव रूप है, वह जीव भाव को प्राप्त होता है। चौरासी लाख योनियों में भटकाने वाला काम है, काम की प्रवलता से इन्द्र ने गौतम की स्त्री अहिल्या में गमन किया,

चन्द्र गुरु पत्नी गमन से कलंकित हुआ। बहुत से ऋषि मुनियों को भी काम ने चलित किया है तो सामान्य मनुष्य का उसके सामने सामर्थ्य ही क्या है। भगवद्‌गीता में काम के लिये कहा है:—काम महा शत्रु है इसलिये हे भरत कुल श्रेष्ठ, अर्जुन! इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश करके ज्ञान और विज्ञान के नाश करने वाले काम को मार! अन्य किसी के मारने से हिंसा होती है परन्तु काम को मारने से महा पुण्य होता है! जितना पुण्य काम के मारने से होता है उतना पुण्य अन्य किसी कार्य से नहीं होता। जैसे कोई एक तमाशा करने वाला बाघ को पकड़ कर वश कर लेता है, घर घर घुमाता है, नचाता है और भीख मंगवाता है, यदि कहे अनुसार बाघ काम न करे तो मार भी खाता है। वास्तविक देखा जाय तो बाघ बड़े बड़े हाथियों को भी मारने में समर्थ है, उसका यह सामर्थ्य अब भी कहीं चला नहीं गया है परन्तु मनुष्य के वश हो जाने से व्यर्थ है। इसी प्रकार जीव भी काम के वश होकर अनेक नाच नाचता है। आशा के आधीन होकर पराक्रम और स्वरूप को भूल जाता है, वास्तविक तो जीव निर्विकार शिव स्वरूप है। बड़ी बड़ी बातें मारनेवाले बहुत हैं परन्तु अनर्थरूप कामको जीतनेवाले जगत् में बहुत कम हैं। काम की ऊर्मी हृदय में उठने न पावे, यह कठिन है। कामजीत महा पुण्य, शुभ संस्कार और ज्ञान से हो सकता है। कामजीत को ही निश्चल बुद्धि वाला समझना चाहिये ॥२८॥

पशोः पशुः को न करोति धर्म,
प्राधीत शास्त्रोऽपि न चात्मबोधः ।
किं तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री,
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः ॥२६॥

अर्थः—पशु से भी विशेष पशु कौन है ? उत्तरः—जो धर्म नहीं करता और शास्त्र पढ़कर भी जिसको अपने स्वरूप—आत्मा का बोध नहीं है । प्रश्नः—जो अमृत के समान मालूम होता है ऐसा विष क्या है ? उत्तरः—स्त्री । प्रश्नः—मित्र के समान दीखते हुए भी शत्रु कौन हैं ? उत्तरः—पुत्रादि सम्बन्धी ।

छप्पय ।

पशु से भी पशु कौन ? धर्म जिसने नहिं कीन्हा ।
पढ़े बहुत से शास्त्र, रूप अपना नहिं चीन्हा ॥
दीखत सुधा समान, कौन विष सम वध करती ।
नारी सुधा दिखाय, किंतु प्राणन को हरती ॥
दीखत मित्र समान, जो हैं पूरण शत्रु कवन ।
शत्रु मित्र के भेष में, पुत्रादिक परिवार जन ॥२६॥

विवेचन ।

जो मनुष्य होकर शास्त्राज्ञानुसार करने योग्य कर्म नहीं करता वह पशु है । नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित इस

प्रकार धर्म-कर्म के चार भेद हैं। शौच, स्नान, संध्योपासन, अग्निहोत्र और विश्वदेवादिक नित्य कर्म हैं। जो देश, काल आदि निमित्त से किये जाते हैं ऐसे स्नान, दान, श्राद्ध और जप आदिक नैमित्तिक कर्म हैं। देश कुरुक्षेत्र, प्रयागादि हैं, उनमें व्यतिपात, संक्रांति और ग्रहण आदिक में ऐहिक भोग के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं वे काम्य कर्म हैं। कृच्छ्र चान्द्रायण आदिक जो पाप निवृत्ति के लिये किये जाते हैं, वे प्रायश्चित्त कर्म हैं। मुमुक्षुओं को काम्य कर्म का त्याग करना चाहिये, अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मोक्ष के हेतु रूप ज्ञान की उत्पत्ति के लिये निष्काम कर्म करना उचित है, वे भी शुद्धि होने तक ही करने चाहिये। जो जिस आश्रम में हो उसे उस आश्रम के धर्म का अवश्य पालन करना चाहिये, सत्य, दया, तप, पवित्रता, सहन-शीलता, योग्यायोग्य का विचार, मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, यथोचित जप, सरलता, संतोष, धीरे धीरे प्रवृत्ति के कर्मों से निवृत्ति, जिन क्रियाओं से मनुष्य जन्म निरर्थक जाता है उनका विचार, वृथा भाषण का त्याग रूप मौन, देहादिक से आत्मा भिन्न है इसका अनुसंधान, अपने अन्न आदिक में से अन्य प्राणियों का विभाग, सब प्राणियों में अपने आत्मा के समान आत्मा जानना, ईश्वर का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमस्कार, दास भाव और आत्म समर्पण इत्यादि धर्म सब मनुष्यों के लिये साधारण हैं, उनके आचरण से ईश्वर की प्रसन्नता—अन्तःकरण की शुद्धि होती है। इस प्रकार सतोगुणी बुद्धि से ज्ञान फल युक्त धर्म को जो नहीं करता, वह पशु ही है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन

ये चारों मनुष्यों और पशुओं में सामान्य हैं, जिसमें ऊपर दिखलाये हुए धर्म की अधिकता है, वह मनुष्य है, जो धर्महीन है वह पशु के समान है।

जितने शास्त्र पढ़े हों, जो व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि षट् शास्त्र जानता हो, परन्तु ब्रह्म विद्या से शून्य हो, जिसे अपने आपकी खबर न हो वह पशु है। जो वेद पढ़ा हो, वेदपाठी हो परन्तु बोध रहित हो तो वह चिग्राढोर (पशु) कहलाता है। लौकिक विद्या विद्या नहीं है क्योंकि इससे मनुष्य जन्म सार्थक नहीं होता। जिन कर्मों से मनुष्य जन्म सार्थक न हो; जो कर्म ज्ञान प्राप्ति के काम में आने वाले न हों, ऐसे कर्म धर्म नहीं कहलाते, अधर्म ही हैं। आश्रम के अनुसार मनुष्यों के जो नाना प्रकारके कर्म हैं वे भी ज्ञानमें मददरूप होनेसे आचरण करनेयोग्य हैं, उनको जो नहीं करता वह पशु से भी निकृष्ट है। पशु में स्वरूप के बोध होने योग्य बुद्धि नहीं होती, मनुष्य की बुद्धि स्वरूप के बोध करने योग्य होती है, फिर भी यदि मनुष्य उसका सदुपयोग न करे तो पशु से भी निकृष्ट है। निकृष्ट इसलिये है कि पशु तो अपने भोग समाप्त करके मनुष्य योनि में आने वाला है और यह मनुष्य पशु योनि में जाने के योग्य कर्म कर रहा है। मनुष्य कितनी भी लौकिक बुद्धि वाला हो जब तक वह व्यवहार का आचरण करता है तब तक पशु के समान है। व्यवहार कुशल मनुष्य समझता है कि मैं यज्ञ करता हूँ, मैं महान् पुण्य वाला हूँ, मेरे सन्मुख कोई देख नहीं सकता, मेरा सामना-बराबरी कोई नहीं कर सकता, ऐसा उसका समझना व्यर्थ है क्योंकि कोई कोई

पहाड़ी कुत्ता भी इसी प्रकार सबके सामने घुड़कता है, उसके सामने भी कोई नहीं देख सकता। कोई कहे कि मैं कितना चतुर हूँ कि मेरा प्रपंच किसी की कल्पना में नहीं आता, अन्य की स्त्री, जमीन, द्रव्य आदिक मैं ले लेता हूँ, ऐसा बुद्धि वाला होने से मैं मनुष्य हूँ तो यह झूंठ है, वह मनुष्यत्व के योग्य नहीं है क्योंकि कुत्ता भी अन्य कुत्ते के मुख में से रोटी का टुकड़ा छीन लेता है। कोई ऐसा जाने कि मैंने अपनी बिरादरी को बहुत बार भोजन जिमाया है इसलिये मैं मनुष्य हूँ तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अपनी बिरादरी को तो पशु भी एकत्र करके आनन्द करते हैं। किसी एक कौवे अथवा गीध को किसी मुरदे का पता लग जाय तो सब बिरादरी को बुला कर भोजन कराता है। कोई कहे कि मैं महा विद्या वाला हूँ, हुनर वाला हूँ, इसलिये मनुष्य हूं तो यह गुण भी मनुष्य का नहीं है। कितने छोटे छोटे जीव इतनी कारीगरी से अपना मकान बनाते हैं जैसा मनुष्य नहीं बना सकता। रेशम का कीड़ा कितनी चतुराई से रेशम बनाता है, मकड़ी किस प्रकार अपने जाल को फैलाती है, बया अपना घोंसला कितनी कारीगरी से बनाता है! मधु मक्खी अपने मधुपुवे को किस प्रकार बनाती है! ऐसे अनेक दृष्टांत हैं। कोई कहे कि मैं उत्तम गाने वाला हूँ, इसलिये मनुष्य हूँ तो यह बात भी नहीं है क्योंकि बहुत से पक्षी मधुर स्वर से गाने वाले हैं, इनमें मैना और कोयल प्रसिद्ध हैं। कोई कहे कि मैं अत्यन्त स्वरूप वाला हूं इसलिये मनुष्य हूं तो वह भी झूंठा है क्योंकि मोर आदि कई पक्षी भी मन को हरण करें ऐसे स्वरूप वाले

है। कोई कहे कि मैं पहलवान हूं इसलिये मनुष्य हूं तो यह भी नहीं हो सकता क्योंकि घोड़े, गधे, भैंस भी मोटे, ताजे होते हैं। कोई धनाढ्य मनुष्य भव्य सुन्दर मकान बनवा कर, उसको कीमती फरनिचर पलंग, झाड़ आदिक से सजा कर चांदी सोने अथवा रत्न जड़ित पलंग पर मखमल के मुलायम गद्देले पर रेशमी चादर बिछा कर सोता है और समझता है कि मैं मनुष्य हूं क्योंकि मनुष्य के पूर्ण सुख को भोग रहा हूं। इसका समझना भी ठीक नहीं है क्योंकि पक्षी भी अपने घोंसले को मखमल से भी विशेष मुलायम बना कर आनन्द करते हैं। जैसे ये मनुष्य नहीं हो सकते इसी प्रकार यह भी मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं है। भोग में तो पशुओं से मनुष्यों की किसी प्रकार की विशेषता नहीं है। सब को आनन्द एक ही प्रकार का है। यदि लाखों अथवा करोड़ों रुपये की प्राप्ति अधर्म से होती हो तो भी अधर्माचरण न करे, श्रुति स्मृति अनुसार वर्णाश्रम कर्म करते हुए धर्म से जो प्राप्त हो उसे ही ग्रहण करे, धर्माचरण का वर्ताव करते हुए आत्म अनात्म का विवेक करे, जब विवेक हो जाय—ज्ञानी हो जाय तब ही मनुष्य कहलाता है क्योंकि मनुष्यत्व का सार्थक उसने ही किया है। एक यह ही मनुष्य है, अन्य सब पशु हैं। वाद विवाद में कुशलता, यह भी मनुष्यत्व का चिन्ह नहीं है, वाद विवाद में आयुष्य समाप्त करना पशुत्व है क्योंकि कौवा भी शाम को वृक्ष पर बैठ कर बहुत कांव कांव करता है। स्वरूप के बिना शास्त्र हितकर नहीं होता। गरदन में कीड़े पड़े हुए कुत्ता जैसे एक घर से दूसरे घर भटकता फिरता है इसी प्रकार वरुणी

और ग्रह दशा को देखना ग्यारहवें की क्रिया कराना, शैया दान लेना है। जैसे कुत्ता जहां टुकड़ा मिलता है, वहीं पहुँच जाता है, खुशामद करता है इसी प्रकार यदि शास्त्र पढ़ कर भी कुत्ते की सी वृत्ति न गई तो मनुष्यत्व को धिक्कार है। अयोग्य को अन्न दाता, भाई साहब, लालाजी, सेठ साहब कहना न छूटा तो ऐसा शास्त्र पढ़ना किस कर्म का! शास्त्र देखकर विवेक न हुआ, नम्रता न आई, दीनता न गई, स्वरूप का बोध न हुआ, शान्ति न प्राप्त हुई, तो समझना चाहिये कि यह महा पशु है।

पशु में मनुष्य के समान बुद्धि नहीं है और वह शास्त्र से भी रहित है इसलिये पशु ही है और मनुष्य बुद्धि और शास्त्र बोध होते हुए भी पशु के समान आचरण करने वाला होने से महा पशु है। आत्मबोध बिना शास्त्र का कथन कौवे के कठोर वचनों के समान है। जो ब्रह्म ज्ञान की बातें करने में कुशल हो और जिसकी वृत्ति तृण मात्र भी ब्रह्माकार न होती हो और जो विषयों में प्रीति वाला हो, वह महा अज्ञानी है। संसार में उसका जन्म बारम्बार हुआ करता है। मतलब यह है कि ब्रह्माकार वृत्ति बिना बातें मात्र करने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जैसे गधा चन्दन का बोझा उठाता है, उसे यह खबर नहीं है कि मेरी पीठ पर क्या लदा हुआ है और यह भी नहीं जानता कि चन्दन खुशबू देने वाला है इसी प्रकार जो शास्त्र को पढ़ कर भी उसके यथार्थ अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकता उसे गधे के समान शास्त्र का बोझा लादने वाला ही समझना

चाहिये। एक बार वृषकेतु राजा ने गौतम ऋषि के पुत्र से कहा "तुम क्या पढ़े हो ? तब ऋषि पुत्र ने कहा "मैं वेद पुराण और सब शास्त्र पढ़ा हूँ !" तब राजा ने कहा "यह सब पढ़ना ब्रह्म विद्या बिना उपाधि रूप है, ज्ञान बिना यह सब बोझा ही है !" तोते के समान शास्त्रोच्चार से फल नहीं होता। जैसे कोई धनवान् होते हुए भी जूता न पहिने तो उसे दरिद्रियों का राजा समझना चाहिये क्योंकि दरिद्री द्रव्य न होने से जूता न पहिन सके तो उचित ही है परन्तु द्रव्य होते हुए जूता न पहिनना मूर्खता है। इसी प्रकार शास्त्र पढ़ कर भी जो तत्त्व ज्ञान रहित है, वह मूर्ख है। जिसने भली प्रकार जीव पद शोधा हो, जिसको कर्तव्य शेष नहीं रहा हो, जो ईश्वर तत्त्व को भी भली प्रकार जानता हो, जो ईश्वर कृत्य में लुब्ध न होता हो और ब्रह्मसूत्र—शारीरिक भाष्य आदि सुन कर, वैराग्य को प्राप्त होकर पंचीकरण से पिंड का भली प्रकार शोधन कर चुका हो, पंचकोश को क्रम से भिन्न करके साक्षी स्वरूप कूटस्थ—ब्रह्म पद में विराम को प्राप्त हुआ हो वह ही तत्त्व ज्ञानी कहलाता है। ऐसा तत्त्व ज्ञानी ईश्वर के समान है, विवेक ज्ञानी, मुमुक्षु मनुष्य हैं और अन्य प्रकार के लौकिक ज्ञान वाले पशु ही हैं।

स्त्री के वचनों में मिठास होती है, हाव भाव होता है, मनुष्य उसके प्रीतिकर वचनों में लुब्ध हो जाता है। स्त्री का स्वरूप बहुत सुन्दर दीखता है इसलिये विषय वासना वाले को स्त्री अमृत के समान दीखती है परन्तु स्त्री में लुब्ध होने का परिणाम वह ही होता है जो विष का होता है। इसीलिये कहा है कि ऊपर

से अमृत के समान दीखती हुई भी स्त्री विष रूप है। स्त्री का मोह जन्म का हेतु होता है। जिसको स्त्री में स्त्री भाव की विशेष भावना होती है उसको स्त्री के गर्भ में जन्म लेना होता है। जो स्त्री भाव से वच सकता है वह संसार के वन्धनों से वचने के लिये समर्थ होता है क्योंकि स्त्री प्रत्यक्ष मोहनी—माया स्वरूप है। जो माया से निवृत्त होना चाहे उसको चाहिये कि स्त्री को विष समझ कर उसका त्याग करे। परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष के मार्ग में पहाड़ के समान रोक करने वाली स्त्री के सिवाय अन्य कोई नहीं है। जैसे सर्पिनीके शरीरका स्पर्श ऊपरसे वहुत मुलायम, आनन्द दायक मालूम होता है परन्तु सर्पिनी विष वाली ही है इसी प्रकार स्त्री का मोह अमृत समान दीखता हुआ भी विष रूप है। महापुण्य और पूर्ण प्रयत्न विना स्त्री रूप विष को विष नहीं समझा जाता।

दक्षिण केसरी शिवाजी का पुत्र संभाजी शूरवीर था परन्तु अत्याचारी और क्रूर था। शिवाजी के मृत्यु के वाद संभाजी गद्दी पर बैठा। वह तुलसी नाम की एक वेश्या के मोह में फंस गया था। बाह्य सौन्दर्य मंडित तुलसी ने संभाजी को अपना गुलाम बना लिया था, उसे राज्य कार्य अथवा अन्य किसी कार्य का भान न था। तुलसी के समागम सिवाय अन्य कार्य में उसका समय क्षण भर भी नहीं जाता था। संभाजी का तुलसी पर पूर्ण प्रेम होते हुए भी तुलसी का प्रेम ऊपर ऊपर का ही था, इतना ही नहीं परन्तु इस सर्पिनी के दिल में संभाजी को मरवा डालने का विचार बहुत दिनों से था इसलिये दिल्लीपति औरंगजेब के

साथ उसका गुप्त संदेशा चला करता था। संभाजी ने पूर्व के सब विश्वस्त नौकरों को निकाल दिया था, सब नये रक्खे थे। ज्योत्याजी नाम का एक स्वामीनिष्ठ सेवक संभाजी के पास था। वह संभाजी का अंग रक्षक होकर रहता था इसलिये संभाजी अभी तक रक्षित था। तुलसी ने देखा कि ज्योत्याजी मेरे कार्य में विघ्न रूप है तब तुलसी ने एक झूंठा कागज लिख कर तैयार किया और यह कागज ज्योत्याजी की माता की तरफ से आया हो, ऐसे भाव से लिखा गया था। जब संभाजी तरुणी तुलसी के साथ मदिरा पान करके उन्मत्त हो रहा था तब तुलसी ने कागज निकाल कर संभाजी के सामने रख दिया और कहा "मेरे परम प्यारे! सौभाग्य के हेतु! इस चिट्ठी में क्या लिखा है? पढ़िये! ज्योत्याजी को छुट्टी क्यों नहीं देते? उसकी माता बहुत बीमार है! मेरा ऐसा अभिप्राय है कि आप उसको उसकी माता के पास जाने की रजा दे दें, न करे नारायण! बुढ़िया का स्वर्गवास हो जायगा तो अपने पुत्र के देखने की आशा उसके मन में रह जायगी! इससे उसकी अवगति होना भी संभव है!" संभाजी बोला "मेरा परम हितैषी, संपूर्ण विश्वास योग्य सेवक एक ज्यो-त्याजी ही है, वह मेरी छाया के समान मेरे साथ ही रहता है, यदि वह चला जायगा तो एक निष्ठा से मेरी सेवा कौन करेगा? इससे तो स्याना भेज कर उसकी माता को यहां बुलवा लेना अच्छा है!" तुलसी बाजी बिगड़ती हुई देख कर दन दनाती हुई बोली "क्या मुये की प्रतिष्ठा! जाने बड़ा महाराजाधिराज होय ना! मुआ ज्योत्या तीन रुपिल्ली का

चिलम भरने वाला चाकर ! उसकी बुढ़िया को म्याना भेज कर बुलवाना हाथी भेज कर बुला ली जाय तो कैसा ? मैं आपको उसके समान क्या, उससे भी बढ़ कर अपनी जान नौछावर करके सेवा करने वाले एक दो नहीं पांचसौ साठ मनुष्य ला दे सकती हूँ !" ऐसा कहकर उसी समय तुलसी उठ गई। ज्योत्याजी संभाजी के किसी काम के निमित्त बाहर गया हुआ था वह आकर नमन करके खड़ा रहा तब संभाजी ने कहा "ज्योत्याजी ! तेरे ग्राम से तेरी माता का यह पत्र आया है, तेरी माता बीमार है इसलिये तुझे बुलाया है मैं तुझे वहां जाने को आठ दिन की छुट्टी देता हूँ।" इतने में दूर बैठी हुई तुलसी बोल उठी:—"ज्योत्याजी ! यह छुट्टी जो तुझे मिली है, इसमें मेरा ही उपकार मानना चाहिये क्योंकि मैंने जब राजा को समझाया है तब ही तुझे छुट्टी मिली है !" इस प्रकार दोनों के वचन सुन कर ज्योत्याजी को बड़ा आश्चर्य हुआ ! कहने लगा 'महाराजाधिराज ! जब आपकी यह ही आज्ञा है तो मुझको अवश्य ही जाना चाहिये परन्तु अन्नदाता ! मुझे इसमें कुछ भेद मालूम होता है, इसलिये मेरा कहना है कि मेरे आने तक आप बहुत हुशियारी से रहें तो अच्छा है !"

ज्योत्याजी के जाते ही तुलसी ने संभाजी से अपने साथ हवा खाने को संगमेश्वरकी तरफ जाने की प्रार्थना की। संभाजी तैयार हुआ और दूसरे दिन संगमेश्वर की तरफ गया। यह स्थान रमणीक था। बहुत करके रायगढ़ के राजा लोग आनन्द उपभोग के लिये यहां आया करते थे। चार पांच दिन के बाद जब संभाजी

मदिरा पी, उन्मत्त होकर पड़ा था तब कितने ही मुगल घुड़सवार सैनिक आ पहुँचे और संभाजी को कैद करके म्याने में बैठा कर अपने सरदार की आज्ञानुसार तुलसीपुर के मार्ग में लेकर चलने लगे। कुलटा तुलसी ने विश्वासघात कर संभाजी को पकड़ ले जाने के लिये मुगल सैन्य को बुलाया था। सद्भाग्य से ज्योत्याजी अकस्मात् अपने ग्राम से इस मार्ग से लौटकर आ रहा था। मार्ग में एक पहिचान वाला मनुष्य मिला। ज्योत्याजी ने उससे कहा "क्या अपने महाराज संभाजी क्षेम कुशल से हैं?" तब उसने कहा "अरे रे! क्या कहूँ। कपट वेष धारिणी वारांगना तुलसी ने महाराज को अपने कृत्रिम प्रेम पाश में फंसा कर मुगलों के हाथ में दे दिया है। मुगल महाराज को म्याने में बैठा कर तुलसीपुर की तरफ ले जारहे हैं! थोड़े मार्ग चलते ही तुमको मार्ग में मिल जांयगे!" यह सुनते ही ज्योत्याजी का मस्तक घूमने लगा! वैर का अग्नि उसके हृदय में प्रज्वलित हो आया, जल्दी से आगे बढ़ा। थोड़ी दूर चलकर उसने कितने ही घुड़सवारों को म्याने को चारों तरफ से घेरे हुए चलते देखा। तुरन्त ही नरशार्दूल ने सिंहनाद करके कहा "रे मर्द के बच्चो! खबरदार! जो आगे पैर धरा तो! जो सच्चे जवांमर्द हो तो यहां ही खड़े रहो! दुष्टो! यदि मेरे अन्नदाता को न छोड़ो तो चक्खो इस तलवार के स्वाद को!" ऐसा कहकर शूरवीर मुगलों पर टूट पड़ा! क्षण मात्र में ही उसने अपनी तलवार से आठ सैनिकों को यमराज के धाम पहुँचा दिया, ऐसा देखकर म्याने को एक तरफ रखकर सब सैनिक एक साथ ज्योत्याजी पर टूट पड़े। मर्म स्थान पर चोट लगने से ज्योत्याजी

जमीन पर गिर गया और पुकार कर कहने लगा "हे महाराजाधिराज मेरे अन्नदाता ! अब आपका सेवक आपसे हमेशा के लिये आज्ञा लेता है, मैंने आज तक निष्ठा से आपकी सेवा की है ! परन्तु आज मुझे विजय प्राप्त न हुई ! मेरे अन्त समय में आप मुझे दर्शन दें, यह ही मेरी प्रार्थना है !" संभाजी म्याने में से निकल कर बाहर आया, ज्योत्याजी को घायल देखकर उसे अपनी स्थिति का भान हुआ ! तब उसने कहा "ज्योत्याजी धन्य है तुझे ! तेरी स्वामी निष्ठा और वीरता को ! तूने मेरी एक निष्ठा से सेवा करके आर्यवर्तमें अपने नामको अमर किया है ! मेरे हित के लिये तूने अपने प्राणका बलिदान दिया है। तेरा उपदेश हमेशा चालू होने पर भी मैंने ग्रहण नहीं किया ! मैं दुर्भागी हूं ! तू मुझ अविचारीका लात प्रहार भी अनेक वार सहनकर चुका है ! यदि मैंने तुझे अपने से दूर जाने की आज्ञा न दी होती तो आज यह अनिष्ट प्रसंग न आता !"

संभाजी इतना कह ही चुका था कि मुगल सैनिकों ने आकर उसे जबरन म्याने में बैठा दिया। ज्योत्याजी यह करुणोत्पादक घटना देखता हुआ अश्रु पूर्ण नेत्रों से अपनी सुकृत का फल भोगने के लिये स्वर्ग को चल दिया । कितने दिन बाद औरंगजेब की आज्ञा से संभाजी का वध निर्दयता से किया गया। आहा ! स्त्री ! तेरे चरित्र जानने को कौन समर्थ है ! सत्य कहा है:—स्त्री के चरित्र और पुरुष के भाग्य को दैव भी नहीं जान सकता तो मनुष्य किस प्रकार जान सके ! कोमलांगी, कोमल हृदय वाली इत्यादि विशेषणों को धारण करने वाली तेरे समान क्रूरता और

निर्दयता को धारण करने वाला अन्य कोई प्राणी नहीं है। जब तू दुराचर में प्रवृत्त होती है तब विश्व विनाशिनी भयानक राक्षसी है।

स्त्री, पुत्र, पौत्रादिक सब कुटुम्बी ऊपर से हितकर दीखते हैं परंतु विचार कर देखा जाय तो वही पूरे शत्रु हैं। स्त्री का मधुर भाषण, बालक की तोतली वाणी प्रिय लगती है। कुटुम्ब में बैठा हुआ मनुष्य अपने को भाग्यशाली समझता है परंतु ये सब जितना दुःख देते हैं उतना दूसरा नहीं देता। दुश्मन को दुश्मन समझते हैं इसलिये जहां तक हो सके वहां तक उससे बचते रहने का प्रयत्न करते हैं परंतु घर में रहे हुए दुश्मन दुश्मन नहीं दीखते हितकर भासते हैं, वेही दुःख देते हैं, उनका दुःख दुश्मनों से भी विशेष होता है इसीलिये कहा है कि मित्र के समान दीखते हुए पुत्रादिक संबंधी शत्रु हैं। सब कुटुम्बी स्वार्थी हैं। जब तक उनके स्वार्थ की सिद्धि होती रहती है तब तक वे स्वार्थ साधते रहते हैं और जब उनके स्वार्थ में बाधा पड़ती है तब कुत्ते के समान घुरांते हैं, जोंक के समान रक्त को चूसते हैं, रात दिन चिंता के सागर में डुबाये रखते हैं। कुटुम्ब का जाल सब जालों से महा कठिन है। कोई महा पराक्रमी ही उस जाल को काट कर मुक्त होता है! कुटुम्बी धन को हरण करने वाले हैं, जितना अपना समझा है, सब में से हिस्सा बटवाने वाले हैं। जब कोई कमाई नहीं कर सकता अथवा निर्धन हो जाता है तब

जो कुटुम्बी उसकी वाह वाह करते थे, अपना प्यारा समझते थे वेही अब गाली प्रदान करते हैं। स्त्री तो पुरुष के तन मन और धन तीनों को हरण करने वाली है। जब पुरुष में उसे किसी प्रकार की न्यूनता दीखती है तब राक्षसी के समान गर्जती है। स्त्री का जो कुछ प्रेम पुरुष में दीखता है, वह अच्छे अच्छे भोजन अच्छे अच्छे वस्त्र, गहने और विलास के लिये होता है। इनमें न्यूनता हो तो वह पुरुष को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। स्त्री और पुत्रादि को देख कर पुरुष को आनन्द प्राप्त होता है, उनकी उपाधि में वह धर्म कर्म को भूल जाता है, ईश्वर भजन उससे नहीं होता। कुटुम्ब का प्रेम ईश्वर भजन में बाधक होता है। बाल बच्चों के पोषण में रात्रि दिन एक करना पड़ता है, जिस निमित्त मनुष्य जन्म धारण किया है, उसको भूल जाता है, अपना श्रेय कल्याण नहीं कर सकता, पोषण की चिंता, दूसरे को देख कर ऐश्वर्य के लोभ और कुटुम्बियों को सुख देने के भाव से मनुष्य अधर्म से भी धन प्राप्त करता है। लड़कों को पढ़ाना लिखाना, विवाह करना, बीमारी आदिक में दवा परहेज और संभालना, इस प्रकार का झगड़ा दिन पर दिन बढ़ता जाता है। जिस लड़के को प्राण समान प्रिय समझ कर पोषण करता था, वह ही लड़का स्त्री के आते ही स्त्री का हो जाता है और माता पिता को धक्के लगाता है, स्त्री सहित आनन्द में रहना चाहता है और माता पिता भूखे हैं या प्यासे, इसकी परवाह नहीं करता। पुत्र के विवाह के लिये इज्जत के अनुसार यदि धन पास न हो तो पिता कर्ज लेकर विवाह करता है। लड़का अलग हो जाता

है, पिता को रात्रि दिन मेहनत करके कर्जा चुकाना पड़ता है। जिसको धन की आपत्ति नहीं होती उसको अन्य अन्य प्रकार की आपत्तियां हुआ करती हैं। मनुष्य समझता है कि विशेष कुटुम्ब से मैं सुखी होता हूं परन्तु विशेष दुखी ही होता है, कभी कभी पुत्रादिक मूर्ख रह जाते हैं, दुराचारी हो जाते हैं तब पिता को रात्रि दिन चिंता में जलना पड़ता है, बीच में ही मर गया तो दुःख होता है, उसकी स्त्री का पोषण रक्षण करना कठिन हो जाता है। जिसको कुटुम्ब पर अधिक प्रेम होता है, वह इस पृथ्वी पर ही नरक का अनुभव करता है, मरने के बाद भी उसकी उच्च गति नहीं होती, अधोगति ही होती है। आश्चर्य यह है कि सब दुनियां का इस प्रकार का व्यवहार देखते हुए भी मनुष्य कुटुम्ब की आसक्ति को छोड़ नहीं सकता! सूर्य वंशी महाराज सगर के साठ हजार पुत्र थे, उनसे उसको कौनसा सुख हुआ? सुख के बदले दुःख ही प्राप्त हुआ! स्त्री आज्ञानुसारिनी, पुत्र आज्ञाकारी और सेवक स्वामीनिष्ठ ये सब संयोग प्राप्त नहीं होते। कुटुम्बी जीते-ही चिंता में जलाते हैं, विशेष करके मामले मुकद्दमे कुटुम्बियों से ही होते हैं। मरने के बाद भी वे ही सब जलाते हैं। शत्रु कुटुम्बियों से इस प्रकार का हित होता है!

एक जिमींदार की बहुत सी खेती थी खेत की हद में उसका भाइयों से टंटा हुआ, आपस में मार पीट हुई। एक भाई ने दूसरे भाई को मार डाला। मारने वाला बहुत सा रुपया खर्च करके फांसी से छूटा। जिमींदार की इस पुत्र से बनती नहीं थी, पुत्र ने बापको भी मार डाला और सब जमीनका मालिक आप बन बैठा।

उसकी स्त्री का किसी दूसरे से अनुचित सम्बन्ध था, स्त्री के उपपति ने जिमीदार के लड़के को मार डाला। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में सब कुटुम्ब का नाश हो गया।

किसी का भाई से वैर होता है, कहीं कहीं पिता पुत्र में जूता चलता है, कहीं चचा भतीजे में मार पीट होती है, कहीं पति पत्नी में कलह होता है, किसी को पुत्र पुत्री की चिन्ता लगी रहती है, इस प्रकार कुटुम्ब प्रत्येक क्षण दुःख दायक है। जो कुटुम्ब को या कुटुम्ब के भाव को त्याग देता है, वह ही ईश्वर का भजन कर सकता है। कुटुम्ब के भाव में लिप्त होकर किसी से ईश्वर का भजन होना आज तक सुनने में नहीं आया। जैसे कुत्ता कुत्ते का वैरी होता है इसी प्रकार मनुष्य के वैरी कुटुम्बी ही हैं, कुटुम्ब सिवाय अन्य कोई वैरी नहीं है। विशेप करके कुटुम्बी ही वैरी होते हैं इसलिये जो कोई कुटुम्ब के मोह को छोड़ देता है वह ही ईश्वर के मार्ग में चल सकता है ॥२९॥

विद्युच्चलं किं धन यौवनायु-
र्दानं परं किं च सुपात्र दत्तम् ।
कंठेगतैरप्यसुभिर्न कार्यं,
किंवा विधेयं मलिनं शिवार्चा ॥३०॥

अर्थः—प्रश्नः—बिजली के समान अत्यन्त चंचल क्या है? उत्तरः-धन, यौवन और आयुष्य। प्रश्नः-उत्तम दान क्या है? उत्तरः-जो सुपात्र को दिया जाय। प्रश्नः-कंठ में प्राण आने पर

भी क्या न करना चाहिये ? उत्तर:-पाप कर्म । प्रश्न:-कंठ में प्राण आजाय तब क्या करना चाहिये ? उत्तर:-शिव पूजन ।

छप्पय ।

बिजली सम चल कौन, एक चण भर नहिं डटते ।
धन, यौवन, आयुष्य, प्रति चण सदा पलटते ॥
श्रेष्ठ कौनसा दान, दान दाता सुख दाता ।
दे सुपात्र को दान, दान उत्तम कहलाता ॥
क्या न करे जब तक मरे, पाप कर्म नहिं कीजिये ।
क्या करना प्राणांत तक, शिव अर्चन मन दीजिये ॥३०॥

विवेचन ।

सबमें बिजली अत्यन्त चंचल—चलित है इसलिये जब चलित की उपमा देनी होती है तो बिजली के समान कहा जाता है, इसीलिये पूछा है कि बिजली के समान चण में बदलने वाले क्या हैं। उसके उत्तर में धन, यौवन और आयुष्य को अत्यन्त चंचल बताया है। जगत् में प्रत्येक पदार्थ बदलने वाला है, स्थिर कोई नहीं है, जो उत्पन्न होता है, अवश्य विकार को प्राप्त होता है-नाश होता है। मनुष्य को तीन पदार्थ बहुत प्रिय हैं; प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं हमेशा बना रहूँ परन्तु वह हमेशा बना नहीं रहता। धन-लक्ष्मी को सब चाहते हैं परन्तु लक्ष्मी चंचल है, कभी स्थिर नहीं रहती ! जगत् भर में घूमती रहती है, कभी

किसी के पास तो कभी किसी के पास जाती है। जगत् का सब व्यवहार धन से चलता है, मनुष्य ऐसे विश्वास में रहता है कि यह धन मेरा है, मुझे छोड़ कर कहीं चला न जाय, दूसरे का उसमें क्या अधिकार है? इस प्रकार विश्वास करने वाले धोखा खाते हैं। जैसे बिजली की चमक प्यारी लगती है, यदि कोई चाहे कि यह चमक ऐसी ही बनी रहे तो वह बनी नहीं रहती इसी प्रकार धन का हाल है। वह हमेशा चलित रहता है, इतना ही नहीं परन्तु अन्य को भी चलित कर देता है। लक्ष्मी और वेश्या एक ही समान हैं। वेश्या कितना भी प्रेम दिखलावे, प्रसन्न हो, किसी की होती नहीं इसी प्रकार लक्ष्मी को सब मेरी मेरी कह कह कर मर जाते हैं, वह किसी की नहीं होती-किसी के साथ नहीं जाती। जगत् का धन जगत् में ही रह जाता है, उसके ऊपर आस्था करना मूर्खता है। जिनके घर पर हजारों मनुष्य प्रभात में स्तुति करने जाते थे, मंगते और अभ्यागत आते रहते थे, जिनके यहां हज़ारों दास, दासी, नौकर, गुमाश्ते, बाग, बगीचे थे और राजमन्दिर के समान जिनका मकान था, जहां मद झरते हुए हाथी झूमते रहते थे, घोड़े हिन हिनाहट कर रहे थे, जिनका खज़ाना भरपूर था, ऐसे महा समर्थ श्रीमान् राजा और महाराजा भी भीख मांगते देखे गये हैं-कंगाल हो गये हैं। आज और कल में ही महान् अंतर होजाता है, जो आज श्रीमान् है, कल ही कंगाल होजाता है। इस प्रकार धन, ऐश्वर्य प्रति क्षण बदलता रहता है। जिन्होंने पृथ्वी पर पैर नहीं रक्खा था, जिनके नौकर खमा खमा किया करते थे, वे आज नंगे पैरों कंटकों में घूमते

फिरते हैं। यौवन का भी यह ही हाल है। युवावस्था में सब इन्द्रियां पूर्ण विकसित होती हैं—बलिष्ट होती हैं, शरीर सुन्दर और सामर्थ्य वाला होता है और अनेक प्रकार के भोग भोगने की शक्ति होती है। हाय! यह सुख देने वाली युवावस्था दिन पर दिन क्षीण होती जाती है। जिनकी मूँछ का डोरा भी फूटा नहीं है, ऐसे बूढ़े हुए देखने में आये हैं। शरीर की सौन्दर्यता का नाश हुआ, हड्डियां कड़ी हो गई, शरीर की शक्ति जाती रही, बाल श्वेत हो गये, सब शरीर में झुर्रियां पड़ गई, कमर कमान हो गई, नेत्रों की दृष्टि मंद पड़ गई, दांत गिर पडे और मुख की शोभा बिगड़ गई। हाय! जवानी चली गई! ऐसी दुःख रूप जरावस्था की मरण में बदली होगी! दिन प्रति दिन आयु क्षीण होता चला जाता है! मनुष्य समझते हैं कि हम बडे होते जाते हैं, बुद्धि में बढ़ते जाते हैं परन्तु आयु में घटते जाते हैं। अवस्था हमेशा एक समान नहीं रहती, तो भी हाय! अज्ञान! तेरे संग से यह भाव होता है कि युवावस्था हमेशा बनी रहे! जिनसे हजारों मनुष्यों का पोषण होता था, जिनमें जगत् के लोगों का पूज्य भाव था, जिन्होंने दुःख का अनुभव ही नहीं किया था ऐसे सज्जनों को भी श्मशान-चिता में सोया हुआ देखा है। इस प्रकार धन, यौवन और आयु तीनों परिवर्तन शील हैं। जब वे प्राप्त हों तब यह सोचकर कि ये हमेशा न रहेंगे, उनकी सत्ता में जो कुछ शुभ कार्य बन सके वह तुरन्त ही कर लेना चाहिये। जो उन तीनों की चंचलता को समझ लेता है, वह उनका सदुपयोग करता है और जो उनकी

चंचलता से बे खबर रहता है उसे मूर्ख के धन यौवन और आयु तीनों व्यर्थ ही जाते हैं, अंत में दुःख प्राप्त होता है और पश्चात्ताप होता है। कहा भी है:—आयुष्य प्रतिदिन क्षीण होता जाता है, ऐसे ही युवावस्था भी नाश को प्राप्त होती जाती है, ये सब कोई देखते हैं, जो दिन गया सो फिर नहीं आता, काल जगत् का भक्षण करता है, लक्ष्मी जल के तरंग के समान भंग होने वाली है, विद्युत के समान जीवन चपल है इसलिये भविष्य का भरोसा छोड़ कर जो कुछ करना है कर लेना चाहिये, कल करने के कार्य को आज ही कर लेना चाहिये, चलित का कुछ भरोसा नहीं है। मनुष्य जन्म धारण करके समय प्राप्त होने पर भी जो शुभ कर्म अथवा अपना कल्याण नहीं करता, उसके समान मूर्ख, अपना अहित करने वाला कौन होगा? लौकिक अथवा पारमार्थिक कार्य करने के लिये युवावस्था ही पूर्ण सामर्थ्य वाली है। बूढ़े होंगे तब कर लेंगे, ऐसे भरोसे पर रहने वाला पूर्व जन्म के संचित किये हुए धन को जगत् में ला कर लुटा जाता है। समय व्यतीत होने पर प्रयत्न पूर्वक कार्य करने से भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। जो करना हो सो आज ही कर ले।

लोकोक्ति ऐसी है कि देना और मरना बराबर है। जितने लेने को चाहने वाले हैं उतने देने की इच्छा वाले नहीं हैं। विशेष धर्म का हेतु दान है। जिसने दान का मंत्र नहीं सीखा–दान के आचार को धारण न किया उसने अपना अहित ही किया है। जगत् में किसी का कोई है नहीं, सब को छोड़ना पड़ता है बलिष्ठ के सामने इच्छा न होते हुए भी छोड़ना पड़ता है तब सद्विचार

सहित सत्पात्र को दान देना ही अच्छा है। जब कोई बलात्कार से छीन लेता है तब दुःख होता है और भाव सहित सत्पात्र को देने से प्रसन्नता होती है इसलिये परम दान वह ही कहा जाता है, जो सत्पात्र को दिया जाता है। पूर्ण सत्पात्र ब्रह्मनिष्ठ होता है, उसको दिया हुआ दान परम दान है, लौकिक कर्म फल का हेतु रूप दान भी देश, काल और पात्र का विचार करके ही देना चाहिये। जिस दान में देश, काल अथवा पात्र का विचार नहीं होता, श्रद्धा नहीं होती वह दान व्यर्थ है तो भी न देने से अच्छा है। चोर, लुटेरे ले जांय, राज्य दंड भोगना पड़े, अथवा अग्नि में जल जाय, इससे तो किसी को भी हाथ से दिया हुआ अच्छा ही है। गुणों के भेद से दान तीन प्रकार का है, देश, काल पात्र और श्रद्धा सहित होने से बारह प्रकार का है और स्थूल, सूक्ष्म आदि पदार्थों के भेद से अनन्त प्रकार का है परन्तु जो दान फिर से लेने की इच्छा रहित, सत्पात्र को आत्म बोध के निमित्त अंतःकरण की शुद्धि के हेतु दिया जाता है, वह परम दान है। अन्य प्रकार से दान दो प्रकार का है:—एक तो आवश्यकता वाले भूखे आदि को दिया हुआ दान और दूसरा दिव्य दान—देवता को दिया हुआ दान। जो पूर्ण सत्पात्र है, वह दिव्य होने से देवता है. उसकी आवश्यकता को नहीं देखा जाता, उसे जो दिया जाता है, उसका सदुपयोग ही होता है इसलिये वह दान सर्वोत्तम है। जिसका दान देने का स्वभाव नहीं है, वह भगवद्भक्ति के योग्य नहीं होता और न सत्कर्म के योग्य होता है तब ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों से युक्त तो हो ही कहां से?

जिसको देने का भाव है, वह हमेशा देता ही रहता है क्योंकि उसका देने का संस्कार ही दृढ़ होता है। जो लेने की भावना किया करता है, वह हमेशा लेने वाला भिखारी ही रहता है। तात्पर्य यह है कि देने वाले की वृत्ति उदार होती है, उस वृत्ति के पोषण-अर्थ वह देता ही रहता है और लेने वाला कितना ही दान लिया करे, उसका भाव लेने का होने से उसे वारम्वार लेने की आवश्यकता रहती है। सुपात्र को दिया हुआ थोड़ा दान विशेष फल को देता है और कुपात्र को दिया हुआ विशेष दान का निकृष्ट दुःख रूप फल होता है। अपात्र को दान देकर दुःख मोल लेना है। जो सदाचारी, धर्म कर्मनिष्ठ ईश्वर प्रेम वाला हो वह सत्पात्र है और जो तत्त्व ज्ञानी है, वह परम पात्र है। ज्ञानी व्यापक तत्त्व में टिका हुआ होता है इसलिये उसको दिये हुए दान का फल अनन्त गुणा होता है।

कोई एक व्यापारी व्यापार के अर्थ परदेश को जा रहा था। उसके जाने का मार्ग समुद्र में होकर था। एक बड़े जहाज में अनेक प्रकार की वस्तुएं लादी गई थीं. व्यापारी उसमें बैठ कर जा रहा था। जहाज छूटने की तैयारी के समय दो भिक्षुक उसके पास आ कर खड़े हो गये। उनमें एक ब्राह्मण और दूसरा कंजर था। कंजर भी ब्राह्मण के समान ही दीखता था। दोनों व्यापारी से मांगने लगे। व्यापारी जाने की प्रवृत्ति में था इसलिये उसने विशेष विचार किये विना ही दोनों को एक एक चवन्नी देदी। जहाज छुट गया। ब्राह्मण भूखा था, उसने बाजार में जा कर दो आने का आटा इत्यादि भोजन का सामान और दो आने का

धूप, दीप, पुष्प, चन्दन, नैवेद्य आदि शिव पूजन का सामान लिया, एकांत स्थान में जा, स्नान कर विधि पूर्वक शंकर का पूजन किया, फिर भोजन बना कर खाया और दिन के शेष भाग में भजन ही करता रहा क्योंकि भोजन तो होही गया था, संतोषी होने से उसे दूसरे दिन की चिन्ता थी नहीं, इस प्रकार उसने दान का सदुपयोग किया। दूसरा जो कंजर था, रोटी खाकर आया था, भूखा नहीं था, उसने चार आने में दो आने का मच्छी पकड़ने का कांटा रस्सी और कुछ कांटे में लगाने का पदार्थ खरीदा और एक जलाशय में जाकर मछलियां पकड़ने लगा, कई मछलियां पकड़ीं, मारीं और बाजार में ले जाकर वेच दीं, मछ-लियों के दाम और बचे हुए दो आने की शराब लेकर पी, रात्रि के समय किसी के यहां गंडा लगाया. घर के मनुष्य पकड़ने आये तो उनमें से एक को जान से मार कर भाग गया, इस प्रकार उसने मिले हुए चार आने का दुरुपयोग किया।

व्यापारी का जहाज जा रहा था, वहां समुद्रमें तोफान आया और एक मगर मच्छ जहाज के नीचे आ गया, जहाज टेढ़ा हो गया, डूबने में थोड़ी ही देर थी, हवा का वेग कुछ कम हुआ, एक दूसरा मगर मच्छ जहाज के नीचे के मगर मच्छ की तरफ दौड़ा, उसको देखकर जहाज के नीचे का मगर मच्छ डुबकी मार कर भाग गया। जहाज सीधा हो गया और नियत स्थान पर सुख पूर्वक पहुँच गया। इसका भाव यह है कि कंजर को जो दाम दिये थे, उन्होंने मछलियों का नाश किया था, इस दोष के फल से मगर मच्छ व्यापारी के जहाज को डुबाने की तैयारी में

था परन्तु ब्राह्मण को जो दान दिया था, उसके पुण्य फल से ही ईश्वरी बनाव से उस समय दूसरा मगर मच्छ आ गया और पहिले मगर मच्छ को भागना पड़ा। अपात्र को दिया हुआ दान आपत्ति में डालने वाला होता है और सत्पात्र को दिया हुआ दान आपत्ति का निवारण करता है। यदि ब्राह्मण को दान न देकर व्यापारी ने केवल कंजर को ही दान दिया होता तो अवश्य ही जहाज डूब जाता। यदि केवल ब्राह्मण को ही दान दिया होता और कंजर को न दिया होता तो कुछ विशेष फल होता। दान लेने वाला दान का जैसा उपयोग करता है उसके अनुसार दाता को फल होने का संभव है, इसलिये सत्पात्र को दान देने का ही शास्त्र उपदेश करते हैं।

कोई एक भारी जागीरदार था, वह सीधा मनुष्य था, जागीर की आमदनी बहुत थी। जो कोई आता उसे रोटी देने का प्रबन्ध उसने अपने मकान पर कर रक्खा था। कारभार उसके हाथ में आने के बाद तीन साल में ही उसके यहां रोटी लेने वालों की संख्या इतनी बढ़ गई कि जितनी उस ग्राम की वस्ती भी न थीं। जो सुने, सो ग्राम में आजाय, वहां से खाने को रोटी मिल जाय, दिन भर किसी पेड़ या नदी के किनारे आलसी होकर पड़ा रहे, कोई उसकी रोटी खाकर अधर्म में भी प्रवृत्त होते थे। कंगले इतने बढ़ गये कि जागीर की सब आमदनी खर्च होने पर भी पूरा न पड़े। जागीरदार रोटी बन्द करना नहीं चाहता था। उसे अपनी प्रतिष्ठा भंग होने का डर था, बहुत दिनों तक जागीर पर कर्जा

ले लेकर खिलाता रहा। उस दान का शुभ फल होने के बदले अशुभ फल बढ़ गया, इसका परिणाम रूप थोड़े ही दिनों में उस जागीरदार का निःसंतान मृत्यु हुआ। यदि वह कुछ दिन और जीता रहता तो कर्जा देने वाले जागीर लेलेते। उसके बाद उसके कुटुम्ब का एक मनुष्य जागीर का मालिक हुआ। उसने जागीर का सब हिसाब देखा और जागीर पर कर्जा होने का कारण ढूंढ़ निकाला। जो रोटी उसके यहां किसी भी आड़ रहित मिलती थी, बन्द कर दी गई। रोटी बांटने के समय वह स्वयं उपस्थित होतां था, जो कोई योग्य परदेशी अभ्यागत साधु आता उसे सत्कार पूर्वक भोजन करा देता था और किसी आलसी को रोटी न देता। जब वह रोटी के लिये बहुत प्रार्थना करता तो चार घण्टे भजन करा कर रोटी देता। सब कंगले जो आलसी हो गये थे, निन्दा करने लगे और धीरे धीरे हट गये, जो योग्य पुरुष थे वे ही भोंजन पाते थे। जो आलसी हो गये थे, जब भूखे मरने लगे तब उद्यम भी करने लगे। जागीर पर जो कर्जा हो गया था, वह भी कुछ दिनों में चुक गया। इस प्रकार इसका दान सत्पात्र का दान था, प्रथम वाले का दान देशं काल और पात्र के विचार रहित था। धर्म का कार्य भी यदि विचार रहित किया जाता है तो उससे अधर्म की उत्पत्ति होती है। जब व्यवहारिक सब कार्य बुद्धि को परिश्रम देकर विचार सहित करते हैं तब धर्म रूप शुभ कार्य विचार रहित क्यों किया जाय ? पंचामृत उत्तम पदार्थ है, वह ही पंचामृत जब अपात्र के खाने में आता है तो वमन होजाता है इसी प्रकार कुपात्र को दिया हुआ दान हानि ही करता है।

अन्न दान, विद्या दान, गृह दान, गो दान, कन्या दान, वस्त्र दान, पात्र दान, क्षेत्र दान, पुस्तक दान इत्यादि दान अनेक प्रकार के हैं यदि किसी को गृह दान करना हो तो विचारना चाहिये कि जिस पुरुष को घर दिया जाता है, वह इस घर में किस प्रकार के कर्म करेगा ? यदि वह पाप कर्म करेगा तो मकान देने वाले को भी उसके पाप का हिस्सा भोगना पड़ेगा, यदि किसी को कन्या दान देना हो तो विचार करना चाहिये कि जिसको कन्या दी जाती है, उसकी उम्र क्या है, कुल क्या है, कुटुम्ब कैसा है, क्या उद्यम करता है, क्या पैदा करता है, कौनसी विद्या जानता है, उसके यहां जाकर लड़की सुखी रहेगी या दुःखी, इन सब बातों का विचार न करते हुए अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त यदि लड़की दी जायगी तो लड़की को जो कष्ट भोगना पड़ेगा, उसमें कन्या दान देने वाला भी दुःख-पाप का भागी होगा, कोई कहे कि ये सब दान तो विचार सहित देना ठीक हैं परन्तु यदि कोई भूखा हो तो वह कैसा भी क्यों न हो, उसे खिलाने में दोष नहीं है तो यह भी ठीक नहीं है, भूखे को खिलाने में भी विचार करना चाहिये, जहां तक अपनी बुद्धि पहुंचे, विचार कर ही खिलाना चाहिये। भूखा होने से वह अधर्म नहीं कर सकता, जब तुम खिला दोगे तो तृप्त—बलिष्ठ होकर यदि वह अधर्म में प्रवृत्त होगा तो दान देने वाला अधर्म के हिस्से से बच नहीं सकता।

पाप कर्म करना प्रत्येक अवस्था में बुरा है। सब अवस्थाओं से मरण का समय अत्यन्त महत्व का है। मरण के समय किये हुए कार्य का भाव अवश्य दृढ़ होता है और अवश्य भोगना पड़ता

है इसीलिये कहा है कि कंठ में प्राण आ जाय वहां तक पाप कर्म करना न चाहिये यानी पाप कर्म कभी भी न करना चाहिये। पाप कर्म करने से जान बचने का भी संभव हो तो भी पाप कर्म न करना चाहिये। पाप कर्म करने से प्राण का जाना अच्छा है परंतु पाप कर्म अच्छा नहीं है। अपने धर्म का परित्याग, परधर्म की क्रिया करना और याचना करना योग्य नहीं हैं। याचना, भक्ष्याभक्ष्य, शरणागत का त्याग, हिंसा, मद्यपान, असत्य, ठगाई, छल और विश्वासघात इत्यादि महापाप हैं। ऐसे पाप कर्म करने वाला अवश्य नरक में पड़ता है इसलिये किसी हालत में भी, कितना भी कष्ट क्यों न हो पाप कर्म करना न चाहिये।

पराक्रमी परोपकारी, महाराजा विक्रम ने प्रजा और व्यक्तियों के अनेक कष्ट अपने सामर्थ्य से निवारण करते हुए बहुत वर्षो तक राज्य किया। जब उसके आयुष्य पूर्ण होने का समय आया तब उसे एक विकट व्याधि ने पकड़ लिया। बहुत प्रयत्न पूर्वक औषधि करने से भी व्याधि न हटी। धन्वंतरि के समान बड़े बड़े भिषग्वर विक्रम के यहां थे, उन सबने भिन्न भिन्न और एकत्र होकर भी इलाज किया, अनेक प्रकार की महा कठिनाई से प्राप्त हों, ऐसी औषधियां दूर दूर देशों से मंगवा कर खिलाईं परन्तु व्याधि कम न हुई, बढ़ती ही गई। 'वैद्य, आयुष्य दाता नहीं है' यह स्पष्ट ही है अंत में एक परिचित वैद्यराज ने अंतिम उपाय बतलाया कि कौवे के मांस का भक्षण करने से इस रोग का परिहार हो सकता है। प्रथम राजा ने कौवे का मांस भक्षण करने को मने कर दिया परन्तु पास बैठने वालों ने

समझाया कि आपके बचने से सब मनुष्यों का कल्याण होता है इसलिये किसी प्रकार से भी शरीर की रक्षा करनी चाहिये। एक कौवे के मर जाने से आपका शरीर बच जाय तो कुछ हानि नहीं है, एक कौवे का नाश तो क्या, अनंत कौवों के नाश से भी यदि आपका शरीर रहे तो विशेष लाभ दायक है। आप स्व इच्छा से भक्षण न करें, यह ठीक है परन्तु आपत्ति में औषधि रूप से ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। यदि किंचित् दोष भी हो तो उससे होने वाला लाभ विशेष है, आपके न रहने से हम सब प्रजा का नाश हो जायगा। इत्यादिक उनके बहुत आग्रह करने पर विक्रम ने काकका मांस भक्षण करनेको स्वीकार कर लिया। शरीरासक्ति ने विक्रम जैसे पुरुष की बुद्धि में भी परिवर्तन कर दिया, शरीर की रक्षा के लिये कौवे की हिंसा और अभक्ष्य भक्ष्य दोनों ही अपराध करने को तैयार हो गया। विक्रम की बुद्धि स्वार्थ वश यकायक बदली हुई देख कर राजा का हित चाहने वाला एक विचक्षण वैद्य बोल उठा "महाराज! इस समय काक मांस रूप औषधि अथवा अन्य कोई भी औषधि आपको आरोग्य नहीं कर सकती इस समय तो धर्म रूप औषधि से ही आपका कल्याण होगा, आपके स्वभाव में जो महापरिवर्तन हुआ है, वह एक उत्पात ही है, आप कौवेका मांस खाने को तैयार हो गये, यह परिवर्तन ही दिखलाता है कि आप बच नहीं सकते।" विद्वान् वैद्य का इस प्रकार का भाषण सुन कर, राजा को क्रोध नहीं हुआ, बुद्धि सचेत हो गई, राजा ने वैद्य को सच्चा हित करने वाला बांधव समझ कर बहुत प्रशंसा करके

भारी पारितोषिक दिया, मरण होने का निश्चय हो जाने से पर-लोक गमन की तैयारी की, अपना सब खजाना योग्य पात्र को दान कर दिया, सर्वस्व दान करके एकांत में दर्भासन पर आसन लगा कर बैठा और योग की धारणा से परब्रह्म का चिंतवन करते हुए, अशाश्वत मृत्यु लोक का त्याग करके पर लोक गमन किया। विक्रम को दूसरों के कहने से पाप बुद्धि हो गई थी, परन्तु पूर्व के शुभ कर्म के संचय से एक आश्रित के कहने मात्र से बुद्धि सुधर गई। कंठ में प्राण आने तक उसने पापाचरण नहीं किया आयुष्य भर धर्म ही करता रहा और मरण समय में भी ईश्वर में ध्यान लगा कर शरीर यात्रा की समाप्ति की। सत्पुरुष का वर्ताव इसी प्रकार का होता है। घोर कलियुग में इस प्रकार के सत्य वक्ता, परोपकारी, दान धर्म शील, वीर पुरुष बहुत न्यून होते हैं।

सिंधु नदी के किनारे पर बने हुए कनकपुर के राज भवन के आंगन के बगीचे में दो बालक खेल रहे थे। दोनों समान अवस्था के थे। उनमें से एक कुमार था और दूसरी कुमारी थी। कुमार वहां के राजा कंचनसिंह का पुत्र था। एक समय राजा कंचनसिंह अरण्य में घूम रहा था, वहां उसे एक बाला प्राप्त हुई थी, उस अनाथ बाला को राजा अपने यहां ले आया था और पालित पुत्री के समान रक्खा था, यह ही कन्या राजकुमार के साथ खेल रही थी। दोनों बालक इस प्रकार एक दूसरे के सहवास में रह कर बड़े हो रहे थे। दोनों में परस्पर गाढ़ा प्रेम हो गया था। योग्य

समय आने पर दोनों का विवाह कर देने की इच्छा राजा की थी परन्तु थोड़े ही दिन पीछे सिंधुपार के वीरपुर के राजा मणिभद्र से कंचनसिंह का विरोध हुआ। कंचनसिंह अपनी सैन्य सहित वीरपुर में लड़ने को गया। राजपुत्र मानसिंह भी जो अभी तक बाल्यावस्था में ही था, पिता के साथ लड़ाई में गया। पालित पुत्री निर्मला और मानसिंह दोनों का हृदय उस समय दुःखी था। निर्मला ने भी युद्ध में जाने को चाहा परन्तु वह साथ न ली गई। वीरपुर का राजा मणिभद्र भी बलिष्ठ राजा था। दोनों का बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा, अंत में बहुत से सैनिकों सहित कंचन-सिंह हार कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। मरते समय उसने राजकुमार से कहा "हे पुत्र! वीरपुर से अपना बदला लिये विना तू सुख भोग न करियो, जब तक तू उसे पराजित न कर ले तब तक शादी भी मत कीजो!" वीरपुर के राजा मणिभद्र ने आसपास के सब इलाकों सहित कंचनपुर पर अधिकार कर लिया। रनवास में जो स्त्रियां थीं, वे समय पाकर भाग निकलीं, निर्मला न जाने पाई, राजा मणिभद्र उसे अपने साथ ले गया। राजपुत्र मानसिंह का घर बार न रहा, उसे निर्मला का भी कुछ समाचार न मिला! वह जंगलों में भटकता रहा और थोड़े दिनों में कुछ सैन्य तैयार करके फिर से उसने मणिभद्र से युद्ध किया, बहुत पराक्रम किया परन्तु विजय उससे दूर ही भागता रहा। जिन जिन सैनिकों ने मानसिंह के साथ मिलकर युद्ध किया था, उनमें जो जो पकड़े गये उनको मणिभद्र ने भारी सजा दी। मानसिंह को मणिभद्र पकड़ न सका, वह जंगल में चला गया, दो बार

मारने से उसका हृदय अत्यन्त खिन्न था, पिता के कार्य की अपने हाथ से पूर्ति न कर सकने से वह अत्यन्त दुःखी था और कभी कभी निर्मला का प्रेम भी इसे सताया करता था परन्तु पिता की आज्ञानुसार वह तन मन से युद्ध की सामग्री जोड़ने में ही लगा रहता था।

मणिभद्र निर्मला को ले गया था, उसकी सुन्दरता सरलता देखकर वह प्रसन्न था। कुछ दिनों के बाद निर्मलाका भी मणिभद्र में प्रेम होगया। मणिभद्र ने उससे शादी करली और कई साल में दो सन्तान भी उत्पन्न हो गईं। वीरपुर के राजकुटुम्ब और वहां के सरदारों में आपस में फूट पड़ गई थी और इस तरफ मान-सिंह ने भी लड़ने की पूरी पूरी तैयारी करली थी। कनकपुर में दोनों का भारी युद्ध हुआ। मणिभद्र बहादुरी से लड़ा परन्तु इस समय उसकी जीत न हुई। मानसिंह जीत गया कनकपुर पर उसने अधिकार कर लिया, विपक्षी सरदारों को कैद कर लिया और उसकी यह इच्छा भी थी कि मणिभद्र भी कैद कर लिया जाय तो हमेशा के लिये निश्चिन्तता होजाय परन्तु प्रयत्न करने पर भी मणिभद्र पकड़ा न गया। उसने ऐसा प्रबंध कर लिया कि कोई मनुष्य सिंधु पार न जा सके। एक दिन मानसिंह घोड़े पर सवार होकर सिन्धु के किनारे पर घूम रहा था। वहां से नौका में बैठ कर, पार जाने के लिये एक पुरुष एक स्त्री और दो बच्चों को लेकर आ रहा था। मानसिंह ने पूछा "तू कौन है और कहां जा रहा है ?" पुरुष ने कहा "तुझको पूछने की क्या आवश्यकता है ?" मानसिंह ने सूक्ष्मता से निरीक्षण किया तो मालूम हुआ

कि यह मणिभद्र है। मानसिंह बोला "पाजी! बदमाश! क्या तू भेड़िये के समान भाग कर जाना चाहता है ?" मणिभद्र तलवार म्यान में से निकाल कर बोला "पाजी मैं हूँ या तू है, इसका निर्णय युद्ध से हो जायगा !" मानसिंह तैयार ही था। दोनों का द्वन्द्व युद्ध हुआ मणिभद्र मारा गया। उसकी स्त्री अपने बच्चों को लेकर एक पेड़ के नीचे कंपित हृदय से करुणायुक्त होकर ईश्वर से याचना करती हुई खड़ी थी। मणिभद्र का शिर पृथ्वी पर गिरते ही वह एक चीख करके मूर्छित हो गई। मानसिंह उसे सावधान करने को जा रहा था इतने में वह आप ही सचेत होकर बोली "हे वीर पुरुष ! इन दो बालकों का क्या होगा ?" मानसिंह ने देखा तो वह उसकी पूर्व की प्रेमपात्र निर्मला थी। वह उसे आश्वासन देता हुआ बोला "निर्मला ! तू कहां से ?" निर्मला बोली "तुम्हारे जाने के बाद वीरपुर के राजा के साथ मेरी शादी हो गई, यह मेरा पति था और ये दो बालक उसीके हैं।" मानसिंह बोला "तेरे लिये मैं अभी तक अविवाहित हूँ, अब तू उसका ख्याल छोड़ दे और मेरी स्त्री बन कर रह, तेरे बच्चों का भी पोषण होगा !" निर्मला बोली "यह कभी नहीं हो सकता। मैं साध्वी हूँ !" मानसिंह क्रोधित होकर बोला "दुष्टा ! तू मेरी होकर उसके साथ क्यों रही ? अब अपना साध्वीपना दिखाती है। तुझे मेरे साथ रहना ही होगा !" यह कह कर मानसिंह उसे पकड़ना चाहता था, वह पीछे हट गई और बोली "तू चाहे जो कुछ कर, अब मैं तेरी नहीं हो सकती !" मानसिंह ने कहा "मैं तेरे बच्चों का तेरे सामने ही वध करूँगा !" निर्मला ने कहा "तू वीर है ! पूर्व

में मेरा तेरा सम्बन्ध होने वाला था परन्तु दैव को यह न रुचा, अब तेरे जी में आवे सो कर !" मानसिंह को पूर्व का प्रेम याद आया, उसे निर्मला का दोष दिखाई दिया, वह बच्चों की तरफ तलवार उठा कर बोला "बोल ! क्या कहती है ?" निर्मला ने नकार ही किया। मानसिंह ने दोनों बच्चों को मार डाला। निर्मला कुछ न बोली. मरने का समय समीप आया जानकर ईश्वर भजन में लग गई, पति और बच्चों के प्रेम को बिलकुल हटा लिया, ईश्वर भाव में उसका चित्त इस प्रकार लग गया कि चित्त ने शरीर का सम्बन्ध भी छोड़ दिया, ईश्वर स्मरण करती हुई ईश्वर के दरबार में पहुँच गई। निराश हुए मानसिंह ने भी अपनी गरदन पर तलवार मार कर आपघात किया।

कंठ में प्राण आजांय तब तक शुभ कर्म ही करना चाहिये, पाप कर्म न करना चाहिये, मरण पर्यन्त ईश्वर का भजन ही करना चाहिये। निर्मला शुद्ध थी, मणिभद्र उसको हरण करके ले गया था। युवावस्था प्राप्त होने पर निर्मला ने उसके साथ शादी की, जब तक जीती रही शुभ कर्म ही करती रही, अपनी और बच्चों की जान जाने की भी परवाह न करके अधर्माचरण को अंगीकार न किया। शिवार्चन सिवाय कल्याण करने वाला कोई नहीं है इसलिये मरण पर्यन्त शिवार्चन ही करना चाहिये ॥३०॥

किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारेः,
कास्था न कार्या सततं भवाब्धौ।
अहर्निशं किं परिचिंतनीयं,
संसार मिथ्यात्व शिवात्म तत्त्वम् ॥३१॥

अर्थः—प्रश्नः-कर्म क्या है ? उत्तरः-जिससे परमेश्वर प्रसन्न हो। प्रश्नः-सदा विश्वास कहां न करना चाहिये ? उत्तरः-संसार सागर में। प्रश्नः-हमेशा किसका चिंतवन करना चाहिये ? उत्तरः-संसार के मिथ्यापने का और शिव रूप आत्म तत्त्व का।

छप्पय।

कहलावे क्या कर्म ? परम जो है हितकारी।
कर्म वही सद्धर्म, प्रीतिकर होय मुरारी॥
करे न कहँ आसक्ति, दुःख नाना जहँ पावे।
भव समुद्र आसक्ति, लोक चौदह भटकावे॥
चिंतवन करिये नित्य, क्या मिथ्यापन संसार का।
आत्म तत्त्व शिव रूप सत् चित् सुख सर्वाधार का॥२१॥

विवेचन।

स्थूल अथवा मानसिक क्रिया वाले जितने कर्म हैं वे सब कर्म कहलाते हैं। यह मनुष्य लोक कर्म भूमि है, यहां विशेषता से कर्म होता है। कर्म तीन प्रकार के हैं:—शुभ, अशुभ और स्वाभाविक। शुभ अथवा अशुभ कर्म कर्तापने में होते हैं। उन कर्मों का भाव कर्ता में रहता है इसलिये कर्ता के सम्बन्ध वाले कर्म अज्ञान में होने से उनका फल कर्ता को भोगना पड़ता है। स्वाभाविक कर्मों में कर्ता के विशेष भाव की आवश्यकता नहीं है। निष्काम कर्मों का फल पुण्य अथवा पाप के अनुसार कर्ता

को नहीं होता परन्तु अंतःकरण की शुद्धि रूप विलक्षण फल होता है। निष्काम कर्मों का फल अहंभाव युक्त कर्मों के फल के समान न होने से निष्काम कर्म इच्छा रहित फल वाले कहलाते हैं। ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञानियों के जो कर्म होते हैं, जिन्हें ज्ञानाचार कहते हैं, वे भी फल रहित होते हैं। निष्काम कर्म और ज्ञानाचार दोनों कर्म होते हुए भी कर्म की श्रेणी में नहीं समझे जाते क्योंकि विशेष करके वे पूर्व के भोग की समाप्ति के हेतु होते हैं इसलिये शुभ और अशुभ दो ही प्रकार के कर्म रहे। शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ का फल अशुभ होता है, यह संसारी फल है। ईश्वर की प्रीति उत्पन्न करने वाले वे ही कर्म शुभ हैं जो संसार की निवृत्ति के हेतु रूप हों। संसार की प्रवृत्ति रूप शुभ कर्म का फल स्वर्गादि होता है और निवृत्ति रूप शुभ कर्म से ईश्वर की प्रीति होती है। अनंत काल से मनुष्य संसार की प्रवृत्ति में चले आ रहे हैं, उस प्रवृत्ति से मुख फेर कर आद्य स्वरूप की तरफ जाना निवृत्ति रूप कर्म है। निवृत्ति रूप कर्म शुभ ही होते हैं, अशुभ नहीं होते, ऐसे कर्मों से ही ईश्वर में प्रेम होता है, ये ही कर्म कर्तव्य रूप हैं। जिनसे सुर दैत्य को मारने वाले भगवान् की प्रीति हो वे कर्म इस प्रकार हैं:—ईश्वर का पूजन, कथा श्रवण, भजन आदि करना। जिन जिन कर्मों से अंतःकरण की शुद्धि होती है, उन उन कर्मों से ईश्वर में प्रीति उत्पन्न होती है। नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता, अधिकारी के लक्षण धारण करने रूप कर्म, सद्गुरु का संग, उपदेश का ग्रहण करना, सत् शास्त्र का श्रवण, सब

प्राणी मात्र में रहा हुआ ईश्वर एक है, इस प्रकार जानना, वह ही ईश्वर मुझमें है, ऐसा समझ कर प्रत्येक कार्य करना; ये सब कर्म निवृत्ति रूप है क्योंकि ईश्वर आत्मा की तरफ ले जाने वाले हैं। अपने निमित्त जो कर्म किया जाता है, उससे अहंभाव दृढ़ होता है। उन्हीं कर्मों में जब ईश्वर भाव-अर्पण भाव रक्खा जाता है तब अहं की ग्रंथि शिथिल होती है अहंभाव शिथिल होकर अज्ञान से मुक्त होते हैं। जिस कर्म से ईश्वर प्रसन्न हो वह ही कर्म है। अब यहां प्रश्न यह होता है कि हमको कैसे मालूम हो कि इन कर्मों से ईश्वर प्रसन्न होता है, उसका उत्तर यह है कि ईश्वर तुममें विराजमान है। किसी भी कार्य में शुद्ध अन्तःकरण में से प्रसन्नता रूप हकार अथवा अप्रसन्नता रूप नकार अवश्य आता है, उस प्रसन्नता को ईश्वर की प्रसन्नता समझो। अशुद्ध मनुष्य के अन्तःकरण में से भी हकार नकार निकलता है परन्तु वह काम, लोभ, मोह वश उसके अनुसार नहीं चलता। कामना आदि विकार रहित शुद्ध आवाज को ही ग्रहण करना चाहिये। जब चोर चोरी करता है तब एक वार उसके दिलमें भी यह विचार होता है कि यह कार्य ठीक नहीं है परन्तु धन प्राप्तिके लोभ से उस शुभ भावना का वह तिरस्कार कर देता है। जिसमें शुद्ध अन्तः-करण की प्रसन्नता हो, जिससे सज्जन प्रसन्न होते हों, जो निवृत्ति का हेतु हो, शास्त्र आज्ञानुसार हों, उसे ईश्वर की प्रसन्नता का कार्य समझना चाहिये। जो इस शुद्ध भाव को आज्ञा रूप मान कर उसके अनुसार वर्तने लगता है, वह थोड़े ही दिनों में सज्जन, सद्गुणी और शुद्ध होकर ज्ञानी हो सकता है। जीव

के किये हुए कर्मों के अनुसार ईश्वर उसको फल देता है। दुष्ट फल देने में उसकी किंचित् भी प्रसन्नता नहीं होती। जैसे किसी दुकानदार के पास जब कोई दंडे वाला अथवा मसानी पैसा मांगने आता है तो दुकानदार को उसे पैसा देने की इच्छा नहीं होती, वह समझता है कि अपात्र को दान देना अच्छा नहीं है। जब पैसा मांगने वाला हठ करता है अथवा शिर फोड़ता है, हाथ पैर में चाकू मार लेता है, लोहू निकालता है, कई मनुष्य देखने के लिये खड़े हो जाते हैं, दुकानदार से पैसा देने को कहते हैं तब दुकानदार झगड़ा हटाने के लिये अप्रसन्नता से पैसा दे देता है अथवा देखने वालों में से कोई पैसा देकर चल देता है। शिर फोड़ने वाला भी काम बन जाने से चल देता है और आगे पैसा जा मांगता है। उसको फितूरी जानकर सब चुप चाप पैसा दे देते हैं। इसी प्रकार दुष्ट पुरुषों को फल मिलता है परन्तु वे लोभी पुरुष समझते हैं कि ईश्वर प्रसन्न हुआ। यह उनकी भूल है। उत्तम गति रहित होना ही ईश्वर की अप्रसन्नता है। ईश्वर का कोप बंधन है और जिससे बंधन न हो और हुआ बंधन छूट जाय. वह ईश्वर की कृपा है। जो निष्काम कर्म करने वाले हैं, वे मुक्ति तक में निष्काम रहते हैं इसलिये वर्णाश्रमोचित कर्म निष्कामता से करते हुए ईश्वर की अनन्य भक्ति करनी चाहिये। भक्ति से ईश्वर उत्तम गति को देता है, यह ईश्वर की प्रसन्नता है। 'यह सब परमात्मा रूप है, परमात्मा के सिवाय अन्य कोई नहीं है, वह कर्ता भोक्ता और भोग्य है, मेरा तेरा

मिथ्या है' इस भाव में चित्त को जोड़ देना ही उत्तम में उत्तम कार्य है।

पैप्यलादि नाम का कौशिक गोत्र का एक ब्राह्मण जप करने वाला, धर्माचरण करने वाला बहुत यश वाला, हृदयादि षडंग और वेद के छः अंगों का जानने वाला और बुद्धिमान् था। उसको वेद के छः अंगों में तत्त्व दर्शनात्मक विज्ञान प्राप्त हुआ था। वह हिमालय पर्वत के एक भाग में रह कर नियम पूर्वक संहिता का जाप किया करता था। इस प्रकार करते हुए जब उसे बहुत दिन हो गये तो सावित्री ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और वरदान मांगने को कहा। ब्राह्मण ने किसी प्रकार का ऐश्वर्य न मांगते हुए यह ही वरदान मांगा कि मेरा चित्त संहिता में ही लगा रहे। सावित्री वरदान देकर चली गई। कुछ दिनों बाद धर्मदेव ने प्रकट होकर कहा "हे ब्राह्मण! तेरे तप ने मनुष्य और देवलोक दोनों पर जय प्राप्त किया है, तू शरीर को त्याग कर इस लोक में जहां तेरी इच्छा हो, वहां विचर।" ब्राह्मण बोला "हे धर्म! आपने जिस लोक में जाने को कहा, उस लोक से मुझे क्या प्रयोजन है? बहुत दुःखों से मिश्रित ऐसे सुख को भोगने के लिये मैं शरीर धारण करना नहीं चाहता। हे देव! आत्मा को छोड़ कर अनात्म ऐसे स्वर्ग पर मेरी रुचि नहीं है। आप जैसे आये हैं वैसे ही चले जाइये!" धर्म ने कहा "हे द्विज! यदि तू शरीर त्यागना न चाहता हो तो ये काल, मृत्यु और यम जो तेरे पास आये हैं, उनको देख!" तीनों ब्राह्मण के पास आये, उनमें से यम बोला "हे ब्राह्मण! तेरे तप का फल बहुत

चला है. तेरे स्वर्ग में जाने का समय आया है !" काल बोला "तप का फल भोगनेको चल" मृत्यु बोला "हे धर्मज्ञ ! मैं कालकी आज्ञासे तुझे यहां से लेने को आया हूं !" ब्राह्मणने उन तीनोंका पूजन किया और स्वर्गमें जाने को मने कर दी। इतने में तीर्थ यात्राको निकला हुआ राजा इक्ष्वाकु वहां आ पहुँचा। ब्राह्मणने राजाका सत्कार करके कुशल समाचार पूछा और कहा "मैं आपकी कौनसी आज्ञा का पालन करूं ? मैं आपको क्या दूं ?" राजा बोला "तू ब्राह्मण है, देने का धर्म मेरा है, तुझको रत्नादिक जो चाहिये सो कह. मैं तुझे दूंगा !" ब्राह्मण बोला "मैं प्रतिग्रह रहित हूं. निवृत्ति मार्ग परायण हूं. मुझे कुछ नहीं चाहिये ! जो दान की इच्छा वाला हो उसे आप दान दो, उसी से पूछो कि तुझे क्या इष्ट है, मैं तुझको क्या दूं !" राजा बोला "हम क्षत्रिय युद्ध आप सिवाय आप शब्द को नहीं कहते !" ब्राह्मण बोला "हम दोनों ही अपने अपने धर्म में सन्तोष को प्राप्त हैं, दोनों में अन्तर नहीं है !" राजा बोला "ठीक ! तब मैं कहता हूं कि तूने जो तप किया है. उसका फल मुझको दे !" ब्राह्मण बोला "आप मांगने को ना कह कर फिर क्यों मांगते हो ? मैं तो देने को कह चुका हूं, मैंने आपको अपने तप का आधा फल दिया, यदि पूरे की इच्छा हो तो पूरा लो !" राजा ने कहा "अर्ध फल लिया परन्तु तेरे तप का क्या फल है ? सो कह !" ब्राह्मण बोला "इसकी मुझे खबर नहीं है, मैंने तप करते हुए फल का विचार कभी नहीं किया !" राजा बोला "जब तुझे फल की खबर ही नहीं है तो तुझसे लिया हुआ आधा फल तुझको ही प्राप्त हो !" ब्राह्मण

बोला "नहीं! ऐसा न होगा! मैं दे चुका हूँ फिर नहीं ले सकता!" राजा और ब्राह्मण का बहुत विवाद हुआ। राजा फल नहीं लेना चाहता था, ब्राह्मण कहता था मैं तो दे चुका हूं। अन्त में राजा को आधा फल लेना ही पड़ा और दोनों साथ साथ ब्रह्मलोक-कार्य ब्रह्म को प्राप्त हुए।

ईश्वर की प्रसन्नता का यह कर्म था। यम, मृत्यु और काल ने बहुत प्रलोभन दिया। परन्तु ब्राह्मण अपने निश्चय से न हटा, स्वर्गादि के ऐश्वर्य से चलायमान न हुआ। राजा को तप का आधा फल देकर भी चलित न हुआ तब उसे परब्रह्मकी प्राप्ति हुई। उसने जो तप किया, निष्काम किया था। इसी कारण उसे ज्ञान फल रूप ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुई। भौतिक भाव से रहित जो कार्य किया जाता है अथवा ईश्वर प्राप्ति के निमित्त जो प्रयत्न किया जाता है, वह ही ईश्वर का प्रेम उत्पन्न करने वाला कार्य है, वह ही सत् कार्य है, अन्य सब कार्य माया जाल में भ्रमाने वाले हैं।

देह, इन्द्रिय और प्राण आदिकोंका संघात और उस संघातके सम्बन्धी; स्त्री, पुत्र, पुत्री, सगोत्री, धन, जमीन, जागीर में अहंता और ममता धारण करके रात दिन उन्हीं का चिन्तवन करना, मेरा शरीर हमेशा रहेगा, मेरी लक्ष्मी चलित नहीं होगी, मेरी स्त्री पौत्रादि मुझे हमेशा सुख दिया करेंगे, यह सब मेरा ही है इस प्रकार क्षण भंगुर और शोक भय के स्थान रूप संसार और संसार के पदार्थों में ममता बांधना संसार की आस्था कही जाती

है। इस प्रकार की आस्था करने से अधोगति ही होती है, जिस प्रकार समुद्र अथाह है इसी प्रकार संसार भी अथाह है। जैसे समुद्र के तरंग बुदबुदे नाशवन्त हैं इसी प्रकार संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है इसलिये संसार को समुद्र की उपमा दी गई है। जैसे समुद्र के तरंगों की आस्था करना व्यर्थ है ऐसे ही संसार के पदार्थों की आस्था करना व्यर्थ है। श्रीमान् शंकराचार्यने अपनी माता को उपदेश देते हुए कहा है:— अतिशय चंचल शरीर में 'शरीर स्थिर है' ऐसी बुद्धि मूढ़ बुद्धि वाला पुरुष भी नहीं करता, तू तो अतिशय चतुर है, तुझे इस प्रकार की बुद्धि करना योग्य नहीं है। हे माता! प्रचंड पवन के झपेटे से कंपायमान चीन के देश के अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्र के ध्वजा के किनारे के समान चंचल शरीर के ऊपर चाहे जैसा मूढ़ बुद्धि वाला पुरुष हो ऐसी बुद्धि कभी नहीं करेगा कि यह स्थिर रहेगा यानी क्षण भंगुर शरीर सदाकाल रहेगा, ऐसा समझ कर कोई मूर्ख मनुष्य भी शोक न करेगा। तू मेरी माता होकर इतना शोक करती है, यह तुझे उचित नहीं है। अनेक जन्मों में अनेक स्त्री, पुत्र, घर हो चुके हैं, उनकी कोई गिनती भी नहीं है, इसका विचार कर कि सब का शोक बन नहीं सकता, ऐसे ही अमुक पुत्रादि का शोक करना और अमुक का न करना, यह भी बन नहीं सकता इसलिये किसी का भी शोक करना उचित नहीं है। यदि कोई कहे कि पूर्व की याद नहीं है इसलिये शोक नहीं करते तो इसका उत्तर यह है कि वर्त्तमान भी भविष्य में पूर्व हो जाने से उसकी भी याद नहीं रहेगी। यदि शोक से कुछ फल की प्राप्ति होती हो तो

कर, फल सुख नहीं होता दुःख ही होता है तब ऐसा शोक क्यों करना चाहिये ? क्या कोई इसका विचार कर सकता है कि इस अनादि संसार में मैंने कितने लड़कों का लालन पालन किया है, कितने लड़के मेरे प्राण स्वरूप हो चुके हैं ? कोई नहीं कर सकता मैंने अनेकों पुत्र और स्त्रियों को अपना प्रेम पात्र बनाया होगा परन्तु वे पुत्र और स्त्रियां कहां हैं ? मैं भी अनेक शरीर धारण कर चुका हूं, वे मेरे शरीर कहां गये ? जैसे अनेक दिशाओं से प्रवासी आकर एक धर्मशाला में एकत्र होते हैं, सचमुच इसी प्रकार संसार का समागम है ! जैसे एकत्र हुए प्रवासी अपनी अपनी दिशा को चले जाते हैं, इसी प्रकार संसार में मिले हुए भी सब चले जाते हैं ! इसलिये किसी के वियोग का भी शोक न करना चाहिये ! जब तक संसार में आस्था होती है तब तक शोक की निवृत्ति नहीं होती।

ईश्वर में आस्था न रख कर जो संसार स्वरूप स्त्री, पुत्र, धनादिक में आस्था करता है, हमेशा उनका ही ध्यान रखता है, उसे मरण समय में भी वह ही वृत्ति उठती है इसलिये वह स्त्री के पेट से ही जन्म धारण करता है अथवा नीच गति को प्राप्त होता है। चित्रकेतु राजा का पुत्र मर गया था, राजा को पुत्र के शोक में ग्रसित देख कर नारद मुनि ने पुत्र को प्रत्यक्ष करके कहा "हे पुत्र ! तेरे माता पिता रो रहे हैं, उनको शांत कर !" पुत्र बोला "वे किस जन्म में मेरे माता पिता हुए हैं ? मैं तो अपने कर्मों से देव, पशु और मनुष्य योनियों में भ्रमण कर रहा हूँ, सब ही सबके परस्पर बंधु, नाशक, रक्षक, राग द्वेष करने वाले,

शत्रु, मित्र और उदासीन होते रहते हैं, ये लोग पुत्र समझ कर शोकातुर होने के बदले शत्रु समझ कर आनन्दित क्यों नहीं होते ? जैसे बेचने खरीदने की वस्तुयें एक दूसरे के पास आती जाती हैं, ऐसे ही जीव भी अनेक योनियों में भ्रमण करता है। घर, स्त्री, पुत्रादिक के साथ मनुष्य का सम्बन्ध बहुत समय तक नहीं रहता। जितना जिसके साथ सम्बन्ध है, उतना ही रहता है। आत्मा किसी का सम्बन्धी नहीं है, वह तो नित्य, अव्यय और सूक्ष्म है, सर्वाधार और स्वयं प्रकाश है।" चित्रकेतु राजा को इस प्रकार के वचनों से वैराग्य हुआ। अंगिरा और नारद के उपदेश से उसको ज्ञान हुआ। इस प्रकार जो संसार में आसक्ति वाले और संसार को सत्य मानने वाले हैं, वे महा कष्ट ही पाते हैं।

चिरंजीवी नाम का एक ब्राह्मण था। उसका जन्म ही किसी विचित्र प्रसंग में हुआ था। यद्यपि वह मनुष्य था तो भी उसकी आयु विशेष थी इस कारण उसका नाम चिरंजीवी पड़ा था। वह देवता का आयुष्य लेके मनुष्य शरीर में आया था। उसे संसार का अनुभव विलक्षण था। जब तक वह बालक रहा तब तक कुछ विशेषता देखने में न आई। देवता की आयु के साथ देवताओं की दिव्यता और तेजी भी उसमें थी। वह जो काम करता, बहुत जल्दी कर डालता था और जो काम सैकड़ों मनुष्यों से भी न हो सके उस काम को वह अकेला ही कर लेता था। शरीर से भी वह बहुत बढ़ने-ऊँचा होने लगा। जिस मकान में वह रहता था वह मकान छोटा मालूम हुआ। उसने बड़े बड़े वृक्ष काट कर

एक बड़ा मकान तैयार किया, पश्चात् स्नान करने गंगा पर गया। जब वह स्नान करके घर पर लौट कर आया तो क्या देखा कि आधा मकान टूट गया है और आधे मकान में कई मनुष्य रहते हैं। जब उसने उन लोगों से पूछा कि तुम इस मकान में क्यों टिके हो तो वे कहने लगे "मकान हमारा है! कई पीढ़ियों से हम इसमें रहते हैं! तू राक्षस के समान शरीरधारी कहां से आया है और इस मकान को अपना क्यों बताता है?" चिरंजीवी बोला "वाह! अभी तो मकान बनाकर स्नान करने गया हूँ, यह क्या बात है? तुम कहते हो कि हम कितनी ही पीढ़ियों से रहते हैं! कौन सच्चा है?" उनमें एक बुड्ढा था, उसने कहा "मैंने सुना है कि हमारे वंश में एक बहुत बड़ा मनुष्य हो गया है, उसने घंटे भर में यह मकान बनाया था, उसका भाई इस घर में रहता था, उसका नाम आत्माराम था, आत्माराम का पुत्र प्रभाशंकर, प्रभाशंकर का पुत्र आंतरराम, आंतरराम का पुत्र बिलासराम, बिलासराम का पुत्र मैं तनसुखराम हूँ। मेरे पुत्र और पौत्र इस घर में रहते हैं।" चिरंजीवी आश्चर्ययुक्त हो विचारने लगा "यह क्या बात है? आत्माराम तो मेरा ही भाई था! क्या मैं स्नान करके आया, इतने में ही आत्माराम की इतनी पीढ़ियां हो गईं? आश्चर्य है!" ऐसा विचारता हुआ वह बाहर बैठ गया। थोड़ी देर में ही उसने देखा कि घर वालों की दश पीढ़ियां हो चुकीं! जैसे वर्षा के कीड़े आदिक होकर मर जाते हैं इसी प्रकार क्षण २ में मनुष्य की उत्पत्ति होना, पुत्र होना, पौत्र होना, मर जाना देखने में आया। जिस जिस पदार्थ को वह देखने लगता था,

देखते देखते ही उस पदार्थ की सैकड़ों आकृतियां बदल जाती थीं ! क्षण भर के मुकाम के लिये मेरा तेरा कर कर के जन्म धारण करके मर जाते थे। इस प्रकार चिरंजीवी सब संसार को तमाशे के समान देख देखकर आश्चर्य को प्राप्त होता था। वह सुबह उठा था, मकान बनाया था, स्नान करके आया था इतने में उसने औरों की सैकड़ों पीढ़ियां होती हुई देखीं। "हाय ! यह क्या है ? क्षण भर तो कोई टिकता ही नहीं ! क्षण क्षण जन्मना और मरना, इससे क्या फल ?" ऐसा विचारता था। वह देवताओं के दिन और घन्टे के हिसाब से देखता था, उसे सब बाइस्कोप का तमाशा मालूम होता था। जो चित्र दीखा, क्षण भर में भाग गया ! ऐसा देख कर चिरंजीवी संसार से विरक्त होकर हिमालय पर्वत पर चला गया। यह ही संसार समुद्र की लीला है ! भला उसमें सज्जन पुरुष किस प्रकार आस्था करे ? चिरंजीवी जीव है, उसके सामने शरीरों की और संसार की अनेक बदलियां हुआ करती हैं।

तीसरा प्रश्न यह है कि हमेशा चिंतवन किसका करना चाहिये ? उसके उत्तर में संसार के मिथ्यापने और शिव रूप आत्म तत्त्व का चिंतवन कहा है। चिंतवन दो प्रकार का है, एक छोड़ने के भाव का दूसरा ग्रहण करने के भाव का। संसार मिथ्या होते हुए भी अज्ञान से सच्चा हो रहा है, यह सच्चापना सच्चे के चिंतवन से दृढ़ हुआ है। संसार को सब मिथ्या समझते हैं परन्तु मिथ्या समझा हुआ संसार भी भूल में डाल कर

सच्चे भाव में घुस जाता है। यह सच्चा भाव न होने के लिये हमेशा यह चिंतवन करना चाहिये कि संसार मिथ्या है। सच्चा और मिथ्या परस्पर विरोधी हैं। सच्चे भाव को हटाने के लिये उसके विरोधी मिथ्या भाव को खड़ा करना चाहिये। अज्ञान अनादि काल का होने से बहुत दृढ़ है। जो जितना दृढ़ होता है उसके हटाने को उतना ही दृढ़ विरुद्ध भाव करना पड़ता है। संसार मिथ्या है, यह विरुद्ध भाव है, ऐसा चिंतवन थोड़े काल तक करने से काम नहीं चलता। अहर्निश ऐसा चिंतवन करने वाले को ही संसार मिथ्या प्रतीत होता है। संसार मिथ्या है, केवल ऐसा कहने वाले को संसार मिथ्या नहीं होता। विचार कर देखा जाय तो संसार में सत्यता नहीं है, सत्यता सत्य की है, वह सत्य निर्विकारी है। निर्विकारी की सत्यता को विकारी में मानकर संसार को सच्चा समझना अज्ञान है। अज्ञान की निवृत्ति हुए विना परम पद की प्राप्ति होना अशक्य है।

जिसके साथ कुछ भी सम्बन्ध अथवा स्नेह नहीं होता ऐसे माता पिता की पुत्री अपनी प्राण प्रिय बन जाती है और उसके मुख में से निकले हुए शब्द विधाता के लेख समान सर्वथा मान्य माने जाते हैं। उसके वचन चाहे योग्य हों या अयोग्य, विषयांध पुरुष उनका अनुसरण करता है। जिसको प्राणप्रिया मान रक्खा है, वह कई प्रसंगों में विष से विशेष बुरी मालूम होती है और लोक परलोक दोनों को बिगाड़ती है, पुत्र का भी इसी प्रकार है। सब संसार स्वार्थमय है, आज है कल नहीं है, इस

प्रकार प्रत्येक पदार्थ विनाशी है उसको ऐसा मानना कि हमेशा बना रहेगा, कितनी भूल है! इसी कारण विद्वान् इसमें ममत्व नहीं करते और मिथ्या-झूंठा कहते हैं, धन जमीन आदिक सब इसी प्रकार दुःख देने वाले हैं, आश्चर्य यह है कि जगत् जड़ है, झूंठा है तो भी दुःख का हेतु है, यह अज्ञान का प्रभाव है। अज्ञान से जिसको सच्चा दीखता है, उसी के लिये सच्चा होता है और उसी को दुःख देता है इसलिये उसमें आस्था न करनी चाहिये। जब जब वह सच्चा दीखे, विचार में आवे उसी समय ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि यह झूंठा है, विनाशी है, मायिक है इसमें ये दोष हैं। ईश्वर में निष्ठा रखनी चाहिये। संसार प्रपंच रूप है, प्रपंच का सब व्यवहार संसारी है। हिताहित पशु पक्षी भी जानते हैं क्योंकि जब कोई लपका हुआ ढोर किसी के खेत अथवा घर में जाकर खा रहा होता है और मनुष्य के पैर की आहट सुनता है तो तुरंत ही भाग जाता है। यदि वह ऐसा न जानता हो कि मैं दूसरे का खा रहा हूं तो क्यों भागे? इस प्रकार पशु भी अपना पराया समझते हैं तब मनुष्य क्यों न समझे? जितना प्रपंच का व्यवहार है सब पर का-पराया है प्रकृति का है, आत्मा का नहीं है इसलिये उसे असत्य समझ कर ममता को त्यागना चाहिये। आत्मा का कोई धर्म नहीं है, सब व्यवहार अनात्मा का धर्म है। अनात्म की निवृत्ति हो जाय तो प्रपंच कहां रहे? भरत ने मृग के ऊपर ममता बांधी थी इसलिये उनको मृग जाति में जन्म लेना पड़ा था। जो संसार के अनेक पदार्थों में ममता बांध कर खूब आसन जमा कर बैठे हैं, उनको लाखों

करोड़ों जन्म तक दुःख हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जगत् का मिथ्यापना दर्शाते हुए एक संत ने अपने अनुभव का इस प्रकार वर्णन किया है:—

छोटेपन से मुझे ईश्वर की भक्ति थी—ईश्वर से प्रेम था। बाल्यवस्था होने से बुद्धि विकाश वाली नहीं हुई थी। मैं ईश्वर को जानता नहीं था परन्तु प्रेम था। ऐसे प्रेम का होना चाहे मेरे पूर्व जन्म के अनुसार हो चाहे ईश्वर भक्त माता पिता के समागम का फल हो। इस अवस्था में माला लेकर जाप करने और शंकर का पूजन करने में मुझे शर्म लगती थी। दुपहरी में एकान्त स्थान में खेलता हुआ चला जाता था, वहां अपने मन के माने हुए शंकर की पूजा करता था, हाथ जोड़ता, प्रार्थना करता और चुपके से चला आता था। यह नियम कई महीनों तक नियमित रीति से चला। उस समय मैं कुछ पढ़ता नहीं था और मेरा यज्ञोपवीत भी नहीं हुआ था। थोड़े दिन पीछे मेरे शरीर में शीतला निकली, शीतला ने सब शरीर पर अधिकार जमा लिया, कोई स्थान भी शीतला के फोड़ों से खाली न रहा। शरीर में गर्मी बहुत होती थी इसलिये किसी प्रकार भी चित्त में चैन न था। माता पिता रात्रि दिन पंखा झलते थे। एक समय मैं बेहोशी में पड़ गया और बकने लगा! ऐसी हालत देखकर सब ने मेरे शरीर रहने की आशा छोड़ दी थी। बेहोशी में मैंने जो दृश्य देखा था, वह आज तक मेरी आंखों के सामने ज्यों का त्यों खड़ा है, मैं उसे भूल नहीं सकता, मैंने देखा कि मैं मकान में खाट पर पड़ा हूँ, ऊपर की तरफ देखा

सो मकान जल रहा है। बहुत प्रचंड अग्नि लगा है, आसपास के मकान वाले अपने असबाब को छोड़ छोड़ कर भाग रहे हैं, मैं भी भागना चाहता हूँ, परन्तु उठा नहीं जाता! 'हायरे! चारों तरफ अग्नि ही अग्नि है, कोई दौड़ो मुझे निकालो, अरे! यहां कोई मनुष्य नहीं दीखता! मैं जल जाऊँगा! मुझसे उठा नहीं जाता! मकान की कड़ियां जल जल कर गिर रही हैं! छत टूट रही है!" ऐसा कहते कहते मुझे कुछ होश न रहा! माता, पिता, भाई, बहिन आदिक सब मेरे पास बैठे थे। मैं किसी को देखता न था, मेरी घबराई हुई आवाज से सब को निश्चय हुआ कि सन्निपात हो गया है। सब जोर जोर से बन्द मकान में हल्ला करने लगे। थोड़ी देर के पश्चात् मैं अपने भीतर सावधान हुआ और देखता क्या हूँ कि मैं जलते हुए मकान में नहीं हूँ एक मंदिर में पड़ा हूँ, मेरे सामने एक सन्त बैठे हैं। मुझे चेतन हुआ देखकर सन्त बोले "हे वत्स! मैं तेरी पुकार सुनकर तेरे जलते हुए मकान में पहुँचा, मैं तुझे वहां से यहां ले आया हूँ।" मैंने देखा तो मुझे कोई रोग न था, किसी प्रकार कमजोरी थी। सन्त कहने लगे "अब मैं जाता हूँ।" मैंने कहा "मुझे भी साथ ले चलो! मैं अकेला यहां न रहूँगा!" सन्त मुसकरा कर बोले "अच्छा! मेरे साथ चल!" यह कह कर संत पक्षी के समान आकाश में उड़े। मैं भी उनके साथ साथ उड़ने लगा। हम दोनों के पर नहीं थे परन्तु उड़ते थे। संत आकाश में मुझे एक दिव्य स्थान पर ले गये। वहां की स्त्रियां और सब पदार्थ बहुत सुन्दर थे। संत ने कहा "तू यहां रह,

मैं जाता हूँ !" मैंने कहा "मैं यहां नहीं रहूँगा, मुझे यहां के पदार्थ अच्छे नहीं लगते !" संत और मैं फिर उड़े। उनके साथ साथ फिर मैं एक और दिव्य स्थान में पहुँचा। वहां भी मेरा चित्त न लगा। फिर कई स्थानों में जाकर अन्त में एक प्रकाश का पहाड़ आया। उस पहाड़ पर मैं और संत पहुँचे ! वहां पहुंचते ही संत संत न रहे और मैं मैं न रहा ! दोनों एक प्रकाश रूप ही हो गये ! फिर मुझे कुछ पता नहीं, दूसरे दिन सुबह को जब मैं शरीर से जाग्रत् हुआ तो उसी खाट पर उसी घर में बीमार पड़ा हूँ। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ! मैं विचारने लगा "कल क्या हुआ था ? कल की सब रचना सच्ची थी कि आज बीमार पड़ा हूँ यह सच्चा है। कल न तो खाट थी, न बीमारी थी, न घर था ! यह सब कल न था झूंठा था, कल का दृश्य कल सच्चा था, आज वह नहीं है, झूंठा दीखता है, तब किसको सच्चा और किसको झूंठा समझूं !" शंका बनी रही, दुःख के मारे वाचा भी यथार्थता से अपना कार्य नहीं कर सकती थी। तीन मास के बाद मेरी बीमारी गई, मैं घूमने फिरने लगा। उस शंका को सबसे पूछता था, किसी से ठीक उत्तर नहीं मिलता था। शंका दिन पर दिन दृढ़ होती गई, ईश्वर पर प्रेम भी बढ़ता गया। मैंने यह पूर्ण निश्चय कर लिया कि जो कुछ दीखता है, चाहे कौनसी भी अवस्था में हो, मिथ्या है, निवृत्ति की तरफ मेरी रुचि बढ़ती गई। मैं त्यागी हुआ और कृपालु संत के उपदेश से मुझे अपने स्वरूप का बोध हुआ। मैंने जो दृश्य देखा था, बीमारी का था तो भी भविष्य का अर्थ सूचक था।

यह दृश्य स्वप्न का नहीं था, सन्निपात का था। मकान रूप संसार में मैं जल रहा हूं, बाहर निकलने का यत्न करता हूं, कोई निकालता नहीं है। सन्त ने ही उपदेश देकर जलते हुए संसार में से निकाला। जो जो दिव्य स्थान दिखलाये गये थे, वे स्वर्गादि लोक थे। जब उन लोकों में मेरी रुचि नहीं हुई तिरस्कार हुआ तब प्रकाश के पहाड़ रूप आत्म स्वरूप को प्राप्त हुआ, यह सब संसार मिथ्या ही है।

जगत् की सत्यता हटाने के निमित्त 'संसार मिथ्या है' ऐसा चिंतवन करते रहने की आवश्यकता है। जब यह सब मिथ्या है तो सत्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्म तत्त्व सत्य है. संसार का मिथ्यापने से और आत्मा का सत्यता से चितवन करना चाहिये। इन दोनों प्रकार का चिंतवन होने से सत्य स्वरूप में स्थिति होती है। आत्मा सच्चिदानन्द रूप है। सब की उत्पत्ति और नाश होता है आत्मा का नहीं, आत्मा अपने स्वरूप में हमेशा जैसे का तैसा ही रहता है। आत्मा न तो बढ़ता है न घटता है, न शुद्ध होता है, न विकारी होता है, वह तो नित्य शुद्ध ही है। अज्ञान-उपाधि से आत्मा को झूंठ मूंठ बिगाड़ते हैं। आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता तो भी अज्ञान से आत्मा को अशुद्ध हुआ दुःखी हुआ मानते हैं। आत्म तत्त्व का चिंतवन बिना ज्ञान नहीं होता। जगत् को मिथ्या जाने बिना और आत्मा को सत्य जाने बिना आत्मा का चिंतवन नहीं होता। ज्ञान बिना कभी मोक्ष नहीं होता। सैकड़ों, हजारों प्रकार के शुभ कर्म करने से अनेक प्रकार की उपासना करने से अथवा

उग्र तपश्चर्या करने से मोक्ष नहीं होता । वैराग्य से और ज्ञान से मोक्ष होता है । जिसको अपने कल्याण की इच्छा हो, जिसे मनुष्य जन्म का सार्थक करना हो, उसे जगत् मिथ्या है, आत्मा सत्य है, जीव ही वस्तुतः ब्रह्म है, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥३१॥

कंठं गता वा श्रवणं गता वा,
प्रश्नोत्तराख्या मणिरत्नमाला ।
तनोतु मोदं विदुषां प्रयत्नात्,
रमेश गौरीश पदौ सुसेव्यौ ॥३२॥

अर्थः—साधन, साध्य और विषय के जिसमें प्रश्न हैं और सारगर्भित जिसके उत्तर हैं, ऐसा प्रश्नोत्तर रूप से मणिरत्नमाला नाम का यह ग्रन्थ है, उसको जो कण्ठ में धारण करे यानी पढ़े अथवा सुनावे और जो उसे सुने और वर्ते तो जिस प्रकार लक्ष्मी पति-विष्णु और गौरी पति-शंकर की सेवा से विद्वानों को आनन्द प्राप्त होता है इसी प्रकार आनन्द हो ।

छप्पय ।

प्रोये मणि अरु रत्न, यत्न से सुन्दर चुनकर ।
मणि रत्नों की माल, बनी है यह प्रश्नोत्तर ॥
करि प्रयत्न विद्वान्, कान से सुनकर धारे ।
धरे कण्ठ के मध्य, सद्य सुख होय विचारे ॥
पावत परमानन्द सो, द्वन्द्व बन्ध मिटता जगत ।
ज्यों सेवत हरिहर चरण, विज्ञ पुरुष सहजै तरत ॥३२॥

विवेचन ।

ग्रन्थ की समाप्ति में ग्रन्थ और फल को समझाते हैं। इस ग्रन्थ का नाम मणिरत्नमाला रक्खा है। शिष्य गुरु के सम्वाद रूप से ग्रन्थ की रचना की गई है। भौतिक पदार्थों में रत्न का मूल्य विशेष होता है। जैसे रत्न सुन्दर और प्रकाश वाले होते हैं इन्हीं प्रकार जो बहुमूल्य उपदेश के वाक्य हैं वे भी सुन्दर और प्रकाश वाले होने से रत्न के समान हैं। जिस प्रकार श्रीमान् के पास ही रत्न होते हैं इसी प्रकार जिसके पास उपदेश रूप रत्न होते हैं वह भी श्रीमान् ही होता है। भौतिक रत्नों से सदुपदेश वाक्य रूप रत्नोंकी विशेषता है। रत्न संभाल कर संदूक आदिक में बन्द करके रक्खा जाता है, रत्न चोरी न चला जाय इसका भय रहता है परन्तु यह उपदेश रूपी रत्न इन उपाधियों से रहित होता है। काम क्रोधादि चोरों को पास आने नहीं देता। सदु-पदेश वाक्य रूपी रत्न एक समय प्राप्त होने के बाद कभी भी जा नहीं सकता। इसलिये भौतिक रत्न से इसकी विशेषता है। भौतिक रत्न का मूल्य तो जौहरी बता सकता है परन्तु इस रत्न का मूल्य किसी से भी नहीं हो सकता। इतना अमूल्य होते हुए भी जिज्ञासुओं को सहज में प्राप्त होजाता है। मणि भी रत्न ही है। जो रत्न घिस कर गोल मणि की आकृति का बनाया जाता है, वह मणि कहा जाता है। ऐसे घिस कर बनाया हुआ गोल मणि है और सामान्य आकृति वाला रत्न है। इस ग्रन्थ में मणि और रत्नों को अनेक शास्त्रों में से अनुभव द्वारा चुन चुन कर माला के

रूप में ग्रथित किया है इसलिये इसका नाम मणिरत्नमाला है। आचार्य ने मुमुक्षु जनों पर महान् करुणा करके इस माला को प्रकट किया है। इसमें साधन, साध्य और विषय का भली प्रकार से वर्णन है। मुमुक्षुओं को किस किस साधन की आवश्यकता है यानी क्या क्या ग्रहण करने योग्य और क्या क्या छोड़ने योग्य है, यह सब बताया है। मोक्ष की इच्छा वाले को मुमुक्षु कहते हैं। मुमुक्षुओं को थोड़ी बहुत अन्तःकरण की शुद्धि करना शेष होता है इसलिये उसके निमित्त जो विधि निषेध रूप आज्ञा है, वह साधन कहा जाता है। साधन का करने वाला मुमुक्षु है और विषय परम तत्त्व है। साधन करने वाला साधक है, उसकी क्रिया साधन है और साधन से जो साध्य किया जाता है, वह साध्य अथवा साधक का विषय कहलाता है इस प्रकार साधक, साधन और साध्य त्रिपुटी के वर्णन सहित जिसकी अद्वैत में एकता की गई है उस अद्वैत रूप परम पद को प्राप्त करने के निमित्त यह मणिरत्नमाला है। इसका अधिकारी वह पुरुष है जो इसे कण्ठ में धारण करे अथवा कर्ण में धारण करे। जो इस अमूल्य माला को धारण नहीं कर सकता, वह इस मणिरत्नमाला का अधिकारी नहीं है। अधिकारी विना उपदेश सफल नहीं होता इसलिये जिस अधिकारी पुरुष ने इस माला को कण्ठ में अथवा कर्ण में धारण किया है, उसको जो फल होता है उसका कथन करते हैं। द्वन्द्व दुःखों का मिटना और सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति रूप परमानन्द फल है। प्रथम तो मणि और रत्नों का मिलना कठिन है, कभी एक दो प्रयत्न से मिल सकते हैं परन्तु

माला बनने के योग्य मणि और रत्नों का एकत्र करना आचार्य का ही सामर्थ्य है और सामर्थ्य का उपभोग करने वाला साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी ही होता है। जो इस प्रकार का अधिकारी नहीं है किंतु उसे प्रेम हो तो मणिरत्नमाला अधिकार की न्यूनता को पूर्ण करके उसे अधिकारी बना लेती है।

कामना से, निष्कामना से अथवा अच्छा है ऐसा समझ कर शास्त्र के श्रवण में कई मनुष्यों की रुचि देखी जाती है। जब कोई विद्वान् व्यास अथवा सन्त किसी शास्त्र का श्रवण कराते हैं तब लोग कथा सुनने को पहुँच जाते हैं परन्तु शास्त्र को जिस प्रकार सुनना चाहिये ऐसे सुनने वाले उनमें बहुत कम होते हैं! किसी किसी में कथा श्रवण करने की योग्यता नहीं होती, बुद्धि विषम-मलिन होती है। कोई कोई चंचलता के कारण कथा स्थान में श्रवण करने को बैठकर भी कथा श्रवण नहीं करते, बैठे बैठे मन से दूर दूर की सैर किया करते हैं। कथा के शब्दों के साथ कर्णेन्द्रिय और मन एक न होने से कथा में क्या कहा, यह सुना ही नहीं जाता। ऐसी कथा सुनना सुनना नहीं है—श्रवण में धारण करना नहीं है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि गुरु मुख से प्राप्त हुए वाक्यों से परब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होता है। वाणी से जिसका बोध नहीं होता ऐसे परब्रह्म का बोध गुरु वाक्य से लक्ष द्वारा होता है। जिसका कर्ण शब्द को पकड़ नहीं सकता ऐसे श्रवण करने वाले को परब्रह्म का तो क्या, कर्म अथवा व्यवहार का भी बोध नहीं हो सकता। प्रथम तो अधिकारी के लक्षणों से युक्त

हो, दूसरे शब्द और कथन करने वाले पर पूर्ण भक्ति हो, तीसरे कर्णेन्द्रिय शब्द के साथ जुड़ जाय, मन भी मिला रहे, चौथे शब्द के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के समझने योग्य निर्मल और तीव्र बुद्धि हो तब शब्द में से लक्ष्यार्थ को ग्रहण करने से बोध प्राप्त होता है, ऐसा न हो तो परब्रह्म का अपरोक्ष बोध होना असम्भव है।

एक विद्वान् नैष्ठिक पंडितजी एक स्थान पर रामायणकी कथा सुनाया करते थे। कथा श्रवण करने को बहुत से मनुष्य जाया करते थे। श्रोताओं को भली प्रकार से बोध हो ऐसी युक्ति प्रयुक्तिसे पंडितजी समझाया करते थे, कई मनुष्य नियम से कथा सुनने आया करते थे, एक दिन भी कथा में आये विना नहीं रहते थे, कथा को आरम्भ से अन्त तक सुना करते थे। एक मनुष्य नित्य सब से प्रथम आता और कथा समाप्त होने के बाद सब से पीछे जाता था, यह मनुष्य पंडितजी के सामने ही बैठा करता था, कथा मन लगा कर सुनता हो ऐसा दीखता था। कोई हँसी का प्रसंग आ जाता तो सबके साथ हँसा भी करता था। कई महीने के बाद कथा समाप्त हुई, पंडितजी का पूजन चढ़ोतरी आदिक की क्रिया हो चुकी और पंडितजी जब कथा स्थान से विदा होकर चलने लगे तब उस मनुष्य ने पंडितजी को रोक कर प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर कहा "महाराज! आपने रामायण तो समाप्त की परन्तु कथा के बीच में आपने कहा था कि सीता का हरण (हरिन) हो गया, सीता हरण के रूप में ही रही या मनुष्य के शरीर में आगई, यह तो आपने कुछ कहा ही नहीं!" दो चार

श्रोता जो खड़े थे इस प्रकार के प्रश्न को सुनकर हँसनें लगे। पंडितजी ने उन सबको रोक कर कहा "सीधे मनुष्य की हँसी क्यों करते हो? अभी तक उसकी सीता-शांति तो पशु ही बनी है! (मनुष्य की तरफ देखकर) भले मानस! तू हरण का अर्थ ही नहीं समझा! तूने रामायण की कथा सुनी, सब से प्रथम आता था, सब से पीछे जाता था परन्तु कुछ न समझा! जैसे कहा जाता है कि 'भैंस के आगे भागवत्' इस प्रकार मेरा कथन तेरे सामने हुआ है; भैंस मोटी बुद्धि वाली पशु है, भला उसे सुनाई हुई भागवत् का क्या फल! तू तो मनुष्म है परन्तु मोटी बुद्धि के कारण कुछ समझ न सका!" मनुष्य बोला "हां! यह तो मैं जानता हूं कि मेरी बुद्धि मोटी है परन्तु यह तो कहो कि सीता हरणकी हरण ही रही कि मनुष्य हुई?" पंडितजी उसकी बुद्धि पर हँसने लगे और उससे पीछा छुड़ाने को उन्होंने कह दिया 'मनुष्य हो गई! अब तो समझ गया!" मनुष्य प्रसन्न हुआ और पंडितजी उसकी मूर्खता पर हँसते हुए घर चले गये।

जिस मनुष्य की बुद्धि इस प्रकार की होती है, वह मनुष्य होते हुए भी शास्त्र का अर्थ समझने में असमर्थ होता है, उसको कथा सुनने का फल प्राप्त नहीं होता। विशेष करके देखा जाता है कि कथा के समय में नींद अवश्य आ जाती है। यदि कोई खेल-नाटक देखना हो तो रात्रि भर नींद नहीं आवेगी परन्तु कथा मे सोने का समय न होते हुए भी नींद आ जाती है। बिचारी नींद को कथा के समान फुरसत का समय कहां मिले! प्रथम तो नींद ही आ जाती है, नींद न आई तो मन रूप घोड़े

पर चढ़ कर संकल्प रूप सवार कलकत्ते बम्बई की सैर किया करता है अथवा नौकरी, व्यापार लेन देन, शत्रु आदिक की बातों को विचारा करता है जब वाच्यार्थ ही समझ में नहीं आता तो लक्ष्यार्थ की बात ही कहां! यह सब बुद्धि की मलिनता और भाव की न्यूनता है। व्यवहार से लाभ अलाभ प्रत्यक्ष दीखता है, कथा का लाभ मन्द बुद्धि वाले को दीखता नहीं इसलिये व्यवहार का काम करते हुए कभी नींद नहीं आती अथवा अपनी स्तुति निंदा सुनते हुए भी नींद नहीं आती। व्यवहार में फँसे हुए मनुष्यों का यह हाल है। ऐसे लोग मुख से भले कहा करें कि हमको कथा पर प्रेम है। परन्तु व्यवहार में उनको जो प्रेम होता है उससे बहुत ही न्यून प्रेम कथा पर होता है। कथा सुनने वाले की कर्णेन्द्रिय के साथ जुड़ा हुआ मन कथाकार के शब्दों से जहां किंचित् भी हटा फिर कहां की कथा! फिर तो मन सैर करने लगता है अथवा नींद में पड़ जाता है। नींद आने वाले को समझना चाहिये कि उसका लक्ष कथा के शब्दों से अवश्य चूक जाता है, लक्ष चूकने से ही नींद आ जाती है, अथवा मन भटका करता है। मोटी बुद्धि वाला सूक्ष्म विचार के शब्दों के अर्थ को जब समझ नहीं सकता तब उसका चित्त शब्दों के ऊपर से हट जाता है, चित्त हटते ही कुछ सुनाई नहीं देता और न कुछ समझ में आता है। जैसे खिलोने का घोड़ा नाम मात्र का घोड़ा है, सवारी के काम का नहीं है इसी प्रकार कथा को रहस्य रहित सुनना नाम मात्र का सुनना है। जब सुनना ही नहीं है तो मनन अथवा निदिध्यासन तो

होगा ही कहां से ! इसलिये जिस विषय की कथा होती हो उस विषय का अधिकारी होना चाहिये। यदि अधिकारी न हो तो भी चित्त वृत्ति को कथा के शब्दों के साथ जोड़ना चाहिये और जो बात समझ में न आवे उसको उसी समय कथाकार की आज्ञा हो तो पूछना चाहिये। 'मेरा प्रश्न ठीक न हुआ तो सब के सामने मेरी हंसी होगी' ऐसा भाव रखना ठीक नहीं है। हंसी भले हो प्रश्न करना ही योग्य है क्योंकि हम कथा के स्थान में श्रोता होने से पूर्ण नहीं हैं, अपूर्ण की हंसी में हानि ही क्या है ? जब कथाकार समझावेगा तो कुछ न कुछ समझ में अवश्य आवेगा। जिस कथा मंडप में कथा के समय चालू प्रसंग में शंका करने का नियम न हो वहां जो समझ में न आया हो उसे याद रख लेना चाहिये और कथा की समाप्ति के वाद समाधान कर लेना चाहिये अथवा कथाकार से एकांत में समाधान कर लेना उचित है, न समझी हुई वात विना समझे कभी भी न छोड़ना चाहिये, जिसको शंका रह जायगी-समाधान न होगा, ऐसा सुनने वाला कितनी ही कथा सुने, उसको कथा सुनने का यथार्थ फल नहीं होगा। सुनना मात्र सुनने के लिये ही नहीं है किंतु समझने के निमित्त है, यदि समझा न जायगा तो सुनना व्यर्थ है। कई मनुष्य श्रवण करना चाहते हैं परन्तु अपनी प्रतिष्ठा और अहंकार के भाव से सब के साथ बैठ कर सुनना नहीं चाहते, उनकी प्रतिष्ठा और अहंकार ही उन्हें कथा श्रवण से वंचित रखता है। कई सुनने में सब के साथ बैठते तो हैं परन्तु सब के सामने शंका करने में संकोच करते हैं और न समझे हुए को समझने

के लिये अपनी प्रतिष्ठा भंग होना समझ कर कुछ पूछते नहीं हैं, चुप बैठे रहते हैं, ये भी पूर्ण लाभ नहीं प्राप्त कर सकते इसलिये जब कथा सुनने को जाय तो अपने अभिमान और प्रतिष्ठा को घर पर छोड़ कर जाना चाहिये, यदि उनको लेकर जायगा तो अभिमान का परदा कुछ भी धारण करने नहीं देगा। कई मनुष्य जहां शास्त्र प्रवचन होता है, वहां कौन कौन मनुष्य आता है, प्रवचन करने वाले की क्या योग्यता है, यह जानने के निमित्त जाते हैं, ऐसे लोग कुछ फल प्राप्त नहीं कर सकते। जब तक प्रवचनकार और उसके कहे हुए शास्त्र में श्रद्धा न होगी तब तक ऊसर भूमि में पड़े हुए बीज के समान शास्त्र के शब्दों का कुछ भी फल न होगा।

जैसे विधि युक्त सुनना ही ठीक ठीक फल देता है ऐसे ही कंठ करना, दूसरे को सुनाना भी जब विधि युक्त होता है तब ही यथार्थ फलदाता होता है। शास्त्र को कंठ करना कंठ में धरना नहीं है, तोता भी बहुत से शब्द कंठ करके बोलता है, तोते का कंठ करना तोते के निमित्त नहीं है। तोता शब्दों का उच्चार मात्र ही करता है, समझता नहीं है। तोते की वाणी से अन्य भले प्रसन्न हों परन्तु तोते की वाणी तोते को प्रसन्न करने वाली नहीं होती इसी प्रकार शास्त्र को विना समझे हुए कंठ कर लेना दूसरों के निमित्त ही है, कंठ करने वाले को फलदाता नहीं होता। जो दूसरों को सुनाने के निमित्त कंठ किया जाता है अथवा "मैं मुख पाठ करूँगा तो मेरी प्रतिष्ठा बढ़ेगी" इस भाव से कंठ किया जाता है, वह तुच्छ अल्प फल ही देता है। अपने

समझने के निमित्त ही कंठ करना, उच्चार करना फलदाता होता है। जैसे करछुली सब पदार्थों में विचरती हुई भी स्वाद को नहीं जानती इसी प्रकार विना समझे कंठ करना निष्फल हैं, समझने के लिये ही कंठ करना ठीक है क्योंकि समझने के निमित्त कंठ करने वाला कंठ करने के वाद समझने के प्रयत्न में लगता है। संत महात्माओं के सिवाय शास्त्र की कथा कहने वाले पंडित—व्यास का शास्त्र सीखना वहुधा उसके निमित्त नहीं होता क्योंकि आज कल शास्त्र का सीखना धंधा—आजीविका का साधन रूप होता है। धंधे को यथार्थ फलित करने वाले भी आज कल देखने में नहीं आते क्योंकि वहुधा देखा जाता है कि ऐसे लोग मात्र शब्दोच्चार ही करते हैं, शब्दों का अर्थ नहीं समझते, यदि कोई समझता भी है तो उसके अनुसार वर्ताव नहीं करता, ऐसा पढ़ना-कंठ करना तो चांवलों को छोड़ कर छिलकों को पकड़ने के समान है। भौतिक कामना की पूर्ति के निमित्त शास्त्र पढ़ना कितनी मूर्खता है! कामना का स्वरूप ही ऐसा है कि जितनी जितनी पूर्ति होती जाती है उतनी उतनी कामना वढ़ती जाती है, तृप्ति-शांति कभी नहीं होती! कामना का साधन रूप सत् शास्त्र! हाय! कितनी विपरीतता! सत् शास्त्र तो वह वस्तु है, जिसके रहस्य को जानने से सब कामनाओं की पूर्ति हो जाती है, रहस्य जानने वाला आप्तकाम हो जाता है। शास्त्र रहस्य जानने से इन्द्र का वैभव भी तुच्छ हो जाता है। इस प्रकार परम अखंडित अनात वैभव को प्राप्त

कराने वाले शास्त्र की यह दुर्दशा !! जैसे शास्त्रवक्ता होते हैं ऐसे ही श्रोता भी मिल जाते हैं। श्रोता समझते हैं कि पंडितजी द्रव्य प्राप्ति के निमित्त कथा कह रहे हैं और पंडितजी की दृष्टि इस पर रहती है कि कथा सुनने वालों में कौन कौन श्रीमान् है, कौन कितना चढ़ावेगा ! पंडितजी का भाव द्रव्य पर होता है, सदुपदेश पर नहीं होता ! पंडितजी यह नहीं देखते कि मेरी कथा से किसको कितना फल हुआ अथवा कौन सदुपदेश के योग्य है ! भला ! जब वक्ता का भाव ही सदुपदेश पर न हो तो उसके कहे हुए शब्दों का श्रोता पर प्रभाव ही क्या होगा ! कई चालाक कथा करने वाले तो श्रोताओं के खेंचने के निमित्त सितार, तवला, हारमोनियम आदिक संग में रखते हैं और नाटक के विदूषक जिस प्रकार हास्य रस को बढ़ाते हैं इसी प्रकार कुछ कहीं का और कुछ कहीं का कह कर श्रोताओं को रिझाते हैं। वे समझते हैं कि जिसमें श्रोता प्रसन्न हों उसमें ही हमारी प्रसन्नता है; जब वे प्रसन्न होंगे तब ही तो हमको द्रव्य देंगे ! कथा का कोई नाम नहीं, कुछ रामायण का, कुछ महाभारत का, कुछ शिवपुराण का, जो जहां का आया, बक दिया, लोगों को खुश कर दिया, हो गई कथा ! करो पूजन ! ऐसे चालाक ढोंग वालों के पास आंखों के अन्धे और गांठ के पूरे बहुत से पहुँच भी जाते हैं ! वाह ! कलियुग की वलिहारी !!

ऐसी कथाओं के सुनने वाले भी विशेष करके सद्भाव वाले नहीं होते। वे समझते हैं, क्या करें ? बस्ती-मोहल्ले में पंडितजी

कथा कहने को बैठे हैं, कुछ न कुछ देना ही पड़ेगा तब चलो, एक दो दिन हो भी आवें, वहां का तमाशा भी देखलें, बाहर टहलने न गये, वहां ही कुछ देर बैठे, कोई न कोई शब्द कान में पड़ ही जायगा। शास्त्र के शब्द अवश्य शुभ फल करेंगे! ऐसे भाव से जाते हैं, कभी गये कभी न गये, कभी कुछ सुना कभी नींद में पड़ गये! कभी किसी की मुलाकात के निमित्त ही कथा में पहुंच गये! पंडितजी की कथा की समाप्ति में जो कुछ देते हैं उसमें भी बहुत कम मनुष्यों का सच्चा भाव होता है। जैसे सरकार का कर—टैक्स जबरन देना पड़ता है इसी प्रकार कथा में देना भी मोहल्ले का टैक्स रूप समझते हैं। कोई देने को मने करता है तो आसपास के शरमा कर अथवा जबरन भी ले लेते हैं। इस प्रकार कथा, पंडित, सुनने का भाव और दक्षिणा सद्भाव वाले न होने से मन समझौती ही कथा सुनना और दक्षिणा देना है। जो कभी कथा सुनता ही नहीं है, उसके लिये विना सद्भाव भी कथा सुनना बुरा नहीं है क्योंकि यदि आज सद्भाव रहित सुनेगा तो कल या आगे सद्भाव होना भी संभव है।

जब कोई ठीक कथन करके समझाने वाला होता है तो श्रोताओं को एक प्रकार का आनंद होता है, उनका हृदय प्रफुल्लित होता है, कोई कहता है:—"अहा हा! आज कथा में क्या आनन्द वर्षा! पंडितजी ने यथार्थ दर्शा दिया!" दूसरा कहता है "हां! क्या कहना! पंडितजी तो पंडितजी ही हैं! ऐसा वक्ता हमने आज तक कोई नहीं देखा!" कथा के अमृत के संबंध में एक प्रचलित दृष्टांत इस प्रकार है:—

एक योग्य पंडितजी कथा किया करते थे। वे ब्रह्मनिष्ठ थे और सद्भाव से कथा किया करते थे। वे सन्तोषी भी थे और इस भाव से कथा श्रवण नहीं कराते थे कि मुझे इस कथा में इतना द्रव्य प्राप्त होगा। जैसे शरीर के निमित्त आचार हुआ करता है ऐसे ही कथा सुनाना भी उन्होंने अपना एक नियत कार्य समझ रक्खा था। उनकी कथा में बहुत से सच्चे भाव वाले श्रोता आते थे। ब्रह्मनिष्ठ पंडितजी के वाक्यों में ब्रह्मनिष्ठता झलकती थी। शुभ अधिकारियों पर उनके समझाये हुए वाक्यों का अत्यन्त प्रभाव पड़ता था। बहुत से मनुष्य अपना कर्तव्य और हिताहित समझने लगे थे। सत् शास्त्र के रंग में रंगे हुए कई श्रोता पंडितजी के उपदेश की प्रशंसा किया करते थे, बहुत से अपनी शक्ति के अनुसार उनके उपदेश का आचरण भी किया करते थे। कई श्रोताओं को अपरोक्ष ज्ञान भी हो चुका था और कई अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में थे। पंडितजी के वाक्य इस प्रकार की तेजी और निर्मलता से भरे हुए थे कि जो श्रोता किंचित् अशुद्ध थे वे भी शुद्ध हो गये थे। कई दुराचरण में प्रवृत्त उपदेश सुन कर सदाचार में प्रवृत्त हो गये थे। जिस शहर में पंडितजी रहते थे वहां के सज्जन उनकी प्रशंसा ही किया करते थे। जहां वे कथा करते थे, वह एक चौराहा था, एक तरफ कुछ पेड़ थे, उनके नीचे कथा हुआ करती थी। एक दिन बहुत से कथा सुन रहे थे। पंडितजी से थोड़ी दूर पर एक पेड़ की आड़ में एक मनुष्य बैठा था। कथा का आरम्भ होते ही उसे नींद आ गई। नींद के साथ ही वह लेट गया। कथा के प्रसंग में

पंडितजी ने भली प्रकार ब्रह्म निरूपण किया। जो नित्य के आने वाले थे और कुछ समझने लगे थे वे अत्यन्त प्रसन्न हो रहे थे, जिस तरफ वह मनुष्य नींदमें पड़ा हुआ था उस तरफसे एक कुत्ते का पिल्ला मनुष्यों के भीतर घुस आया। जो कुत्ते से बहुत घृणा करने वाले थे वे उसे भगाने लगे, पिल्ला घबराता हुआ उस सोते हुए मनुष्य के ऊपर होकर कूद गया। घबराहट में उसका कुछ पेशाब निकल गया और सोते हुए मनुष्य के मुख में पड़ गया, परन्तु वह जाग्रत् न हुआ। समाज जब अत्यन्त प्रसन्न हुई तब वाह! वा का शब्द हुआ तब वह सोता हुआ मनुष्य नींद से सचेत होकर उठ बैठा। इतने ही में कथा समाप्त हुई सब अपने अपने स्थानों को जाने लगे। सोते हुए मनुष्य से एक उसके साथी ने कहा "कहो! आज कथा में कैसा अमृत वर्षा? तुमने उसका पान किया या नहीं? अहा! हा! क्या ही अमृत का स्वाद था!" सोने वाला मनुष्य बोला "अमृत तो अमृत ही था! अब स्वाद की पूछते हो! अमृत की कुछ बूदें मेरे मुख में भी पड़ी थीं! वह तो कुछ खारी सा था!" इतने में एक मनुष्य जो सोते हुए मनुष्य के पास बैठा हुआ था और उसके सो जाने का हाल जानता था, बोल उठा "वाह! अमृत में खारीपन कैसा? तुमको खबर क्या? तुम तो सो रहे थे! तुमने अमृत का पान मूत्र किया! एक पिल्ला तुम्हारे ऊपर से घबराता हुआ भागा था, उसके मूत्र का पान किया होगा! वह ही खारी होता है!" सब हँसने लगे! सोया हुआ मनुष्य चुप हो गया। वह जानता था कि मैं अवश्य सो गया था जैसे यह कहता है, ऐसा संभव है,

बेशर्मी लाद कर घर को चल दिया। क्या यह कण्ठ में धारण किया हुआ कथा का अमृत था ? क्या कथा का अमृत इस प्रकार धारण किया जाता है ? न तो यह कथा का श्रवण है, न ब्रह्मामृत कण्ठ में धारण करना है। जिससे अज़रामृत प्राप्त हो वह ही अमृत होता है। कथा के अमृत को समझना चाहिये, धारण करने की शक्ति चाहिये जिस प्रकार धारण किया जाय, वह युक्ति चाहिये। कथामृत का पचाना कोई सहज बात नहीं है! कथामृत-ब्रह्मामृत सिंहणी के दूध के समान है। जैसे सिंहणी का दूध सुवर्ण के पात्र सिवाय अन्य पात्र में नहीं टिक सकता, पात्र को फोड़ कर निकल जाता है इसी प्रकार जिसको सब संसार शून्य हो गया हो, संसार में तपायमान होकर निर्मल सुवर्ण बन गया हो, उसमें ही ब्रह्मामृत टिकता है। सोम वल्ली को पान करके कुलीन ब्रह्मनिष्ठ ही पचा सकता है, दूसरा पान करे तो वमन करके निकाल देता है, यदि कभी गधा सोमवल्ली का पान करले तो मर ही जाता है इसी प्रकार ब्रह्म रस के योग्य ही ब्रह्मामृत का पान कर सकते हैं।

ब्रह्मामृत श्रवण करने अथवा कण्ठ करने के बाद विद्वान् पुरुष को प्रयत्न पूर्वक उसको आचरण में लाना चाहिये। यदि वह आचरण में न आवेगा तो फल नहीं होगा। सुनना सहज है परन्तु सुन कर गुनना कठिन है क्योंकि अनादि काल से जीव अविद्या में फँसा हुआ है अनेक योनियों में अनेक जन्म हो चुके हैं, सब योनियों में मायिक पांच विषयों का ही भोग करता आया है, भोग के सिवाय जीव की प्रवृत्ति अन्य में नहीं हुई है इसलिये

स्फुट मनन का पक्का हुआ ऐसा अभ्यास एक वार सुनने समझने से सिद्ध नहीं होता। शास्त्र के ऊपर श्रद्धा वाले शास्त्र के वाक्यों को झूंठ नहीं मानते परन्तु जब तक अन्तःकरण शास्त्र के वाक्यों को सम्पूर्ण पकड़ता नहीं तब तक यथार्थ बोध नहीं होता। छोटे और बड़े, गरीब और श्रीमान समय पर कहते हैं कि जगत् मिथ्या है, जगत् में कुछ सार नहीं है, सब जहां का तहां रह जाता है, एक ईश्वर सर्व व्यापक सब को देखने वाला है। ऐसा कहते हुए भी अन्तःकरण में ऐसा नहीं मानते। जब तक जगत् की सच्चता निवृत्त नहीं होती, जगत् तुच्छ रूप नहीं भासता तब तक शास्त्र के उपदेश का असर नहीं होता। ब्रह्मचर्या एक महान् नदी के बहते हुए जल के समान है। जैसे नदी में से चाहे जो कोई चाहे जितना जल भर ले जाय, किसी प्रकार की रोक नहीं है परन्तु जल तो वह ही मनुष्य ले जा सकता है जो अपने साथ जल भरने का पात्र लेकर आता है, पात्र लेकर आवे तो भी यदि पात्र में अन्य पदार्थ भरा होगा और उस पदार्थ को निकालना न चाहेगा—पात्र खाली न करेगा तो नदी के निर्मल जल को नहीं ले जा सकता, नदी पर आ कर भी उसे बिना जल ही लौटना पड़ेगा इसी प्रकार सत् पुरुषों का वाक्य—उपदेश रूप जल है, वह जल अन्तःकरण रूप पात्र में भरा जाता है। यदि कोई प्रपंच के भाव से भरे हुए अन्तःकरण में सदुपदेश भरना चाहे तो किस प्रकार भर सकता है। जो मनुष्य प्रपंच के भाव को अन्तःकरण में से निकालना नहीं चाहता, वह कथा श्रवण—सन्त संग से कुछ ले नहीं सकता,

शुद्ध अन्तःकरण वाला ही सदुपदेश को यथार्थ रीति से ग्रहण करता है।

मनुष्य को प्रथम शास्त्र विधि युक्त कर्म करने चाहिये। शुभ कर्म करने से मल दोष क्षीण होता है। जब स्थूलता की विशेषता वाले दोष-पाप शुभ कर्म करने से क्षीण होजांय तब उपासना करनी चाहिये, उपासना से विक्षेप यानी चंचलता की निवृत्ति होती है। उपासना के साथ निष्काम कर्म भी करते रहना चाहिये। जब क्रमशः उपासना में चित्त जमने लगे तब प्रथम सगुण उपासना की जाती है। पूर्व किये हुए निष्काम कर्म और सगुण उपासना से जब अन्तःकरण निर्मल-शुद्ध होजाता है तब निर्गुण उपासना होती है। निर्गुण अहंग्रह उपासना करते करते बोध की प्राप्ति होती है, यह क्रम है, इससे हरि और हर की प्रसन्नता होती है। हरि स्वरूप सगुण ब्रह्म है, जो सृष्टि का कर्ता धर्ता और आधार रूप है। हर निर्गुण ब्रह्म है जो सबकी अपेक्षा रहित है। इन दोनों में से सगुण ब्रह्म को कार्य ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म को कारण ब्रह्म कहते हैं। उपासक योग्यता के अनुसार कार्य ब्रह्म अथवा कारण ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो अधिकारी पुरुष प्रेम सहित इस मणिरत्नमाला को श्रवण करता है, कंठ करता है अथवा दूसरों को सुनाता है, उस विद्वान् को ऊपर के क्रम की आवश्यकता नहीं रहती। क्रम से कर्म, उपासना करते करते अन्तिम तत्त्व में पहुँच कर जो आनन्द प्राप्त होता है, वह ही आनन्द मणिरत्नमाला के धारण करने से प्राप्त होता है। जिस प्रकार माला कंठ में धारण की जाती है इसी प्रकार यह मणिरत्न-

माला कंठ का भूषण है। जिस प्रकार माला हृदय का हार होती है इसी प्रकार यह मणिरत्नमाला जिसके अन्तःकरण में विराजती है, वह पूर्ण श्रीमान् होजाता है, इसे अपने आद्य स्वरूप की प्राप्ति होती है। जहां किसी प्रकार का शोक-चिंता नहीं है, जिसका कोई अन्य अधिपति नहीं है, सबका नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता, जो अपने प्रकाश से ही प्रकाशता है, जो स्वयं ही आपो आप है, जिसको समझने के लिये सच्चिदानन्द आदि स्वरूप कहते हैं, ऐसा अविच्छिन्न, अखंडित, परब्रह्म स्वरूप होना मणिरत्नमाला धारण करने का फल है। आचार्य की मुमुक्षुओं पर अत्यन्त कृपा रूप यह मणिरत्नमाला रूप प्रश्नोत्तरी प्रसादी है। आचार्यश्री की संनिधि को प्राप्त होकर श्रोता वक्ता को निःश्रेयस् पद की प्राप्ति हो !

* समाप्त *
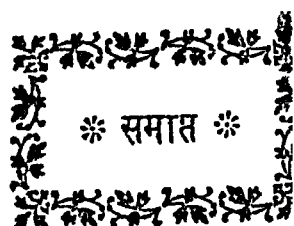
वेदान्त केसरी कार्यालय की पुस्तकें।

महा वाक्य—तत्त्वबोध को प्रत्यक्ष कराने के लिये महा वाक्य को छोड़कर अन्य कोई साधन नहीं है। ये शब्दरूप होते हुए भी शब्दातीत तत्त्व को अपने अभेद रूप से प्रत्यक्ष बोध कराने वाला है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का अनुभव भी इसमें भली प्रकार समझाया है। मूल्य रु० १)

उपनिषत् [५१]—इसमें भिन्न भिन्न प्रकार की उपासना, ज्ञान के अपूर्व अनुभव तथा योग की रहस्यमय क्रियाओं का अनुभव युक्त वर्णन है। ये उपनिषत् संस्कृत भाषा में होने से हिन्दी जानने वाले इनसे लाभ नहीं ले सकते, इसीसे वेदान्त केसरी में इनका सरल अनुवाद करके छापा जाता है। यह उसका ही संग्रह है। मूल के साथ मिलाने के लिये सुभीता रहे इस हेतु से यथा स्थान श्लोकांक भी दिये गये हैं। सुन्दर छपाई ५५० पृष्ठ की कपड़े की जिल्द का मूल्य केवल रु० २॥)

ब्रह्म सूत्र—शांकर भाष्य भाषानुवाद भाग १ (पूर्वार्ध) इसके सम्पूर्ण उपलब्ध भाष्यों में शांकर भाष्य सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है, परन्तु अब तक हिन्दी में इसका शब्दशः अनुवाद नहीं हुआ है। आशा है हिन्दी भाषा भाषी इससे पूरा लाभ उठावेंगे। मूल्य रु० ३)

पंचकोश विवेक—पंचकोश के परदे से ढपा हुआ आत्मा का स्पष्ट बोध नहीं होता; इसीसे उनको विस्तार सहित समझा कर आत्मा को दर्शा दिया है। पंचकोश का विवेक ही आत्म अनात्म विवेक है। मूल्य १)

सदाचार—श्रीमत् शंकराचार्य कृत छोटे पुस्तकों में से इसीका भी एक नाम है; इससे मुमुक्षुओं को सत्य आचार का स्पष्ट बोध होता है। मूल्य ।।।)

काया पलट नाटक—राजा, रानी और मंत्री के रूप से जीव, बुद्धि और मन का जगत् आसक्ति में फंसना और सद्गुरु के उपदेश द्वारा अज्ञान टूट कर ज्ञान भाव में आने का वर्णन है। प्रारब्ध दुःख आदि का भी वर्णन है। मूल्य ।)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न भिन्न प्रकार से समझाया है। मूल्य ।।)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १–२—वेदान्त केसरी म आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वाक्य सुधा—वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधि का वर्णन बहुत स्थान पर है परन्तु इसमें जैसा वर्णन है, वैसा सूक्ष्म वर्णन और स्थानमें कहीं नहीं मिलता। रहस्य पूर्ण विवेचनसे भली प्रकार समझाया गया है मुमुक्षुओं को अत्यन्त हितकर है। मूल्य १)

वेदान्त दीपिका—इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रंथ को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यन्त आनन्द होगा। मूल्य १॥)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य आदिके प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य मुख्य चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य ॥)

सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।